CONTRIBUTION OF WOMEN TO VEDIC CULTURE

वैदिक संस्कृति संरचना

(नारी-योगदान-विभूषित)

PROF. ILA GHOSH

वैदिक संस्कृति संरचना

(नारी–योगदान–विभूषित)

CONTRIBUTION OF WOMEN
TO
VEDIC CULTURE

[अदिति, अपाला, उमा हैमवती, उर्वशी, गार्गी, जबाला, मैत्रेयी, यमपत्नी, रोमशा, लोपामुद्रा, वागाम्भृणी, विश्ववारा आत्रेयी, शची पौलोमी, शश्वती आङ्गिरसी, श्रद्धा कामायनी, सूर्या सावित्री सदृश स्वनामधन्य विश्वविश्रुत ऋषिकाओं के महनीय अवदान से मण्डित]

CONTRIBUTION OF WOMEN TO VEDIC CULTURE

Vaidika Saṁskṛti Saṁracanā

(Nārī-Yogadāna-Vibhūṣita)

PROF. ILA GHOSH
Principal
Govt. Tilak Postgraduate College
KATNI (M.P.)

EASTERN BOOK LINKERS
DELHI : : INDIA

CONTRIBUTION OF WOMEN TO VEDIC CULTURE

EMINENT WORLD FAMOUS WOMEN CONTRIBUTORS

Aditi 1 & 2 • Agastyasvasā • Āṭikī • Apālā • Dakṣiṇā • Gārgī • Ghoṣā • Godhā • Indramātaraḥ • Indrāṇī 1. 2 • Śacī Paulomī & 3 • Jabālā • Ātreyī • Juhū • Brahmajāyā • Lākṣā • Lopāmudra • Maitreyī • Meghā • Mudgalānī • Nadyaḥ • Rātri • Romaśā • Saramā • Sārparajñī • Sikatā • Suryāsāvitrī • Śaśvatī • Śikhaṇḍinī duo • Śraddhā Kāmāyanī • Śrī. Śyundhyuva • Upaniṣad-Niṣad • Urvaśī • Vasukrapatnī • Vadhrimatī • Vāgāmbhṛṇī • Viśpalā • Viśvavārā • Yamapatnī • Yamīvaivasvatī •

वैदिक संस्कृति संरचना

(नारी-योगदान-विभूषित)

CONTRIBUTION OF WOMEN TO VEDIC CULTURE

प्रो. इला घोष

प्राचार्य

शासकीय तिलक स्नातकोत्तर महाविद्यालय

कटनी (म.प्र.)

BOOK EASTERN EBL LINKERS

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली : : भारत

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
हैड ऑफिस : 5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली-110 007
दूरभाष : 23850287, 9811232913

शोरूम : 4806/24, भरत राम रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 23285413
email : eblindology@gmail.com
ebl@vsnl.net
website : www.eblindology.com

प्रथम संस्करण : 2012

प्रकाशनाधिकार : लेखिका

मूल्य : रु. 1650.00

आई.एस.बी.एन. : 978-81-7854-233-1

वैदिक संस्कृति संरचना
(नारी-योगदान-विभूषित)
प्रो. इला घोष

मुद्रक : आर.के. प्रिंट सर्विसेस, दिल्ली

‘प्रेयस्’ से ‘श्रेयस्’ की ओर ले जाने वाली

वैदिक संस्कृति

की निर्मात्री

नारियों को

समर्पित

इला घोष

पुरोवाक्

'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'

समग्र विश्व द्वारा वरणीय वह प्रथम संस्कृति; वैदिक संस्कृति थी। आज से लगभग दस सहस्त्र वर्ष पूर्व भारतवर्ष के सप्तसिंधु प्रदेश में; आर्यों द्वारा 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' जैसे उदात्त जीवनमूल्यों पर आधारित जिस श्रेष्ठ संस्कृति का प्रवर्तन हुआ था; उसे हम वैदिक संस्कृति के नाम से जानते हैं। वैदिक संस्कृति अर्थात्–वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् जैसे वैदिक वाङ्मय के द्रष्टा एवं स्रष्टा मनीषी कवि ऋषियों द्वारा प्रवर्तित संस्कृति; जिसने समय के साथ राष्ट्र और लोक की अन्य संस्कृतियों को स्वयं में आत्मसात् करते हुये वर्तमान हिन्दू संस्कृति या भारतीय संस्कृति का रूप ले लिया। वस्तुतः भारतीय संस्कृति रूपी विशाल वट वृक्ष की जड़ें या मूल वैदिक संस्कृति ही है।

पुराणी युवती उषा के सदृश 'चिरपुराणी चिरनवीना' इस वैदिक संस्कृति की सुदीर्घ सनातनता का कारण है; इसका वह आत्मबल जिसने विषम विपरीत परिस्थितियों में भी स्वयं को संजीवित रखने की अलौकिक शक्ति एवं क्षमता प्रदान की।

ऋतजीवी, निसर्ग के प्रति दिव्य श्रद्धाभाव से सम्पन्न, यज्ञप्रधान, सर्वाङ्गीण अभ्युदय, विश्वकल्याण, विश्वबन्धुत्व एवं विश्वशान्ति पर बल देने वाली, वैविध्य में एकत्व का निदर्शन इस उदात्त संस्कृति की संरचना में समाज के अर्द्धाङ्ग स्त्रियों का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जितना कि पुरुषों का। पुरुषप्रधान भारतीय समाज व्यवस्था के अन्तर्गत रहकर भी स्त्री जाति की इस संस्कृति के निर्माण में जो महनीय भूमिका रही है, उसका समुचित मूल्यांकन ही प्रस्तुत ग्रंथ का साध्य है। इस ग्रंथ में स्वनामधन्य विश्वविश्रुत स्त्रियों के साथ ही अल्पज्ञात या अज्ञात अनामिकाओं के योगदान को भी रेखाङ्कित करने का प्रयास किया गया है; जिन्होंने अपनी प्रज्ञा, अन्तर्दृष्टि या आचरण के उत्कर्ष से वैदिक संस्कृति के संघटकों का निर्धारण करते हुये इसे राष्ट्र के योग-क्षेम की साधक एक उदात्त संस्कृति का रूप दिया था। प्रतिदिन उदित होता हुआ सूर्य जब समग्र विश्व को अपनी रश्मियों से आलोकित करता है, वायु बिना भेद भाव के सभी को प्राणवन्त करती है, पृथिवी जगत् को धारण करती है, चँदोवे के समान तना हुआ आकाश विश्व को पिता के समान संरक्षण देता है, तब हम क्यों किसी के प्रति पक्षपात या भेदभाव करें। पृथिवी की एक ही पार्थिव गंध से सुवासित हो हम सभी का जीवन सफल हो, हम किसी से द्वेष न करें–

यस्ते गन्धः पृथिवि सम्बभूव.........
तेन या सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन।

की भावना ने ही वैदिक संस्कृति को कालजयी प्रति युग में प्रासंगिक एवं सनातन संस्कृति बनाया है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'वैदिक संस्कृति की संरचना में स्त्रियों का अवदान' तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत-संस्कृति, वैदिक संस्कृति, वैदिक साहित्य, वैदिक संस्कृति की विशेषतायें एवं वैदिक संस्कृति के निर्माता, इन बिन्दुओं पर विचार किया गया है। संस्कृति का अभिधेय अर्थ हैं-'मानव जाति की शोभन सम्यक् कृति'। संस्कृति और संस्कार परस्पर सम्बद्ध हैं। संस्कृति जिस वृक्ष का फल है; संस्कार उसका मूल। जिस प्रकार कच्ची धातु को संस्कृत करने पर शुद्ध परिष्कृत धातु प्राप्त होती है; उसी प्रकार मानव जाति की स्थूल धातु से संस्कार द्वारा उत्तम मानसिक एवं आत्मिक गुण प्राप्त होते हैं, जिनसे राष्ट्रीय चरित्र और संस्कृति का निर्माण होता है।

संस्कृति निर्मात्री के रूप में वैदिक नारी के योगदान का वाचिक साक्ष्य है-हमारा वैदिक साहित्य। अमृता वाक् संस्कृत में निबद्ध वैदिक साहित्य वह वाङ्मय चक्षु है; जिसके माध्यम से हम उस पुरातन संस्कृति का आज भी साक्षात्कार कर सकते हैं।

द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत निम्नलिखित 41 स्त्रियों- रोमशा, लोपामुद्रा, नद्यः, आदिति-1, अदिति-2, विश्ववारा आत्रेयी, शश्वती, अपाला, सिकता, शिखण्डिनी, वसुक्रपत्नी, घोषा, अगस्त्यस्वसा, सूर्या, उर्वशी, दक्षिणा, सरमा, जुहू, वागाम्भृणी, रात्री, गोधा, इन्द्राणी, शचीपौलोमी, श्रद्धा, इन्द्रमातरः, यमी, सार्पराज्ञी, श्री, लाक्षा, मेधा, उपनिषद्-निषद्, शुन्ध्युव, वध्रिमती, विश्पला, मुद्गलानी, आटिकी, जबाला, यम-पत्नी, उमा हैमवती, मैत्रेयी एवं गार्गी के अवदान को उनके परिचय के साथ वर्णित किया गया है।

ब्रह्मवादिनी रोमशा ने नारी के अधिकार और सम्मान को वैदिक संस्कृति का प्रमुख अंग बनाया। लोपामुद्रा ने सृष्टि के मूल 'काम' को पुरुषार्थ के रूप में मान्यता दिलाई तो श्री ने 'अर्थ' को। सूर्या ने विवाह को एक पवित्र संस्कार एवं स्थायी संस्था का रूप देते हुये गृहस्थ आश्रम एवं परिवार के स्वरूप तथा परिवार के सदस्यों के परस्पर कर्तव्य एवं अधिकारों का निर्धारण किया। विश्ववारा ने अग्नि-पूजा तथा यज्ञधर्म को विश्वधर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया तो घोषा ने लोक कल्याण को धर्म का मूल माना। गोधा ने मंत्र एवं श्रुति के अनुसार आचरण पर बल दिया। अगस्त्यस्वसा ने राजधर्म का निरूपण किया तो सरमा ने दौत्यधर्म की मर्यादा और आदर्श को अपने आचरण से मूर्त किया। जुहू ने राष्ट्र की रक्षा के लिये छात्र तेज को

आवश्यक माना तो वागाम्भृणी ने वाक् को जन-गण की शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। नदियों ने संसार की जीवन रेखा मातृभूता नदियों एवं जल के संरक्षण का संदेश दिया। अदिति ने प्रथम महिला वैज्ञानिक एवं दार्शनिक के रूप में जगत् सृष्टि की मीमांसा की तथा अपने पुत्र मार्तण्ड को इस सृष्टि पर जीवन के लिये कर्तव्य पथ पर नियोजित किया। जुहू, श्रद्धा, दक्षिणा और जबाला ने क्रमशः तप, श्रद्धा, दान और सत्य को जीवन मूल्य के रूप में स्थापित किया। यम पत्नी ने अतिथि के प्रति कर्तव्य का निर्धारण किया तो सत्यकाम-पत्नी ने शिष्य के प्रति। शुन्ध्युव ने स्वयंवर को सामाजिक स्वीकृति दिलाई। उमा हैमवती, मैत्रेयी और गार्गी ने भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक आयाम को शिखर पर पहुँचाने का कार्य किया।

तृतीय खण्ड 'वैदिक संस्कृति के विविध आयाम' के अन्तर्गत प्राकृतिक संरचना, राजनैतिक-ऐतिहासिक वैशिष्ट्य, सामाजिक संरचना, अर्थव्यवस्था, धर्म-दर्शन, शिक्षा, विज्ञान, भाषा, साहित्य एवं जीवनमूल्य आदि संस्कृति के विविध घटकों की संरचना में वैदिक नारी के अवदान को निरूपित किया गया है।

वैदिक संस्कृति के अनुसार जीवन में जो कुछ भी शिव, शुभ, भद्र या मङ्गलमय है वही मानव मात्र के लिये श्रेयस्कर एवं वरणीय है। संस्कृति का कार्य संस्कार, परिमार्जन या परिशोधन है। अतः इन स्त्रियों ने इस द्वन्द्वात्मक जगत् में अशिव के परित्याग और शोभन के अङ्गीकार पर बल दिया है। वैदिक ब्रह्मवादिनियों के मंत्रों में 'सु' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त ऐसे असंख्य शब्द सुवासाः, सुमनाः, सुवर्चाः, सुवीर्यम्, सुपुत्रा, सुभगा, सुदिनम्, सुमतिः, स्वशनम्, सुमङ्गली, सुकृतम्, स्वस्तिः, सुभद्रम् आदि अच्छाई के प्रति उनकी उत्कट आकांक्षा एवं दृढ़ संकल्प के साक्षी हैं।

इस धरती पर एक सुन्दर सुखमय सह अस्तित्व पूर्ण जीवन को सम्भव बनाने वाली यह वैदिक संस्कृति ही आज-सांस्कृतिक संकट और जीवनमूल्यों के अवमूल्यन के दौर में विश्व वरणीय संस्कृति हो सकती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के कार्य को सम्पन्न करने की सतत ऊर्जा, उत्साह तथा बहुमूल्य सुझाव प्रो. डॉ. सुषमा कुलश्रेष्ठ, पूर्वकुलपति, श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी, उड़ीसा एवं वर्तमान निदेशिका, कालिदास एकेडेमी ऑफ़ संस्कृत म्यूज़िक एण्ड फ़ाइन आर्ट्स, दिल्ली से प्राप्त हुये। ग्रंथ के प्रकाशन में उनके अन्तरङ्ग सहयोग एवं मूल्यवान् सुझावों के लिये उनके प्रति मैं अन्तःकरण से कृतज्ञ हूँ।

यह सारस्वत साधना मेरे पति श्री स्वपन कुमार घोष के हार्दिक सहयोग के बिना कथमपि संभव नहीं थी। उनके प्रति भी मैं आभारी हूँ।

वैदिक संस्कृति के पावन प्रवाह में अवगाहन का यह एक छोटा सा प्रयत्न है। इस प्रयत्न में रह गई कमियों को दूर करने के लिये सुधीजनों के सुझाव अभिनन्दनीय हैं।

यह ग्रंथ वैदिक संस्कृति एवं नारी-शक्ति के प्रति जन-मन में सम्मान एवं प्रेम को बढ़ा सके; इस आशा के साथ,

इला घोष

21, आदित्य कॉलोनी
नर्मदा रोड, जबलपुर (म.प्र.)
श्रीकृष्णजन्माष्टमी
10 अगस्त, 2012

विषयानुक्रमणिका

पुरोवाक् ix-xii

खण्ड - 1

वैदिक संस्कृति 1–46

पृष्ठ

संस्कृति 4

वैदिक संस्कृति 5

वैदिक साहित्य 7

वैदिक संस्कृति की विशेषतायें 21

वैदिक संस्कृति के निर्माता 31

खण्ड 2

संस्कृति निर्मात्री स्त्रियाँ 47–152

1. रोमशा 49
2. लोपामुद्रा 51
3. नद्यः 54
4. अदिति 1, अदिति 2 57
5. विश्ववारा आत्रेयी 62
6. शश्वती आङ्गिरसी 66
7. अपाला आत्रेयी 68

8.	सिकता निवावरी	71
9.	शिखण्डिनी द्वय	74
10.	वसुक्रपत्नी	76
11.	घोषा काक्षीवती	78
12.	अगस्त्यस्वसा	85
13.	सूर्या सावित्री	87
14.	उर्वशी	95
15.	दक्षिणा	100
16.	सरमा	103
17.	जुहू ब्रह्मजाया	109
18.	वागाम्भृणी	112
19.	रात्री भारद्वाजी	115
20.	गोधा	117
21.	इन्द्राणी 1	118
	इन्द्राणी 2 (शची पौलोमी)	119
	इन्द्राणी 3	120
22.	श्रद्धा कामायनी	123
23.	इन्द्रमातरः	125
24.	यमी वैवस्वती	127
25.	सार्पराज्ञी	129
26.	श्री	132
27.	लाक्षा	136
28.	उपनिषद्-निषद्	137
29.	मेधा	138
30.	शुन्ध्युव	140
31.	वध्रिमती	141

32. विश्पला 141
33. मुद्गलानी 142
34. आटिकी 144
35. जबाला 145
36. यम-पत्नी 146
37. उमा हैमवती 147
38. मैत्रेयी 148
39. गार्गी वाचक्नवी 150

खण्ड - 3

वैदिक संस्कृति के विविध आयाम 153–378

1 प्राकृतिक संरचना 155
2. राजनैतिक ऐतिहासिक वैशिष्ट्य 164
3. सामाजिक संरचना 185
4. अर्थव्यवस्था 239
5. धर्म दर्शन 269
6. शिक्षा 303
7. विज्ञान 327
8. भाषा 337
9. काव्य 345
10. जीवनमूल्य 363

सन्दर्भ ग्रन्थ 379–384

* * *

वैदिक संस्कृति की विशेषताएँ

आज से लगभग 10 हज़ार वर्ष पूर्व एशिया महाद्वीप के दक्षिण में भारतवर्ष के सप्तसिन्धु प्रदेश में जन्मी विश्ववरणीय वैदिक संस्कृति की विशेषताओं का आकलन अपनी सांस्कृतिक विरासत के अभिज्ञान के लिये आवश्यक है। इसके साथ ही आवश्यक है, इस संस्कृति के स्रष्टा, त्रिकालद्रष्टा मनीषी कवि ऋषियों के उस उदात्त-दिव्य, तपःपूत दर्शन के परिज्ञान की, जिसने इस संस्कृति रूपी भव्य प्रासाद की संरचना में आधारशिला का कार्य किया। संक्षेप में वैदिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नानुसार हैं -

1. प्राचीनता एवं नवीनता

सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक प्रतिदिन आने वाली, प्राणिमात्र को जगाने वाली 'पुराणी युवती उषा' के सदृश वैदिक संस्कृति चिर पुरातन भी है और सद्यःनूतन भी। यद्यपि वेदों का काल निर्विवादित नहीं है, तथापि कम-से-कम दस सहस्र वर्ष पूर्व आविर्भूत ऋग्वेद के साथ वैदिक संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। मानव मन को रञ्जने, उसकी जीवनशैली को निर्धारित करने, उसकी आस्था और विश्वास को रूप देने, उसके व्यक्तित्व को तराशने में आज भी वैदिक संस्कृति की वही भूमिका है, जो अपने सृष्टिकाल में थी। आज भी भारतवासियों के मन में राष्ट्र की जीवनरेखा गङ्गा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, तुङ्गभद्रा, कावेरी आदि नदियों के प्रति वही पवित्र दिव्य-मातृभाव है, जो वैदिक युग में था।[1] गङ्गा और नर्मदा को आज भी भारतीय जन-मानस; 'गङ्गा मैया' और 'नर्मदा मैया' के नाम से ही जानता है। नदियों के तट पर लगने वाले मेलों, विशिष्ट तिथियों पर पवित्र स्नान के लिये उमड़ने वाले जन-समूहों, रेलयात्रा के समय नदियों को देखकर हाथ जोड़ने या पैसा चढ़ाने की प्रवृत्ति इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आज भी प्राकृतिक आपदाओं और अनिष्ट-निवारण के लिये यज्ञ किये जाते हैं। ऐसे असंख्य शब्द, जिन्हें हम अपने दैनन्दिन जीवन में व्यवहार और अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त करते हैं, वे वैदिक भाषा में ही गढ़े गए थे। न केवल पुरातन शब्द अपितु नवीन शब्दावली की रचना भी वैदिक संस्कृत के माध्यम से की जा रही है।

आज विश्व का कार्पोरेट जगत् वैदिक संस्कृति के सार 'भगवद्गीता' से प्रबन्धन के गुर सीख रहा है। इस प्रकार अति पुरातन होते हुये भी नूतन और अर्वाचीन को रचने की शक्ति वैदिक संस्कृति में है। डॉ. राधाकृष्णन् ने वैदिक संस्कृति के विषय में सत्य ही कहा है -

---

1. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। ऋग्वेद 2.41.21.

'इन वेदियों की अग्नि अभी भी खूब प्रज्ज्वलित है। देख सकने वाली आँख के लिये इनमें प्रकाश और सत्यान्वेषी के लिये इनमें एक सन्देश है।'[1]

2. दीर्घजीविता एवं सनातनता

वैदिक संस्कृति का इतिहास आज से कम-से-कम बारह हज़ार वर्ष पुराना है। विश्व की अनेक प्राचीन संस्कृतियों - मिस्र, सुमेर, रोम, यूनान और बेबीलोन की सभ्यता और संस्कृति आज लुप्तप्राय हैं; किन्तु वैदिक संस्कृति किञ्चित् परिवर्तन के साथ आज भी जीवित है। यह सुदीर्घजीवी, कालजयी, सनातन संस्कृति है। सनातनता और शाश्वतता का कारण इसकी वह आत्मिक शक्ति है, जो व्यक्तिगत सङ्कीर्णताओं से ऊपर उठकर भूमा अथवा समष्टि में ही सुख का अन्वेषण करती है-**भूमा वै सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।**

इसकी अक्षय अर्थवत्ता और अनश्वर आत्मिक शक्ति ने समस्त आपदाओं और विपदाओं में स्वयं को सञ्जीवित रखने, गिरकर पुनः उठ खड़े होने की अभूतपूर्व जिजीविषा और ऊर्जा प्रदान की है।

इसकी सनातनता और सातत्य का सबसे बड़ा प्रमाण है - समग्र भारत देश में उत्तर से दक्षिण तक , पूर्व से पश्चिम तक प्रचलित हिन्दू विवाह, जिसका विधान सूर्या के विवाहसूक्त में हुआ है तथा जिसमें अग्नि को साक्षी बनाकर कन्या वर को प्रदान की जाती है।[2] आज भी वधू विवाह के पश्चात् पतिगृह को ही जाती है।[3]

वर्तमान भारत में अभिवादन के लिये प्रयुक्त होने वाला सर्वाधिक प्रचलित शब्द है- 'नमस्ते'। इस पद का प्रयोग हम ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में विश्वामित्र-नदी सम्वाद में पाते हैं।[4]

आज भी हमारे आचार-विचार-संस्कार, पाप-पुण्य की अवधारणा, विश्वास की नाभि वैदिक संस्कृति ही है। और यही उसकी दीर्घजीविता एवं सनातनत्व का सबसे बड़ा प्रमाण है।

3. समन्वय एवं आत्मसात करने की प्रवृत्ति

वैदिक संस्कृति ने सभी प्रकार की विचार धाराओं, परिवर्तनों और परिवर्धनों को आत्मसात किया है। इसके लचीलेपन ने ही इसे टूटने या मृत होने से बचाया है। यही इसके सातत्य और विकासशीलता का

---

1. उपनिषदों का सन्देश. पृष्ठ 15
2. पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा। ऋग्वेद 10.85.39
3. (1)यदयात् सूर्या पतिम्। (2)यदयात् सूर्या गृहम्।
   (3)अनो मनस्मयं सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम्। ऋग्वेद10.85-7,10,12.
4. ऋग्वेद 3.33.8

कारण रहा है। बहुदेववाद और यज्ञ-संस्था वैदिक संस्कृति का वैशिष्ट्य है, तो ब्रह्मानन्द की उपलब्धि और जीवनमुक्ति भी इसी का अङ्ग है। यह संस्कृति सम्वाद, सहयोग और साम्मनस्य पर बल देती है। विवाद, असहयोग, वैमनस्य अथवा दौर्मनस्य पर नहीं; अतः ऋग्वेद के ऋषियों का सन्देश है -

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ॥[1]

वेदों से प्रारम्भ कर उपनिषदों तक का विकासक्रम; वैदिक संस्कृति के इस वैशिष्ट्य का प्रमुख साक्ष्य है। 'अन्नं ब्रह्मेति विजानीयात्' से 'आनन्दं ब्रह्म' तक की यात्रा समन्वयवादी प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

4. धर्म की प्रधानता

वैदिक संस्कृति धर्मप्रधान संस्कृति है। धर्म से अभिप्राय किसी Religion अथवा समुदाय से नहीं ; अपितु उन धारक तत्वों से है, जो सृष्टि-चक्र को धारण करते हैं तथा मानवीय अस्तित्व एवं अभ्युत्थान के लिये आवश्यक हैं। वेद सभी धर्मों के मूल हैं, अतः मनुस्मृति में कहा गया है-

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।[2]

ऋग्वेद में 'यज्ञ' अर्थात् दिव्य तत्वों के लिये हविष्य प्रदान को ही प्रथम धर्म माना गया है -

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।[3]

वैदिक धारणा के अनुसार मानव द्वारा प्रदान की गई हवि से देवता प्रसन्न होते हैं तथा इस धरती को वृष्टि द्वारा धन-धान्य से समृद्ध करते हैं।

वैदिक ऋषियों ने अपने तपोबल सें इन धारक धर्मों का साक्षात्कार किया था। ये धर्म थे - सत्य, बृहद् ऋत, उग्र (क्षात्र तेज), दीक्षा, तप, ब्रह्म (ज्ञान)और यज्ञ -

---

1. ऋग्वेद 10.101.2,3,4
2. मनुस्मृति 2.6
3. ऋग्वेद 10.90.16

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।[1]

मानवमात्र के लिये स्वधर्म का पालन आवश्यक माना गया था। नीति और धर्म के मार्ग पर चलते हुये अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करना ही वैदिक धर्म का लक्ष्य था।

5. ऋतजीवी संस्कृति

वैदिक संस्कृति की संरचना का मुख्य आधार है - ऋत। ऋत अर्थात् सृष्टि-व्यवस्था को गति देने वाले सञ्चालक एवं नियामक नियम। वैदिक ऋषि इस ऋत के अन्वेषक थे। उनकी दृष्टि में विश्व एक व्यवस्थित पूर्णता है, अव्यवस्था नहीं। सृष्टि अपने नियमों से सञ्चालित होती है। देवता इस ऋत के पालक और रक्षक हैं।

इस ऋत व्यवस्था के अन्तर्गत ही प्रतिदिन उदित होता हुआ सूर्य समग्र विश्व पर अपनी स्वर्णिम रश्मियों का विस्तार करता है।[2] जगत् को प्रबोधित करती हुई दिवःदुहिता उषा आती हैं। नदियाँ दिनरात बहती हैं।[3] मेघ बनते हैं और वृष्टि होती है। धरती इरावती (अन्न से पूर्ण) होती है।[4] ऋषियों ने देव-सान्निध्य से इस ऋत को जाना, समझा और मानवमात्र के लिये वे इस व्यवस्था के प्रवक्ता और उपदेष्टा हुये। वैदिक संस्कृति के प्रत्येक घटक में यही ऋत-सूत्र अनुस्यूत है।

6. उदात्त जीवनमूल्य

वैदिक संस्कृति - सत्य, तप, धी, सूनृत (सत्य-मधुर वाणी), वीर्य, ओज, परोपकार, श्रद्धा, दक्षिणा, दान, विश्वमैत्री, सौहार्द, गुरु जनों के प्रति सम्मान आदि उदात्त जीवनमूल्यों पर बल देती है। 'सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव '[5] इस संस्कृति का अनुशासन है, 'ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि।'[6] इस संस्कृति की प्रतिज्ञा, तो -

(1) तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।[7]

---

1. अथर्ववेद 12.1.1
2. (1) ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति। ऋग्वेद 10.85.1
   (2) तवेमे पृथिवि पञ्चमानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त सूर्यो रश्मिभिरातनोति। अथर्ववेद 12.1.15
3. यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति। अथर्ववेद 12.1.9
4. ऋग्वेद 5.83.4
5. तैत्तिरीय उपनिषद् 1.11.1-2
6. तैत्तिरीय उपनिषद् 1.1
7. शुक्ल यजुर्वेद 34.1

(2) मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।[1]

(3) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।[2]

इस संस्कृति की अभिलाषा।

विश्व में जो कुछ भी श्रेष्ठ, सुन्दर एवं शिव ज्ञान या कर्म है, वह हम तक पहुँचे - ऐसी अभिलाषा है, वैदिक ऋषि गोतम की -

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।[3]

7. विश्वकल्याण की भावना

केवल स्वकल्याण ही नहीं, अपितु समग्र विश्व का कल्याण वैदिक संस्कृति का अभीष्ट है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ।

के आदर्श को लेकर चलने वाली वैदिक संस्कृति एक न्यायपूर्ण समतावादी समाज-व्यवस्था में विश्वास रखती है; जिसमें सभी वर्गों द्वारा जलस्रोतों एवं भोग्य पदार्थों का मिलकर उपभोग करने एवं आत्मिक उत्थान में सहभागिता की बात कही गई है -

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यातारा
नाभिमिवाभितः ।[4]

अर्थात् जैसे अर नाभि या केन्द्र से जुड़े होते हैं, वैसे हम सभी उपासना के एक केन्द्र से जुड़ जाएँ।

सृष्टि के सभी तत्त्व मानवमात्र के लिये शमूकर, शिव और कल्याणकारी हों, न केवल पृथिवी पर निवास करने वाले प्राणी अपितु अन्तरिक्ष और जल में रहने वाले जीव भी परस्पर शम् भाव से युक्त हों, ऋषि वशिष्ठ के इन मन्त्रों में मानों विश्व-कल्याण की मूल आत्मा ही मूर्त हो उठी है -

---

1. शुक्ल यजुर्वेद 36.18
2. शुक्ल यजुर्वेद 40.2
3. ऋग्वेद 1.89.1
4. अथर्ववेद 3.30.6

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमुसन्त्वापः ॥

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥
--------- शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥[1]

यहाँ सर्वत्र 'नः' (हम सबके लिये) हैं; 'अहम्' या 'माम्' मैं और मेरे लिये नहीं।

8. प्रकृति के प्रति दिव्य श्रद्धाभाव एवं संरक्षण की भावना

वैदिक आर्यों ने निसर्ग के सभी तत्वों जल, वायु, अग्नि, सूर्य, उषा, पर्जन्य, पृथिवी, आकाश, नदी, वनस्पति आदि की देवता के रूप में कल्पना की एवं अपनी श्रद्धा और भक्ति का अर्घ्य उन्हें अर्पित किया। उनके प्रति पूज्य भाव के कारण उनके संरक्षण के प्रति भी वे सजग रहे। अथर्ववेद के ऋषि विश्व-सन्तति के लिये शुद्ध जलस्रोतों की कामना करते हैं -

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु ।[2]

तो ऐतरेय ब्राह्मण आपः (जल) को राष्ट्र की शिवतम सम्पदा के रूप में प्रतिष्ठित करता हुआ जल संरक्षण का सन्देश देता है -

इमा आपः शिवतमा इमाः सर्वस्य भेषजीः ।
इमा राष्ट्रस्य वर्धनीरिमा राष्ट्रभृतोऽमृताः ॥[3]

प्राकृतिक सम्पदा का अन्धाधुन्ध दोहन करने वाले अर्थलिप्सुओं के प्रति अथर्ववेद का सन्देश है -

भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा
यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ।[4]

यह पृथिवी धन-धान्य से सम्पन्न एक अक्षय पात्र है, किन्तु यह पात्र उन्हीं के लिये प्रकट होता है, जो उसके प्रति मातृभाव रखते हैं। साथ ही चेतावनी भी दी है -

---

1. ऋग्वेद 7.35,8,10,11
2. अथर्ववेद 12.1.30
3. ऐतरेय ब्राह्मण 8.2.3
4. अथर्ववेद 12.1.60

पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ।[1]

यह पृथिवी विश्व को तब तक धारण करेगी, जब तक विश्व द्वारा उसे धारण किया जायेगा।

9. अग्निपूजक संस्कृति

वैदिक आर्यों के लिये यज्ञ के देवता अग्नि प्रथम आराध्य हैं। वस्तुतः अग्नि की उपलब्धि मानवीय सभ्यता के प्रथम चरण की क्रान्तिकारी उपलब्धि है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण चराचर जगत् , मानव जीवन, मन और आत्मा को आलोकित करने में अग्नि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है ; क्योंकि अग्नि प्रकाश-रूप है, अमृत है, ऊर्जा-स्रोत है, परम पावन है और है- एक शुद्धतम अस्तित्व।

गहन तमस् में जीवनपथ को आलोकित करने की, सुपथ से समृद्धि की ओर ले जाने की प्रार्थनायें अग्नि देवता से ही हैं -

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् ।[2]

स्वर्णिम उषा का आगमन, पूर्व से फूटती प्रकाश की किरण ..... आलोकपुञ्ज सूर्य का द्युलोक में उदय.....पृथिवीलोक में हर घर में यज्ञवेदी में समिद्ध अग्नि की उज्ज्वल शिखाएँ .....मन्त्रोच्चार के साथ दिव्य शक्तियों का स्तवन और आवाहन.....अन्धकार पर प्रकाश की विजय का महान उत्सव .....यह है ऋग्वैदिक भारत !

वृणीध्वं हव्यवाहनम् ।[3]

'हव्यवाहन अग्नि का वरण करो', यह विश्व के लिये वैदिक संस्कृति का सन्देश है, जिसे आज भी इस भारत राष्ट्र ने अग्निसाक्षिक विवाह, दैनन्दिन पूजन एवं प्रत्येक शुभकर्म में दीप प्रज्ज्वालन के माध्यम से संरक्षित रखा है।

10. सर्वाङ्गीण अभ्युदय पर बल

यह संस्कृति मानव, समाज एवं राष्ट्र के सर्वाङ्गीण विकास पर बल देती है। पञ्च-कोशात्मक मानव के अन्नमय कोश की पुष्टि के लिये -

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् ।[4]

---

1. अथर्ववेद 12.1.27
2. शुक्ल यजुर्वेद 40.18
3. ऋग्वेद 5.28.6
4. तैत्तिरीयोपनिषद् 3.9.10

अधिक से अधिक अन्न का उत्पादन इस संस्कृति का व्रत रहा है। कृषि की समृद्धि के लिये वैदिक प्रार्थनाएँ भी इसी उद्देश्य से हैं।[1]

प्राणमय कोश के लिये यह प्राणविद्या पर बल देती है, तो मनोमय कोश के लिये शिवसङ्कल्पों पर-

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।[2]

विज्ञानमय कोश के लिये इस संस्कृति के पास नाना प्रकार की ज्ञान-विज्ञान की शाखायें और अपरा विद्या है, तो आनन्दमय कोश के लिये परा विद्या या आध्यात्म विद्या।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥[3]

मानवजीवन के क्रमिक विकास हेतु क्रमशः चार आश्रम- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास तथा पुरुषार्थ चतुष्टय - धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सर्वाङ्गीण अभ्युदय के लिये ही निर्धारित किये गये हैं। स्वस्थ, प्रसन्न कर्ममय जीवन[4] तथा इस मृत्युलोक में जन्म लेकर भी 'अमृत' हो जाना ही वैदिक संस्कृति का लक्ष्य है। और इस लक्ष्य को स्थापित किया है वैदिक ऋषियों के साथ ही हमारी ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओं ने -

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।[5]

सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज के सभी वर्गों के अभ्युत्थान के लिये प्रत्येक व्यक्ति के गुण, योग्यता और क्षमता के अनुरूप कर्मविधान अर्थात् वर्ण-व्यवस्था या जीविका के साधन इस संस्कृति का वैशिष्ट्य है। एक उन्नत आदर्श राष्ट्र की सङ्कल्पना साकार हुई है; यजुर्वेद के प्रस्तुत मन्त्र में -

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो

---

1. (1) क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व। ऋग्वेद 4.57.2
   (2) सुसस्याः कृषीस्कृधिः। शुक्ल यजुर्वेद 4.10
2. शुक्ल यजुर्वेद 34.1
3. शुक्ल यजुर्वेद 40.11
4. शुक्ल यजुर्वेद 40.2
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.3

जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फ लवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां । योगक्षेमः नः कल्पताम् ।[1]

हमारे राज्य में ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त हों, क्षत्रिय शूर, शास्त्रविद्या में निपुण, महारथी और विजयशील हों। इस देश के युवा सभा में प्रतिष्ठा पाने वाले तथा वीर हों। गौयें प्रचुर दुग्ध देने वाली, बैल भारवाही तथा अश्व तीव्र गति वाले हों। स्त्रियाँ पुर को धारण करने वाली तथा सभ्यता और संस्कृति की आधारशिला हों। हमारी इच्छानुसार मेघ वृष्टि करें। ब्रीहि, यवादि ओषधियाँ फलवती होकर परिपाक को प्राप्त करें। हमारे राष्ट्र का योग (अलब्ध लाभ)एवं क्षेम (लब्ध की रक्षा) सम्पादित हो।

यह योग-क्षेम ही प्रत्येक राष्ट्र का सनातन साध्य रहा है। व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक के सर्वाङ्गीण विकास का लक्ष्य अथर्ववेद में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है -

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह ।
राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ॥[2]

'हे मानव ! आध्यात्मिक उन्नति के द्वारा स्वयं को दिव्यलोक तक पहुँचाओ, भौतिक उन्नति करो। आर्थिक उन्नति और राष्ट्र की उन्नति करो।'

मानवमात्र का अभ्युत्थान हो; अवपतन नहीं -

उद्यानं ते पुरुष नावयानम् ।[3]

11. विविधता में एकता

वैदिक ऋषियों ने इस ब्रह्माण्ड में दृशयमान विविधता के पीछे अन्तर्निहित उस एक तत्व का अनुभव किया था; जिसकी खोज आज तक विज्ञान करता आया है। उस एक 'सत्' तत्व को स्थापित करते हुये ऋषि दीर्घतमा कहते हैं -

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।[4]

उस एक की ज्योति से ही ज्योतित है यह वैविध्यपूर्ण चराचर जगत्। वस्तुतः यह सृष्टि ज्योतिर्मय दिव्य शक्ति का ही प्रकाश है -

---

1. शुक्ल यजुर्वेद 22.22
2. अथर्ववेद 13.1.34
3. अथर्ववेद 8.1.6
4. ऋग्वेद 1.146.46

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।[1]

वैदिक ऋषियों की यह एक आध्यात्मिक ऐक्य दृष्टि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी प्रतिबिम्बित हुई है। द्युलोक को अपना पिता और पृथिवी को अपनी माता मानते हुये उन्होने समस्त विश्व के साथ आत्मीय सहोदर भाव की कामना की -

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।[2]
अमी ये सप्तरश्मयस्तत्रा मे नाभिरातता ।[3]

'(सौरमण्डल की) ये जो सात किरणें हैं, वहाँ तक मेरी नाभि का सम्बन्ध है। हे द्यावा पृथिवी ! मैं सभी के साथ प्रेममय बन्धुभाव के लिये प्रार्थना करता हूँ।'

'नाना भाषा-भाषी, नाना धर्म के लोगों के लिये यह पृथिवी एक सुख-शान्ति पूर्ण ओकस (घर) हो' यह वैदिक ऋषियों की अभिलाषा है और प्रयत्न भी -

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।[4]

प्रतिदिन उदित होता हुआ सूर्य जब पाँचों महाद्वीपों के मानवों पर अपनी रश्मियों को समान भाव से विस्तार करता है[5], तब हम क्यों भेद-भाव पूर्ण दृष्टि रखकर द्वेष करें। पृथिवी की एक ही पार्थिव गन्ध से सुवासित हम किसी के भी प्रति द्वेष-दृष्टि न रखें -

यस्ते गन्धः पृथिवि सम्बभूव......
तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ।।[6]

इन्हीं गुणों ने वैदिक संस्कृति को; कालजयी विश्ववरणीय सनातन संस्कृति बनाया है।

* * *

1. कठोपनिषद् 5.15
2. ऋग्वेद 1.146.33
3. ऋग्वेद 1.105.9
4. अथर्ववेद 12.1.45
5. अथर्ववेद 12.15
6. अथर्ववेद 12.1.23

वैदिक संस्कृति के निर्माता

समग्र विश्व को मित्र की दृष्टि से देखने वाली इस विश्वजनीन संस्कृति के निर्माता वे असंख्य ऋषिमुनि, कवि, विप्र[1], विचारक, मनीषी चिन्तक, राष्ट्रनेता और कला-सर्जक थे; जिन्होने सर्वप्रथम अपने तपोबल से संस्कृति के घटक तत्वों एवं धारक धर्मों का अपने अन्तःकरण में साक्षात्कार किया था; जिन्होने सृष्टि-व्यवस्था में अन्तर्निहित ऋतसूत्रों का अन्वेषण कर मानवीय-समाज के सञ्चालक एवं नियामक नियमों का विधान किया।

मानव जीवन के लक्ष्यों का निर्धारण कर एक 'सर्वजनहिताय सर्वजन सुखाय' आदर्श समाज व्यवस्था प्रदान करते हुये इन संस्कृति निर्माताओं ने समाज को नैतिक नियमों से अनुशासित किया था। इन्होने व्यष्टि को समष्टि का अङ्ग मानते हुये प्रकृति की दिव्य शक्तियों के प्रति कृतज्ञताबोध को विकसित करते हुये मानवीय कर्तव्यों का निर्धारण किया था। इन्हें गुणों के आधार पर 'आर्य'[2] और कर्म के आधार पर 'ऋषि' कहा गया तथा इनकी कर्मभूमि को 'आर्यावर्त'[3] की संज्ञा दी गई।

महाभारत में कहा गया है कि व्यक्ति अपने वृत्त या आचार से आर्य होता है -

वृत्तेन हि भवत्यार्यः ।[4]

वेदव्यास के अनुसार आर्य के आठ गुण हैं -

शान्तः तितिक्षुर्दान्तश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
दाता दयालुः नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः ॥

ऋग्वेद के साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि वैदिक सभ्यता का उद्‌भव सप्तसिन्धु[5] प्रदेश में हुआ

---

1. अहं....ऋषिरस्मि विप्रः ।.....अहं कविरुशना। ऋग्वेद 4.26.1
2. गुणेन ज्ञायते त्वार्यः। चाणक्यनीति 5.8
3. आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः। अमरकोश 2.1.8
4. महाभारत- उद्योगपर्व 88.52
5. (1) ऋग्वेद 3.33.1,5

   (2) चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती। ऋग्वेद 1.3.11

तथा परवर्ती युग में हिमालय से विन्ध्य तक अथवा सिन्धु- सरस्वती से गङ्गा तक विस्तृत भूभाग का 'आर्यावर्त' अर्थात् 'श्रेष्ठ पुरुषों का देश' कहा गया। यह भूमि आर्यों को देवताओं द्वारा प्रदान की गई -

अहं भूमिमददामार्याय ।[1]

अतः मनु ने इसे देवनिर्मित देश कहा है -

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥[2]

ऋग्वेद में अनेकशः यह कहा गया है कि सर्वप्रथम आर्यों को ; देवताओं द्वारा ज्ञान रूपी ज्योति प्रदान की गई -

(1) ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ।[3]

(2) अपावृणोज्योतिरार्याय ।[4]

(3) ऊरुज्योतिर्जनयन्नार्याय ।[5]

अर्थात् समग्र विश्व को श्रेष्ठ गुणसम्पन्न बनाने 'कृणवन्तो विश्वमार्यम्'[6] के लिये वेद रूपी दिव्य ज्ञान का प्रकाश इस आर्यभूमि पर ऋषियों के अन्तःकरण में अवतरित हुआ।

वैदिक संस्कृति के स्रष्टाओं के लिये वेदों मे जिस अभिधान का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है; वह है - ऋषि।

ऋषित्व की अवधारणा

वैदिक वाङ्मय, धर्म, दर्शन और संस्कृति के सन्दर्भ में ऋषियों का योगदान सर्वाधिक है। वस्तुतः ज्ञान-विज्ञान की सभी धाराओं के प्रवर्तक ऋषि ही हैं। अतः ज्ञानपथ के निर्माता हमारे पूर्वज ऋषियों के ऋण को स्वीकार करते हुये अथर्ववेद में कहा गया है -

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ।

---

1. ऋग्वेद 4.26.2
2. मनुस्मृति 2.17
3. ऋग्वेद 1.117.21
4. ऋग्वेद 2.11.18
5. ऋग्वेद 7.5.6
6. ऋग्वेद 9.63.5

ऋषि देव और मानव के मध्य वह जीवन्त माध्यम हैं, जो दिव्यज्ञान को मानव तक लाते हैं तथा मानव को उस दिव्य तक पहुँचने का मार्ग बताते है। ऋषियों को देवकृपा, देवसान्निध्य तथा देवसख्य प्राप्त करने वाला कहा गया है। इस सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को; सृष्टि व्यवस्था के सञ्चालक नियमों को; जिसकी संज्ञा 'ऋत' है, ऋषियों ने अपने तपोबल से जाना अत: इन्हें 'ऋतसाप', 'ऋतवान्' और 'ऋतावृध' कहा गया है।[1]

ऋषि 'तपोजा' (तप से जन्म लेने वाले) हैं और तप ही इनका धर्म है।[2] प्राय: ऋषियों के लिए भी उन्हीं विशेषणों का प्रयोग हुआ है, जो अग्नि आदि देवताओं के लिए। इन्हें विदु:, विप्र:, कवि, मनीषी, मेधावी, विद्वान् , अमृत आदि विशेषणों से अलंकृत किया गया है।[3]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक युग में 'ऋषित्व' एक विशिष्ट पद था, जो केवल मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रकर्ता को ही प्राप्त था। यह अभिधान वंशपरम्परागत नहीं था। शौनक के बृहद्देवता में राजा रथवीति और श्यावाश्व की कथा इसका प्रमाण है। राजा रथवीति ने अपनी पुत्री का विवाह तब तक अत्रिपुत्र श्यावाश्व से नहीं किया; जब तक उन्होने मन्त्रद्रष्टा होकर ऋषित्व प्राप्त नहीं किया था। राजा की महिषी का निर्णय था कि अनृषि (जो ऋषि नहीं है, वह) उनका जामाता नहीं बन सकता -

अनृषिर्नैव जामाता कच्चिद्भवितुमर्हति ।[4]

मन्त्रद्रष्टा ऋषि को वेद का पिता तथा उसकी पत्नी को वेदमाता माना जाता था ; अत: ऋषि को कन्या प्रदान करना राजा-महाराजाओं के लिए भी गौरवपूर्ण समझा जाता था -

ऋषये दीयतां कन्या वेदस्याम्बा भवेत्तथा ।
ऋषिं मन्त्रदृशं वेदपितरं मन्यते यत: ।।[5]

ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे या प्रणेता ?

इस विषय में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं। प्रथम पारम्परिक विचारधारा - जो वेदों को अपौरुषेय और ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा मानती है। तदनुसार 'ऋषि' शब्द का निर्वचन दो प्रकार से किया गया

---

1. ऋग्वेद 1.179.2 ; 10.33.8 ; 10.154.4
2. ऋग्वेद 10.154.5
3. ऋग्वेद 1.72 .10, 1.76.5, 1.78.5
4. बृहद्देवता 5.78
5. बृहद्देवता 5.58

है, प्रथम - दर्शनार्थक 'दृश्' धातु से। निरुक्तकारों के मत में - ऋषि वे हैं, जिन्होने तपोबल से समाधि दशा में मन्त्रों का दर्शन किया है-

ऋषिः दर्शनात् , स्तोमान् ददर्श इति औपमन्यवः ।[1]

ऋषियों ने 'ऋत' का, सृष्टि के धारक 'धर्म' का साक्षात्कार अर्थात् प्रातिभ चक्षु से अवलोकन किया था; अतः यास्क कहते हैं -

साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूव ।[2]

शौनक ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही मानते हैं ।[3] आचार्य सायण भी 'ऋषि' शब्द को इसी अर्थ में परिभाषित करते हैं -

ऋषिरतीन्द्रियद्रष्टा ।[4] ऋषिः सूक्तद्रष्टा ।[5]

सायणाचार्य द्वारा 'ऋषिमना', 'ऋषिकृत' आदि वैदिक पदों की व्याख्यायें भी इसी दर्शन अर्थ में क्रमशः 'सर्वदर्शनशीलमनस्कः', 'सर्वस्य दर्शनकर्ता ' आदि के रूप में की गई हैं ।[6]

'ऋषि' शब्द का द्वितीय निर्वचन गत्यर्थक 'ऋष्' धातु से किया गया है। तदनुसार तपस्यारत इन ऋषियों के समीप ब्रह्म (वेद मन्त्र) स्वयं पहुँचे (थे)-

एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तद् ऋषीणाम् ऋषीत्वम् ।[7]

महर्षि अरविन्द ने इसे ईश्वरीय वाणी कहा है; जो इनके अन्तःकरण में प्रविष्ट हुई थी। स्वयं ऋग्वेद में ही मन्त्रों के दर्शन या दिव्य वाणी के इन तक पहुँचने के सम्बन्ध में कई सन्दर्भ प्राप्त होते हैं -

यज्ञेन वाचः पदवीमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।[8]

---

1. निरुक्त 2.3.11
2. निरुक्त 1.6.20
3. मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा - बृहद्देवता 1.1
4. सायण भाष्य ऋग्वेद 9.87.3
5. सायणभाष्य ऋग्वेद 9.113.2
6. सायण भाष्य ऋग्वेद 9.96.18
7. निरुक्त 2.3.11
8. ऋग्वेद 10.71.3

अर्थात् बुद्धिमान लोग यज्ञ द्वारा वाणी के उस मार्ग को पा लेते हैं, जो ऋषियों के अन्त:करण में प्रविष्ट हुई थी।

वशिष्ठ ने सूर्य के समान प्रकाशमान, समुद्र के समान गम्भीर और वायु के समान अनतिक्रमणीय स्तोमों को वरुण की कृपा से देखा, सुना और जाना था।

1. आधान्वस्य संदृशं जगन्वान्।
2. उवाच में वरुणो मेधिराय।
3. सर्वां इत्ताँ अनुविदुर्वसिष्ठाः।[1]

ये मन्त्र अपौरुषेय या दिव्य ज्ञान के ऋषिकृत दर्शन, श्रवण और अवबोधन को प्रमाणित करते हैं। इसी प्रकार अत्रिपुत्रों ने भी मित्र और वरुण के दिव्य रूप का दर्शन किया था -

देवानां श्रेष्ठां वपुषामपश्यम्।[2]

द्वितीय विचारधारा ऋषियों को मन्त्र के कर्ता या प्रणेता के रूप में देखती है। ऋग्वेद में भी अनेकशः ऋषियों को 'मन्त्रकृत', 'कवि' तथा उनके स्तोम को 'काव्य' कहा गया है। वशिष्ठ कहते हैं कि उन्होने वज्रधारी इन्द्र के लिए नवीन मन्त्र बनाया है -[3]

1. इदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः।
2. ब्रह्म इन्द्राय वज्रिणे अकारि।[4]

स्तोत्र रचना की प्रक्रिया बहुधा तक्षण शिल्प से उपमित भी हुई है।[5] ऋषियों को 'स्तोमतष्टा'[6] और 'कारु'[7] कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि कर्ता या मन्त्रप्रणेता भी थे। यद्यपि सायणाचार्य इस मन्त्रकर्तृत्व का खण्डन करते हुये कहते हैं -

---

1. ऋग्वेद 7.88.2, 7.87.4
2. ऋग्वेद 5.62.1
3. ऋग्वेद 9.8.3, ऋग्वेद 10.154.5, अथर्ववेद- मन्त्राः कविशस्ताः 18.1.60
4. ऋग्वेद 7.35.4, ऋग्वेद 7.96.9
5. ऋग्वेद 10.15.9
6. ऋग्वेद 10.168.10
7. ऋग्वेद 10.39.14

1. यद्यपि अपौरुषेये वेदे कर्तारो न सन्ति, तथापि कल्पादौ विश्वेश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृदित्युच्यते ।[1]

2. ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत । करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः ।

'कृ' धातु यहाँ दर्शनार्थक है। कल्प के प्रारम्भ में परमेश्वर की कृपा से मन्त्र को पाने वाले ऋषियों को ही 'मन्त्रकृत' कहा गया है। वस्तुत: अपौरुषेय वेद का कोई कर्ता नहीं है।

यहाँ मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए कहा जा सकता है कि वशिष्ठ, अङ्गिरा, विश्वामित्र, कण्व, गृत्समद, विश्ववरा, अपाला आदि महान ऋषियों ने तपोबल से दिव्य ज्ञान का साक्षात्कार अर्थात् दर्शन या श्रवण किया था, जिसकी यथावत् अभिव्यक्ति मन्त्रों के रूप में हुई थी। मन्त्र बुद्धिपूर्वक रचे नहीं गये थे; किन्तु परवर्ती युग के कुछ अर्वाचीन मन्त्र ऐसे भी थे, जिन्हें तराशकर अभिव्यक्ति दी गई थी; जिसमें द्रष्टा ऋषि मन्त्र का प्रणेता भी बन गया था।

ऋषि-परम्परा

ऋग्वेद में सङ्कलित मन्त्र नाना ऋषिकुलों से सम्बद्ध हैं, जिनमें से कुछ अत्यन्त प्राचीन हैं और कुछ अर्वाचीन भी। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में ही इसका स्पष्ट सङ्केत है -

अग्निःपूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।[2]

(अग्नि देवता की पूर्व ऋषियों ने स्तुति की है और नवीन ऋषियों ने भी।)

सायण के अनुसार यहाँ पूर्व से अभिप्राय भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषियों से है तथा नवीन से अभिप्राय विश्वामित्र, मधुच्छन्दा आदि से। पुरातन ऋषियों का उल्लेख ऋषि लोपामुद्रा, यमी, वैवस्वती आदि ने भी किया है-

ये चित् पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।[3]

ऋग्वेद के वंशमण्डल कई पीढ़ियों तक चलने वाली ऋषि-परम्परा का ही प्रमाण हैं। वस्तुतः ऋग्वेद प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियों की अनेक सहस्राब्दियों की साक्षात्कारात्मक अनुभूतियों का सङ्कलन है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वैदिक युग में मन्त्रद्रष्टा ही 'ऋषि' पद के अधिकारी होते थे। परवर्ती युग में भी उन्हें ही 'ऋषि' कहा गया, जिन्होने ज्ञान की किसी न किसी शाखा का प्रवर्तन किया; भले ही वे मन्त्रद्रष्टा

1. तैत्तिरीय आरण्यक भाष्य 4.11, ऐतरेय ब्राह्मण भाष्य 6.1
2. ऋग्वेद 1.1.2
3. ऋग्वेद 10.154.4

नहीं थे। परवर्ती युग को यह दिव्य ज्ञान श्रुति या श्रवण परम्परा से प्राप्त हुआ। ऐसे 'श्रुतर्षियों' की ओर सङ्केत करते हुए यास्क कहते हैं -

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृतधर्मेभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।[1]

पुरातन काल में धर्म का साक्षात्कार करने वाले श्रेष्ठ ऋषि हुए थे। इन ऋषियों ने धर्म का साक्षात्कार न करने वाले अवर ऋषियों को उपदेश के माध्यम से मन्त्र प्रदान किये थे।

स्त्री ऋषि

तप, प्रतिभा, मेधा और अन्तर्दृष्टि आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं; अतः ये दिव्य गुण स्त्री और पुरुष का भेद नहीं करते। भेद सामाजिक व्यवस्थाओं, परिवेश और नियमों में होता है। यही कारण है कि मन्त्रद्रष्टा पुरुष ऋषियों के समान स्त्री-ऋषि भी हुई हैं; भले ही यह संख्या पुरुष ऋषियों की तुलना में अत्यल्प है।

शौनक ने स्त्री ऋषियों को 'मुनि', 'ब्रह्मवादिनी' और 'ऋषि' कहा है।[2] सायण इन्हें 'ऋषि', 'द्रष्ट्री' (मन्त्रों का दर्शन करने वाली) और 'ब्रह्मवादिनी' कहते हैं।[3] 'ऋषिका' पद का प्रयोग दशम मण्डल की कुछ स्त्री ऋषियों के लिए ही हुआ है।[4]

स्त्री ऋषियों के सम्बन्ध में ऋषित्व की वही अवधारणा है, जो पुरुष ऋषियों के सम्बन्ध में है। इन स्त्री ऋषियों ने भी तपोबल से मन्त्रों का साक्षात्कार कर 'ऋषि' पद को प्राप्त किया था। विश्ववारा,

---

1. निरुक्त 1.6.20
2. (1) पौलोमी शची नाम मुनिः स्मृतः। आर्षानुक्रमणी 10.82
   (2) रात्रि सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः। बृहद्देवता 2.84
   (3) उत्तमस्य तु वर्गस्य य ऋषिः सैव देवता। बृहद्देवता 2.86
3. (1) अत्रिगोत्रोत्पन्ना विश्ववारा नामिकास्य सूक्तस्य ऋषिः। ऋग्वेद 5.28
   (2) शिखण्डिन्याख्ये....द्वौ....सूक्तस्य द्रष्ट्यौ। ऋग्वेद 9.104
   (3) सप्तम्या रोमशा नाम ब्रह्मवादिनी। ऋग्वेद 1.126
   (4) घोषा नाम ब्रह्मवादिनी ऋषिः। ऋग्वेद 10.39
4. (1) कामगोत्रजा श्रद्धा नाम ऋषिका। ऋग्वेद 10.151
   (2) सार्पराज्ञी नाम ऋषिका। ऋग्वेद 10.189, सायण भाष्य

अपाला, घोषा, जुहू, वागाम्भृणी, अदिति आदि के सूक्तों में भी चिन्तन और दर्शन की वह प्रौढ़ता परिलक्षित होती है, जो अत्रि, विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि ऋषियों के सूक्तों में है।

इनके लिए प्रयुक्त द्वितीय अभिधान है - 'ब्रह्मवादिनी'। प्रथम अभिधान - 'ऋषि' मन्त्रदर्शन की प्रक्रिया पर बल देता है, तो द्वितीय अभिधान मन्त्र के प्रतिपाद्य और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर।

'यस्य वाक्यं स ऋषिः'- ऋषि की इस दूसरी परिभाषा को भी यह अभिधान पुष्ट करता है। 'ब्रह्मवादिनी' एक समस्त पद है, जिसका अर्थ है - ब्रह्म को या ब्रह्म के विषय में बोलने वाली स्त्री।

'ब्रह्म' शब्द कोश ग्रन्थों में कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है - अन्न[1], धन[2], वेद, वेदमन्त्र, तप, ब्राह्मण की शक्ति, परम सत्य, निर्गुणनिराकार परमात्मा आदि इसके अर्थ हैं।[3]

ऋग्वेद में 'ब्रह्म' पद का प्रयोग मन्त्र या स्तोत्र के लिए अनेकशः हुआ है -

अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षुः।[4]
ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भि.....हुवे।[5]

उपनिषदों में यह परम सत्य या परम सत्ता का वाचक है। 'ब्रह्म' शब्द बढ़ना अर्थ वाली 'बृंह' धातु से निष्पन्न है अर्थात् 'ब्रह्म' वह है, जिसमें स्वयं बढ़ने एवं अन्य को बढ़ाने की शक्ति निहित है।

ब्रह्म परिबृढः सर्वतः।[6]

इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार दो प्रकार से मन्त्रों की 'ब्रह्म' संज्ञा होती है। प्रथम - मन्त्र की स्तुतियों से देवताओं के बल और आनन्द में वृद्धि होती है[7], द्वितीय - ये स्तुतिपरक मन्त्र श्रोता या वक्ता को भी धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्रादि से बढ़ाते हैं।[8]

---

1. ब्रह्म प्रजावदाभर। ऋग्वेद 16.226, निघण्टु 2.7
2. निघण्टु 2.8
3. आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश, पृष्ठ 721
4. ऋग्वेद 10.80.7, ऋग्वेद 7.96.9
5. ऋग्वेद 6.45.7
6. निरुक्त 1.3.8
7. (1) इन्द्रो मदाय बवृधे शवसे वृत्रहा नृभिः। ऋग्वेद 1.81.1
   (2) ब्रह्मा चकार वर्धनम्। ऋग्वेद 1.80.1
8. ऋग्वेद 6.45.6,7,8,30

ऋग्वैदिक मन्त्र ऋषियों के तपोजन्य ज्ञान की अभिव्यक्ति हैं। जीवन और जगत् का साक्षात्कार जिस रूप में हुआ है; उसी रूप में सत्य की सहज अकृत्रिम निश्च्छल प्रस्तुति इन मन्त्रों में हुई है। यह सत्य इस लोक का भी हो सकता है और परलोक का भी। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के सत्य ही इसकी परिधि में आते हैं। इस 'सत्य-ब्रह्म' या 'मन्त्र-ब्रह्म' की वक्ता ऋषि ही यहाँ 'ब्रह्मवादिनी' कही गई है; अतः परम ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अनुभूति करने वाली वागाम्भृणी ब्रह्मवादिनी हैं, तो अस्मिता की तलाश करती हुई रोमशा और सौभाग्य के अभिमान से भरी हुई इन्द्राणी भी 'ब्रह्मवादिनी' कही गई हैं।

ब्रह्मवादिनी की इस ऋग्वैदिक अवधारणा के साथ ही स्त्री ऋषियों के अवदान और उनके जीवनदर्शन का यथार्थ मूल्याङ्कन सम्भव है।

सूक्त और मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों का परिचय अनुक्रमणी ग्रन्थों में मिलता है। शौनक की 'आर्षानुक्रमणी' और 'बृहद्देवता' में ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त और मन्त्रों के ऋषियों का अनुक्रम तो मिलता ही है; इसके साथ ही तीन संग्रह श्लोकों के माध्यम से 27 स्त्री ऋषियों का एकत्र परिगणन भी किया गया है। तदनुसार ब्रह्मवादिनी ऋषियों के नाम इस प्रकार हैं -

घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, उपनिषत्, निषत्, ब्रह्मजाया जुहू, अगस्त्यस्वसा, इन्द्राणी, इन्द्रमाता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, नदियाँ, यमी, शश्वती, श्री, लाक्षा, सार्पराज्ञी, वाक्, श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्री एवं सूर्यासावित्री।[1]

बृहद्देवताकार का यह सन्दर्भ वैदिक संस्कृति की निर्माता स्त्रियों के परिज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस सूची में खिल सूक्त की मेधा, श्री, लाक्षा आदि ऋषियों को भी सम्मिलित किया गया है। यद्यपि इस सूची में सिकता-निवावरी, शिखण्डिनीद्वय, वसुक्रपत्नी आदि ऋषियों का परिगणन नहीं है, फिर भी 27 स्त्री ऋषियों की एकत्र सूची प्रस्तुत करने वाला यह एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ है।

ऋग्वेद के मण्डलक्रम से ब्रह्मवादिनी ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्रों एवं सूक्तों का विवरण इस प्रकार है -

मण्डल	सूक्त	मन्त्र	ऋषि	कुलमन्त्र
प्रथम	126	7वाँ	रोमशा	01
	179	1-2	लोपामुद्रा	02
द्वितीय	---	---	----	--

1. बृहद्देवता 2.82-86

तृतीय	33	4,6,8,10	नद्यः (नदियाँ)	04
चतुर्थ	18	4 (उत्तरार्ध) 5.6.7	अदिति	3.5
पञ्चम	28	1-6	विश्ववारा आत्रेयी	06
षष्ठ	--	---	----	--
सप्तम	--	---	----	--
अष्टम	1	34वाँ	शश्वती आङ्गिरसी	01
	91	1-7	अपाला आत्रेयी	07
नवम	86	11-20	सिकता निवावरी	10
मण्डल	**सूक्त**	**मन्त्र**	**ऋषि**	**कुल**
104	1-6	शिखण्डिनी द्वय	06	
दशम	10	1,3,5-7,9,11,13	यमी वैवस्वती	08
	28	1	वसुक्रपत्नी	01
	39	1-14	घोषा काक्षीवती	14
	40	1-14	घोषा काक्षीवती	14
	60	6वाँ	अगस्त्यस्वसा	01
	72	1-9	अदिति दाक्षायिणी	09
	85	1-47	सूर्या सावित्री	47
	86	2-6,9-10,15,16,18	इन्द्राणी	10
	95	2,4,5,7,11,13, 15,16,18	उर्वशी	09
	107	1-11	दक्षिणा	11
	108	2,4,6,8,10,11	सरमा	06

वैदिक संस्कृति की विशेषताएँ

आज से लगभग 10 हज़ार वर्ष पूर्व एशिया महाद्वीप के दक्षिण में भारतवर्ष के सप्तसिन्धु प्रदेश में जन्मी विश्ववरणीय वैदिक संस्कृति की विशेषताओं का आकलन अपनी सांस्कृतिक विरासत के अभिज्ञान के लिये आवश्यक है। इसके साथ ही आवश्यक है, इस संस्कृति के स्रष्टा, त्रिकालद्रष्टा मनीषी कवि ऋषियों के उस उदात्त-दिव्य, तपःपूत दर्शन के परिज्ञान की, जिसने इस संस्कृति रूपी भव्य प्रासाद की संरचना में आधारशिला का कार्य किया। संक्षेप में वैदिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नानुसार हैं -

1. प्राचीनता एवं नवीनता

सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक प्रतिदिन आने वाली, प्राणिमात्र को जगाने वाली 'पुराणी युवती उषा' के सदृश वैदिक संस्कृति चिर पुरातन भी है और सद्यःनूतन भी। यद्यपि वेदों का काल निर्विवादित नहीं है, तथापि कम-से-कम दस सहस्र वर्ष पूर्व आविर्भूत ऋग्वेद के साथ वैदिक संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। मानव मन को रञ्जने, उसकी जीवनशैली को निर्धारित करने, उसकी आस्था और विश्वास को रूप देने, उसके व्यक्तित्व को तराशने में आज भी वैदिक संस्कृति की वही भूमिका है, जो अपने सृष्टिकाल में थी। आज भी भारतवासियों के मन में राष्ट्र की जीवनरेखा गङ्गा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, तुङ्गभद्रा, कावेरी आदि नदियों के प्रति वही पवित्र दिव्य-मातृभाव है, जो वैदिक युग में था।[1] गङ्गा और नर्मदा को आज भी भारतीय जन-मानस; 'गङ्गा मैया' और 'नर्मदा मैया' के नाम से ही जानता है। नदियों के तट पर लगने वाले मेलों, विशिष्ट तिथियों पर पवित्र स्नान के लिये उमड़ने वाले जन-समूहों, रेलयात्रा के समय नदियों को देखकर हाथ जोड़ने या पैसा चढ़ाने की प्रवृत्ति इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आज भी प्राकृतिक आपदाओं और अनिष्ट-निवारण के लिये यज्ञ किये जाते हैं। ऐसे असंख्य शब्द, जिन्हें हम अपने दैनन्दिन जीवन में व्यवहार और अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त करते हैं, वे वैदिक भाषा में ही गढ़े गए थे। न केवल पुरातन शब्द अपितु नवीन शब्दावली की रचना भी वैदिक संस्कृत के माध्यम से की जा रही है।

आज विश्व का कार्पोरेट जगत् वैदिक संस्कृति के सार 'भगवद्गीता' से प्रबन्धन के गुर सीख रहा है। इस प्रकार अति पुरातन होते हुये भी नूतन और अर्वाचीन को रचने की शक्ति वैदिक संस्कृति में है। डॉ. राधाकृष्णन् ने वैदिक संस्कृति के विषय में सत्य ही कहा है -

---

1. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। ऋग्वेद 2.41.21.

'इन वेदियों की अग्नि अभी भी खूब प्रज्ज्वलित है। देख सकने वाली आँख के लिये इनमें प्रकाश और सत्यान्वेषी के लिये इनमें एक सन्देश है।'[1]

2. दीर्घजीविता एवं सनातनता

वैदिक संस्कृति का इतिहास आज से कम-से-कम बारह हज़ार वर्ष पुराना है। विश्व की अनेक प्राचीन संस्कृतियों - मिस्र, सुमेर, रोम, यूनान और बेबीलोन की सभ्यता और संस्कृति आज लुप्तप्राय हैं; किन्तु वैदिक संस्कृति किञ्चित् परिवर्तन के साथ आज भी जीवित है। यह सुदीर्घजीवी, कालजयी, सनातन संस्कृति है। सनातनता और शाश्वतता का कारण इसकी वह आत्मिक शक्ति है, जो व्यक्तिगत सङ्कीर्णताओं से ऊपर उठकर भूमा अथवा समष्टि में ही सुख का अन्वेषण करती है-**भूमा वै सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।**

इसकी अक्षय अर्थवत्ता और अनश्वर आत्मिक शक्ति ने समस्त आपदाओं और विपदाओं में स्वयं को सञ्जीवित रखने, गिरकर पुनः उठ खड़े होने की अभूतपूर्व जिजीविषा और ऊर्जा प्रदान की है।

इसकी सनातनता और सातत्य का सबसे बड़ा प्रमाण है - समग्र भारत देश में उत्तर से दक्षिण तक, पूर्व से पश्चिम तक प्रचलित हिन्दू विवाह, जिसका विधान सूर्या के विवाहसूक्त में हुआ है तथा जिसमें अग्नि को साक्षी बनाकर कन्या वर को प्रदान की जाती है।[2] आज भी वधू विवाह के पश्चात् पतिगृह को ही जाती है।[3]

वर्तमान भारत में अभिवादन के लिये प्रयुक्त होने वाला सर्वाधिक प्रचलित शब्द है- 'नमस्ते'। इस पद का प्रयोग हम ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में विश्वामित्र-नदी सम्वाद में पाते हैं।[4]

आज भी हमारे आचार-विचार-संस्कार, पाप-पुण्य की अवधारणा, विश्वास की नाभि वैदिक संस्कृति ही है। और यही उसकी दीर्घजीविता एवं सनातनत्व का सबसे बड़ा प्रमाण है।

3. समन्वय एवं आत्मसात करने की प्रवृत्ति

वैदिक संस्कृति ने सभी प्रकार की विचार धाराओं, परिवर्तनों और परिवर्धनों को आत्मसात किया है। इसके लचीलेपन ने ही इसे टूटने या मृत होने से बचाया है। यही इसके सातत्य और विकासशीलता का

---

1. उपनिषदों का सन्देश. पृष्ठ 15
2. पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा। ऋग्वेद 10.85.39
3. (1)यदयात् सूर्या पतिम्। (2)यदयात् सूर्या गृहम्।
   (3)अनो मनस्मयं सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम्। ऋग्वेद10.85-7,10,12.
4. ऋग्वेद 3.33.8

कारण रहा है। बहुदेववाद और यज्ञ-संस्था वैदिक संस्कृति का वैशिष्ट्य है, तो ब्रह्मानन्द की उपलब्धि और जीवनमुक्ति भी इसी का अङ्ग है। यह संस्कृति सम्वाद, सहयोग और साम्मनस्य पर बल देती है। विवाद, असहयोग, वैमनस्य अथवा दौर्मनस्य पर नहीं; अतः ऋग्वेद के ऋषियों का सन्देश है -

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः॥[1]

वेदों से प्रारम्भ कर उपनिषदों तक का विकासक्रम; वैदिक संस्कृति के इस वैशिष्ट्य का प्रमुख साक्ष्य है। 'अन्नं ब्रह्मेति विजानीयात्' से 'आनन्दं ब्रह्म' तक की यात्रा समन्वयवादी प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

4. धर्म की प्रधानता

वैदिक संस्कृति धर्मप्रधान संस्कृति है। धर्म से अभिप्राय किसी Religion अथवा समुदाय से नहीं; अपितु उन धारक तत्वों से है, जो सृष्टि-चक्र को धारण करते हैं तथा मानवीय अस्तित्व एवं अभ्युत्थान के लिये आवश्यक हैं। वेद सभी धर्मों के मूल हैं, अतः मनुस्मृति में कहा गया है-

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।[2]

ऋग्वेद में 'यज्ञ' अर्थात् दिव्य तत्वों के लिये हविष्य प्रदान को ही प्रथम धर्म माना गया है -

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।[3]

वैदिक धारणा के अनुसार मानव द्वारा प्रदान की गई हवि से देवता प्रसन्न होते हैं तथा इस धरती को वृष्टि द्वारा धन-धान्य से समृद्ध करते हैं।

वैदिक ऋषियों ने अपने तपोबल सें इन धारक धर्मों का साक्षात्कार किया था। ये धर्म थे - सत्य, बृहद् ऋत, उग्र (क्षात्र तेज), दीक्षा, तप, ब्रह्म (ज्ञान)और यज्ञ -

---

1. ऋग्वेद 10.101.2,3,4
2. मनुस्मृति 2.6
3. ऋग्वेद 10.90.16

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।[1]

मानवमात्र के लिये स्वधर्म का पालन आवश्यक माना गया था। नीति और धर्म के मार्ग पर चलते हुये अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करना ही वैदिक धर्म का लक्ष्य था।

5. ऋतजीवी संस्कृति

वैदिक संस्कृति की संरचना का मुख्य आधार है - ऋत। ऋत अर्थात् सृष्टि-व्यवस्था को गति देने वाले सञ्चालक एवं नियामक नियम। वैदिक ऋषि इस ऋत के अन्वेषक थे। उनकी दृष्टि में विश्व एक व्यवस्थित पूर्णता है, अव्यवस्था नहीं। सृष्टि अपने नियमों से सञ्चालित होती है। देवता इस ऋत के पालक और रक्षक हैं।

इस ऋत व्यवस्था के अन्तर्गत ही प्रतिदिन उदित होता हुआ सूर्य समग्र विश्व पर अपनी स्वर्णिम रश्मियों का विस्तार करता है।[2] जगत् को प्रबोधित करती हुई दिवःदुहिता उषा आती हैं। नदियाँ दिनरात बहती हैं।[3] मेघ बनते हैं और वृष्टि होती है। धरती इरावती (अन्न से पूर्ण) होती है।[4] ऋषियों ने देव-सान्निध्य से इस ऋत को जाना, समझा और मानवमात्र के लिये वे इस व्यवस्था के प्रवक्ता और उपदेष्टा हुये। वैदिक संस्कृति के प्रत्येक घटक में यही ऋत-सूत्र अनुस्यूत है।

6. उदात्त जीवनमूल्य

वैदिक संस्कृति - सत्य, तप, धी, सूनृत (सत्य-मधुर वाणी),वीर्य, ओज, परोपकार, श्रद्धा, दक्षिणा, दान, विश्वमैत्री, सौहार्द, गुरु जनों के प्रति सम्मान आदि उदात्त जीवनमूल्यों पर बल देती है। 'सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव '[5] इस संस्कृति का अनुशासन है, 'ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि।'[6] इस संस्कृति की प्रतिज्ञा, तो -

(1) तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।[7]

---

1. अथर्ववेद 12.1.1
2. (1) ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति। ऋग्वेद 10.85.1
   (2)तवेमे पृथिवि पञ्चमानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त सूर्यो रश्मिभिरातनोति। अथर्ववेद 12.1.15
3. यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति। अथर्ववेद 12.1.9
4. ऋग्वेद 5.83.4
5. तैत्तिरीय उपनिषद् 1.11.1-2
6. तैत्तिरीय उपनिषद् 1.1
7. शुक्ल यजुर्वेद 34.1

(2) मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।[1]

(3) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।[2]

इस संस्कृति की अभिलाषा।

विश्व में जो कुछ भी श्रेष्ठ, सुन्दर एवं शिव ज्ञान या कर्म है, वह हम तक पहुँचे - ऐसी अभिलाषा है, वैदिक ऋषि गोतम की -

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।[3]

7. विश्वकल्याण की भावना

केवल स्वकल्याण ही नहीं, अपितु समग्र विश्व का कल्याण वैदिक संस्कृति का अभीष्ट है।

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ।**

के आदर्श को लेकर चलने वाली वैदिक संस्कृति एक न्यायपूर्ण समतावादी समाज-व्यवस्था में विश्वास रखती है; जिसमें सभी वर्गों द्वारा जलस्रोतों एवं भोग्य पदार्थों का मिलकर उपभोग करने एवं आत्मिक उत्थान में सहभागिता की बात कही गई है -

**समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यातारा
नाभिमिवाभितः ।[4]**

अर्थात् जैसे अर नाभि या केन्द्र से जुड़े होते हैं, वैसे हम सभी उपासना के एक केन्द्र से जुड़ जाएँ।

सृष्टि के सभी तत्त्व मानवमात्र के लिये शमूकर, शिव और कल्याणकारी हों, न केवल पृथिवी पर निवास करने वाले प्राणी अपितु अन्तरिक्ष और जल में रहने वाले जीव भी परस्पर शम् भाव से युक्त हों, ऋषि वशिष्ठ के इन मन्त्रों में मानों विश्व-कल्याण की मूल आत्मा ही मूर्त हो उठी है -

---

1. शुक्ल यजुर्वेद 36.18
2. शुक्ल यजुर्वेद 40.2
3. ऋग्वेद 1.89.1
4. अथर्ववेद 3.30.6

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमुसन्त्वापः ॥

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥
--------- शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥[1]

यहाँ सर्वत्र 'नः' (हम सबके लिये) हैं; 'अहम्' या 'माम्' मैं और मेरे लिये नहीं।

8. प्रकृति के प्रति दिव्य श्रद्धाभाव एवं संरक्षण की भावना

वैदिक आर्यों ने निसर्ग के सभी तत्वों जल, वायु, अग्नि, सूर्य, उषा, पर्जन्य, पृथिवी, आकाश, नदी, वनस्पति आदि की देवता के रूप में कल्पना की एवं अपनी श्रद्धा और भक्ति का अर्घ्य उन्हें अर्पित किया। उनके प्रति पूज्य भाव के कारण उनके संरक्षण के प्रति भी वे सजग रहे। अथर्ववेद के ऋषि विश्व-सन्तति के लिये शुद्ध जलस्रोतों की कामना करते हैं -

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु ।[2]

तो ऐतरेय ब्राह्मण आपः (जल) को राष्ट्र की शिवतम सम्पदा के रूप में प्रतिष्ठित करता हुआ जल संरक्षण का सन्देश देता है -

इमा आपः शिवतमा इमाः सर्वस्य भेषजीः ।
इमा राष्ट्रस्य वर्धनीरिमा राष्ट्रभृतोऽमृताः ॥[3]

प्राकृतिक सम्पदा का अन्धाधुन्ध दोहन करने वाले अर्थलिप्सुओं के प्रति अथर्ववेद का सन्देश है -

भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा
यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ।[4]

यह पृथिवी धन-धान्य से सम्पन्न एक अक्षय पात्र है, किन्तु यह पात्र उन्हीं के लिये प्रकट होता है, जो उसके प्रति मातृभाव रखते हैं। साथ ही चेतावनी भी दी है -

---

1. ऋग्वेद 7.35,8,10,11
2. अथर्ववेद 12.1.30
3. ऐतरेय ब्राह्मण 8.2.3
4. अथर्ववेद 12.1.60

पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ।[1]

यह पृथिवी विश्व को तब तक धारण करेगी, जब तक विश्व द्वारा उसे धारण किया जायेगा।

9. अग्निपूजक संस्कृति

वैदिक आर्यों के लिये यज्ञ के देवता अग्नि प्रथम आराध्य हैं। वस्तुतः अग्नि की उपलब्धि मानवीय सभ्यता के प्रथम चरण की क्रान्तिकारी उपलब्धि है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण चराचर जगत् , मानव जीवन, मन और आत्मा को आलोकित करने में अग्नि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है ; क्योंकि अग्नि प्रकाश-रूप है, अमृत है, ऊर्जा-स्रोत है, परम पावन है और है- एक शुद्धतम अस्तित्व।

गहन तमस् में जीवनपथ को आलोकित करने की, सुपथ से समृद्धि की ओर ले जाने की प्रार्थनायें अग्नि देवता से ही हैं -

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् ।[2]

स्वर्णिम उषा का आगमन, पूर्व से फूटती प्रकाश की किरण ..... आलोकपुञ्ज सूर्य का द्युलोक में उदय.....पृथिवीलोक में हर घर में यज्ञवेदी में समिद्ध अग्नि की उज्ज्वल शिखाएँ .....मन्त्रोच्चार के साथ दिव्य शक्तियों का स्तवन और आवाहन.....अन्धकार पर प्रकाश की विजय का महान उत्सव .....यह है ऋग्वैदिक भारत !

वृणीध्वं हव्यवाहनम् ।[3]

'हव्यवाहन अग्नि का वरण करो', यह विश्व के लिये वैदिक संस्कृति का सन्देश है, जिसे आज भी इस भारत राष्ट्र ने अग्निसाक्षिक विवाह, दैनन्दिन पूजन एवं प्रत्येक शुभकर्म में दीप प्रज्ज्वालन के माध्यम से संरक्षित रखा है।

10. सर्वाङ्गीण अभ्युदय पर बल

यह संस्कृति मानव, समाज एवं राष्ट्र के सर्वाङ्गीण विकास पर बल देती है। पञ्च-कोशात्मक मानव के अन्नमय कोश की पुष्टि के लिये -

अन्नं बहु कुर्वीत । तद् व्रतम् । यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् ।[4]

---

1. अथर्ववेद 12.1.27
2. शुक्ल यजुर्वेद 40.18
3. ऋग्वेद 5.28.6
4. तैत्तिरीयोपनिषद् 3.9.10

अधिक से अधिक अन्न का उत्पादन इस संस्कृति का व्रत रहा है। कृषि की समृद्धि के लिये वैदिक प्रार्थनाएँ भी इसी उद्देश्य से हैं।[1]

प्राणमय कोश के लिये यह प्राणविद्या पर बल देती है, तो मनोमय कोश के लिये शिवसङ्कल्पों पर-

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।[2]

विज्ञानमय कोश के लिये इस संस्कृति के पास नाना प्रकार की ज्ञान-विज्ञान की शाखायें और अपरा विद्या है, तो आनन्दमय कोश के लिये परा विद्या या आध्यात्म विद्या।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।[3]

मानवजीवन के क्रमिक विकास हेतु क्रमशः चार आश्रम- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास तथा पुरुषार्थ चतुष्टय - धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सर्वाङ्गीण अभ्युदय के लिये ही निर्धारित किये गये हैं। स्वस्थ, प्रसन्न कर्ममय जीवन[4] तथा इस मृत्युलोक में जन्म लेकर भी 'अमृत' हो जाना ही वैदिक संस्कृति का लक्ष्य है। और इस लक्ष्य को स्थापित किया है वैदिक ऋषियों के साथ ही हमारी ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओं ने -

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।[5]

सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज के सभी वर्गों के अभ्युत्थान के लिये प्रत्येक व्यक्ति के गुण, योग्यता और क्षमता के अनुरूप कर्मविधान अर्थात् वर्ण-व्यवस्था या जीविका के साधन इस संस्कृति का वैशिष्ट्य है। एक उन्नत आदर्श राष्ट्र की सङ्कल्पना साकार हुई है; यजुर्वेद के प्रस्तुत मन्त्र में -

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो

---

1. (1) क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व। ऋग्वेद 4.57.2
   (2) सुसस्याः कृषीस्कृधि:। शुक्ल यजुर्वेद 4.10
2. शुक्ल यजुर्वेद 34.1
3. शुक्ल यजुर्वेद 40.11
4. शुक्ल यजुर्वेद 40.2
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.3

जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां । योगक्षेमः नः कल्पताम् ।[1]

हमारे राज्य में ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त हों, क्षत्रिय शूर, शास्त्रविद्या में निपुण, महारथी और विजयशील हों। इस देश के युवा सभा में प्रतिष्ठा पाने वाले तथा वीर हों। गौयें प्रचुर दुग्ध देने वाली, बैल भारवाही तथा अश्व तीव्र गति वाले हों। स्त्रियाँ पुर को धारण करने वाली तथा सभ्यता और संस्कृति की आधारशिला हों। हमारी इच्छानुसार मेघ वृष्टि करें। ब्रीहि, यवादि ओषधियाँ फलवती होकर परिपाक को प्राप्त करें। हमारे राष्ट्र का योग (अलब्ध लाभ)एवं क्षेम (लब्ध की रक्षा) सम्पादित हो।

यह योग-क्षेम ही प्रत्येक राष्ट्र का सनातन साध्य रहा है। व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक के सर्वाङ्गीण विकास का लक्ष्य अथर्ववेद में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है -

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह ।
राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ॥[2]

'हे मानव ! आध्यात्मिक उन्नति के द्वारा स्वयं को दिव्यलोक तक पहुँचाओ, भौतिक उन्नति करो। आर्थिक उन्नति और राष्ट्र की उन्नति करो।'

मानवमात्र का अभ्युत्थान हो; अवपतन नहीं -

उद्यानं ते पुरुष नावयानम् ।[3]

11. विविधता में एकता

वैदिक ऋषियों ने इस ब्रह्माण्ड में दृशयमान विविधता के पीछे अन्तर्निहित उस एक तत्व का अनुभव किया था; जिसकी खोज आज तक विज्ञान करता आया है। उस एक 'सत्' तत्व को स्थापित करते हुये ऋषि दीर्घतमा कहते हैं -

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।[4]

उस एक की ज्योति से ही ज्योतित है यह वैविध्यपूर्ण चराचर जगत्। वस्तुतः यह सृष्टि ज्योतिर्मय दिव्य शक्ति का ही प्रकाश है -

---

1. शुक्ल यजुर्वेद 22.22
2. अथर्ववेद 13.1.34
3. अथर्ववेद 8.1.6
4. ऋग्वेद 1.146.46

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥[1]

वैदिक ऋषियों की यह एक आध्यात्मिक ऐक्य दृष्टि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी प्रतिबिम्बित हुई है। द्युलोक को अपना पिता और पृथिवी को अपनी माता मानते हुये उन्होने समस्त विश्व के साथ आत्मीय सहोदर भाव की कामना की -

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।[2]
अमी ये सप्तरश्मयस्तत्रा मे नाभिरातता ।[3]

'(सौरमण्डल की) ये जो सात किरणें हैं, वहाँ तक मेरी नाभि का सम्बन्ध है। हे द्यावा पृथिवी ! मैं सभी के साथ प्रेममय बन्धुभाव के लिये प्रार्थना करता हूँ।'

'नाना भाषा-भाषी, नाना धर्म के लोगों के लिये यह पृथिवी एक सुख-शान्ति पूर्ण ओकस (घर) हो' यह वैदिक ऋषियों की अभिलाषा है और प्रयत्न भी -

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।[4]

प्रतिदिन उदित होता हुआ सूर्य जब पाँचों महाद्वीपों के मानवों पर अपनी रश्मियों को समान भाव से विस्तार करता है[5], तब हम क्यों भेद-भाव पूर्ण दृष्टि रखकर द्वेष करें। पृथिवी की एक ही पार्थिव गन्ध से सुवासित हम किसी के भी प्रति द्वेष-दृष्टि न रखें -

यस्ते गन्धः पृथिवि सम्बभूव......
तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥[6]

इन्हीं गुणों ने वैदिक संस्कृति को; कालजयी विश्ववरणीय सनातन संस्कृति बनाया है।

* * *

---

1. कठोपनिषद् 5.15
2. ऋग्वेद 1.146.33
3. ऋग्वेद 1.105.9
4. अथर्ववेद 12.1.45
5. अथर्ववेद 12.15
6. अथर्ववेद 12.1.23

वैदिक संस्कृति के निर्माता

समग्र विश्व को मित्र की दृष्टि से देखने वाली इस विश्वजनीन संस्कृति के निर्माता वे असंख्य ऋषिमुनि, कवि, विप्र[1], विचारक, मनीषी चिन्तक, राष्ट्रनेता और कला-सर्जक थे; जिन्होने सर्वप्रथम अपने तपोबल से संस्कृति के घटक तत्वों एवं धारक धर्मों का अपने अन्तःकरण में साक्षात्कार किया था; जिन्होने सृष्टि-व्यवस्था में अन्तर्निहित ऋतसूत्रों का अन्वेषण कर मानवीय-समाज के सञ्चालक एवं नियामक नियमों का विधान किया।

मानव जीवन के लक्ष्यों का निर्धारण कर एक 'सर्वजनहिताय सर्वजन सुखाय' आदर्श समाज व्यवस्था प्रदान करते हुये इन संस्कृति निर्माताओं ने समाज को नैतिक नियमों से अनुशासित किया था। इन्होने व्यष्टि को समष्टि का अङ्ग मानते हुये प्रकृति की दिव्य शक्तियों के प्रति कृतज्ञताबोध को विकसित करते हुये मानवीय कर्तव्यों का निर्धारण किया था। इन्हें गुणों के आधार पर 'आर्य'[2] और कर्म के आधार पर 'ऋषि' कहा गया तथा इनकी कर्मभूमि को 'आर्यावर्त'[3] की संज्ञा दी गई।

महाभारत में कहा गया है कि व्यक्ति अपने वृत्त या आचार से आर्य होता है -

वृत्तेन हि भवत्यार्यः।[4]

वेदव्यास के अनुसार आर्य के आठ गुण हैं -

शान्तः तितिक्षुर्दान्तश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दाता दयालुः नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः॥

ऋग्वेद के साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि वैदिक सभ्यता का उद्भव सप्तसिन्धु[5] प्रदेश में हुआ

---

1. अहं....ऋषिरस्मि विप्रः।.....अहं कविरुशना। ऋग्वेद 4.26.1
2. गुणेन ज्ञायते त्वार्यः। चाणक्यनीति 5.8
3. आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः। अमरकोश 2.1.8
4. महाभारत- उद्योगपर्व 88.52
5. (1) ऋग्वेद 3.33.1,5

   (2) चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती। ऋग्वेद 1.3.11

तथा परवर्ती युग में हिमालय से विन्ध्य तक अथवा सिन्धु- सरस्वती से गङ्गा तक विस्तृत भूभाग का 'आर्यावर्त' अर्थात् 'श्रेष्ठ पुरुषों का देश' कहा गया। यह भूमि आर्यों को देवताओं द्वारा प्रदान की गई -

अहं भूमिमददामार्याय ।[1]

अतः मनु ने इसे देवनिर्मित देश कहा है -

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।।[2]

ऋग्वेद में अनेकशः यह कहा गया है कि सर्वप्रथम आर्यों को ; देवताओं द्वारा ज्ञान रूपी ज्योति प्रदान की गई -

(1) ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ।[3]

(2) अपावृणोज्योतिरार्याय ।[4]

(3) ऊरुज्योतिर्जनयन्नार्याय ।[5]

अर्थात् समग्र विश्व को श्रेष्ठ गुणसम्पन्न बनाने 'कृणवन्तो विश्वमार्यम्'[6] के लिये वेद रूपी दिव्य ज्ञान का प्रकाश इस आर्यभूमि पर ऋषियों के अन्तःकरण में अवतरित हुआ।

वैदिक संस्कृति के स्रष्टाओं के लिये वेदों मे जिस अभिधान का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है; वह है - ऋषि।

ऋषित्व की अवधारणा

वैदिक वाङ्मय, धर्म, दर्शन और संस्कृति के सन्दर्भ में ऋषियों का योगदान सर्वाधिक है। वस्तुतः ज्ञान-विज्ञान की सभी धाराओं के प्रवर्तक ऋषि ही हैं। अतः ज्ञानपथ के निर्माता हमारे पूर्वज ऋषियों के ऋण को स्वीकार करते हुये अथर्ववेद में कहा गया है -

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ।

1. ऋग्वेद 4.26.2
2. मनुस्मृति 2.17
3. ऋग्वेद 1.117.21
4. ऋग्वेद 2.11.18
5. ऋग्वेद 7.5.6
6. ऋग्वेद 9.63.5

ऋषि देव और मानव के मध्य वह जीवन्त माध्यम हैं, जो दिव्यज्ञान को मानव तक लाते हैं तथा मानव को उस दिव्य तक पहुँचने का मार्ग बताते है। ऋषियों को देवकृपा, देवसान्निध्य तथा देवसख्य प्राप्त करने वाला कहा गया है। इस सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को; सृष्टि व्यवस्था के सञ्चालक नियमों को; जिसकी संज्ञा 'ऋत' है, ऋषियों ने अपने तपोबल से जाना अत: इन्हें 'ऋतसाप', 'ऋतवान्' और 'ऋतावृध' कहा गया है।[1]

ऋषि 'तपोजा' (तप से जन्म लेने वाले) हैं और तप ही इनका धर्म है।[2] प्राय: ऋषियों के लिए भी उन्हीं विशेषणों का प्रयोग हुआ है, जो अग्नि आदि देवताओं के लिए। इन्हें विदुः, विप्रः, कवि, मनीषी, मेधावी, विद्वान् , अमृत आदि विशेषणों से अलंकृत किया गया है।[3]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक युग में 'ऋषित्व' एक विशिष्ट पद था, जो केवल मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रकर्ता को ही प्राप्त था। यह अभिधान वंशपरम्परागत नहीं था। शौनक के बृहद्देवता में राजा रथवीति और श्यावाश्व की कथा इसका प्रमाण है। राजा रथवीति ने अपनी पुत्री का विवाह तब तक अत्रिपुत्र श्यावाश्व से नहीं किया; जब तक उन्होने मन्त्रद्रष्टा होकर ऋषित्व प्राप्त नहीं किया था। राजा की महिषी का निर्णय था कि अनृषि (जो ऋषि नहीं है, वह) उनका जामाता नहीं बन सकता -

अनृषिर्नैव जामाता कश्चिद्भवितुमर्हति ।[4]

मन्त्रद्रष्टा ऋषि को वेद का पिता तथा उसकी पत्नी को वेदमाता माना जाता था ; अत: ऋषि को कन्या प्रदान करना राजा-महाराजाओं के लिए भी गौरवपूर्ण समझा जाता था -

ऋषये दीयतां कन्या वेदस्याम्बा भवेत्तथा ।
ऋषिं मन्त्रदृशं वेदपितरं मन्यते यतः ।।[5]

ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे या प्रणेता ?

इस विषय में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं। प्रथम पारम्परिक विचारधारा - जो वेदों को अपौरुषेय और ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा मानती है। तदनुसार 'ऋषि' शब्द का निर्वचन दो प्रकार से किया गया

---

1. ऋग्वेद 1.179.2 ; 10.33.8 ; 10.154.4
2. ऋग्वेद 10.154.5
3. ऋग्वेद 1.72 .10, 1.76.5, 1.78.5
4. बृहद्देवता 5.78
5. बृहद्देवता 5.58

है, प्रथम - दर्शनार्थक 'दृश्' धातु से। निरुक्तकारों के मत में - ऋषि वे हैं, जिन्होने तपोबल से समाधि दशा में मन्त्रों का दर्शन किया है-

ऋषिः दर्शनात् , स्तोमान् ददर्श इति औपमन्यवः ।[1]

ऋषियों ने 'ऋत' का, सृष्टि के धारक 'धर्म' का साक्षात्कार अर्थात् प्रातिभ चक्षु से अवलोकन किया था; अतः यास्क कहते हैं -

साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूव ।[2]

शौनक ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही मानते हैं ।[3] आचार्य सायण भी 'ऋषि' शब्द को इसी अर्थ में परिभाषित करते हैं -

ऋषिरतीन्द्रियद्रष्टा ।[4] **ऋषिः सूक्तद्रष्टा ।**[5]

सायणाचार्य द्वारा 'ऋषिमना', 'ऋषिकृत' आदि वैदिक पदों की व्याख्यायें भी इसी दर्शन अर्थ में क्रमशः 'सर्वदर्शनशीलमनस्कः', 'सर्वस्य दर्शनकर्ता ' आदि के रूप में की गई हैं ।[6]

'ऋषि' शब्द का द्वितीय निर्वचन गत्यर्थक 'ऋष्' धातु से किया गया है। तदनुसार तपस्यारत इन ऋषियों के समीप ब्रह्म (वेद मन्त्र) स्वयं पहुँचे (थे)-

एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तद् ऋषीणाम् ऋषीत्वम् ।[7]

महर्षि अरविन्द ने इसे ईश्वरीय वाणी कहा है; जो इनके अन्तःकरण में प्रविष्ट हुई थी। स्वयं ऋग्वेद में ही मन्त्रों के दर्शन या दिव्य वाणी के इन तक पहुँचने के सम्बन्ध में कई सन्दर्भ प्राप्त होते हैं -

यज्ञेन वाचः पदवीमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।[8]

---

1. निरुक्त 2.3.11
2. निरुक्त 1.6.20
3. मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा - बृहद्देवता 1.1
4. सायण भाष्य ऋग्वेद 9.87.3
5. सायणभाष्य ऋग्वेद 9.113.2
6. सायण भाष्य ऋग्वेद 9.96.18
7. निरुक्त 2.3.11
8. ऋग्वेद 10.71.3

अर्थात् बुद्धिमान लोग यज्ञ द्वारा वाणी के उस मार्ग को पा लेते हैं, जो ऋषियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हुई थी।

वशिष्ठ ने सूर्य के समान प्रकाशमान, समुद्र के समान गम्भीर और वायु के समान अनतिक्रमणीय स्तोमों को वरुण की कृपा से देखा, सुना और जाना था।

1. आधान्वस्य संदृशं जगन्वान्।
2. उवाच में वरुणो मेधिराय।
3. सर्वां इत्ताँ अनुविदुर्वसिष्ठाः।[1]

ये मन्त्र अपौरुषेय या दिव्य ज्ञान के ऋषिकृत दर्शन, श्रवण और अवबोधन को प्रमाणित करते हैं। इसी प्रकार अत्रिपुत्रों ने भी मित्र और वरुण के दिव्य रूप का दर्शन किया था -

देवानां श्रेष्ठां वपुषामपश्यम्।[2]

द्वितीय विचारधारा ऋषियों को मन्त्र के कर्ता या प्रणेता के रूप में देखती है। ऋग्वेद में भी अनेकशः ऋषियों को 'मन्त्रकृत', 'कवि' तथा उनके स्तोम को 'काव्य' कहा गया है। वशिष्ठ कहते हैं कि उन्होने वज्रधारी इन्द्र के लिए नवीन मन्त्र बनाया है -[3]

1. इदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः।
2. ब्रह्म इन्द्राय वज्रिणे अकारि।[4]

स्तोत्र रचना की प्रक्रिया बहुधा तक्षण शिल्प से उपमित भी हुई है।[5] ऋषियों को 'स्तोमतष्टा'[6] और 'कारु'[7] कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि कर्ता या मन्त्रप्रणेता भी थे। यद्यपि सायणाचार्य इस मन्त्रकर्तृत्व का खण्डन करते हुये कहते हैं -

---

1. ऋग्वेद 7.88.2, 7.87.4
2. ऋग्वेद 5.62.1
3. ऋग्वेद 9.8.3, ऋग्वेद 10.154.5, अथर्ववेद- मन्त्राः कविशस्ताः 18.1.60
4. ऋग्वेद 7.35.4, ऋग्वेद 7.96.9
5. ऋग्वेद 10.15.9
6. ऋग्वेद 10.168.10
7. ऋग्वेद 10.39.14

1. यद्यपि अपौरुषेये वेदे कर्तारो न सन्ति, तथापि कल्पादौ विश्वेश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृदित्युच्यते ।[1]

2. ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत । करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः ।

'कृ' धातु यहाँ दर्शनार्थक है । कल्प के प्रारम्भ में परमेश्वर की कृपा से मन्त्र को पाने वाले ऋषियों को ही 'मन्त्रकृत' कहा गया है । वस्तुतः अपौरुषेय वेद का कोई कर्ता नहीं है ।

यहाँ मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए कहा जा सकता है कि वशिष्ठ, अङ्गिरा, विश्वामित्र, कण्व, गृत्समद, विश्ववरा, अपाला आदि महान ऋषियों ने तपोबल से दिव्य ज्ञान का साक्षात्कार अर्थात् दर्शन या श्रवण किया था, जिसकी यथावत् अभिव्यक्ति मन्त्रों के रूप में हुई थी । मन्त्र बुद्धिपूर्वक रचे नहीं गये थे; किन्तु परवर्ती युग के कुछ अर्वाचीन मन्त्र ऐसे भी थे, जिन्हें तराशकर अभिव्यक्ति दी गई थी; जिसमें द्रष्टा ऋषि मन्त्र का प्रणेता भी बन गया था ।

ऋषि-परम्परा

ऋग्वेद में सङ्कलित मन्त्र नाना ऋषिकुलों से सम्बद्ध हैं, जिनमें से कुछ अत्यन्त प्राचीन हैं और कुछ अर्वाचीन भी । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में ही इसका स्पष्ट सङ्केत है -

अग्निःपूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।[2]

(अग्नि देवता की पूर्व ऋषियों ने स्तुति की है और नवीन ऋषियों ने भी ।)

सायण के अनुसार यहाँ पूर्व से अभिप्राय भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषियों से है तथा नवीन से अभिप्राय विश्वामित्र, मधुच्छन्दा आदि से । पुरातन ऋषियों का उल्लेख ऋषि लोपामुद्रा, यमी, वैवस्वती आदि ने भी किया है-

ये चित् पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।[3]

ऋग्वेद के वंशमण्डल कई पीढ़ियों तक चलने वाली ऋषि-परम्परा का ही प्रमाण हैं । वस्तुतः ऋग्वेद प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियों की अनेक सहस्राब्दियों की साक्षात्कारात्मक अनुभूतियों का सङ्कलन है । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वैदिक युग में मन्त्रद्रष्टा ही 'ऋषि' पद के अधिकारी होते थे । परवर्ती युग में भी उन्हें ही 'ऋषि' कहा गया, जिन्होने ज्ञान की किसी न किसी शाखा का प्रवर्तन किया; भले ही वे मन्त्रद्रष्टा

---

1. तैत्तिरीय आरण्यक भाष्य 4.11, ऐतरेय ब्राह्मण भाष्य 6.1
2. ऋग्वेद 1.1.2
3. ऋग्वेद 10.154.4

नहीं थे। परवर्ती युग को यह दिव्य ज्ञान श्रुति या श्रवण परम्परा से प्राप्त हुआ। ऐसे 'श्रुतर्षियों' की ओर सङ्केत करते हुए यास्क कहते हैं -

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृतधर्मेभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।[1]

पुरातन काल में धर्म का साक्षात्कार करने वाले श्रेष्ठ ऋषि हुए थे। इन ऋषियों ने धर्म का साक्षात्कार न करने वाले अवर ऋषियों को उपदेश के माध्यम से मन्त्र प्रदान किये थे।

स्त्री ऋषि

तप, प्रतिभा, मेधा और अन्तर्दृष्टि आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं; अतः ये दिव्य गुण स्त्री और पुरुष का भेद नहीं करते। भेद सामाजिक व्यवस्थाओं, परिवेश और नियमों में होता है। यही कारण है कि मन्त्रद्रष्टा पुरुष ऋषियों के समान स्त्री-ऋषि भी हुई हैं; भले ही यह संख्या पुरुष ऋषियों की तुलना में अत्यल्प है।

शौनक ने स्त्री ऋषियों को 'मुनि', 'ब्रह्मवादिनी' और 'ऋषि' कहा है।[2] सायण इन्हें 'ऋषि', 'द्रष्ट्री' (मन्त्रों का दर्शन करने वाली) और 'ब्रह्मवादिनी' कहते हैं।[3] 'ऋषिका' पद का प्रयोग दशम मण्डल की कुछ स्त्री ऋषियों के लिए ही हुआ है।[4]

स्त्री ऋषियों के सम्बन्ध में ऋषित्व की वही अवधारणा है, जो पुरुष ऋषियों के सम्बन्ध में है। इन स्त्री ऋषियों ने भी तपोबल से मन्त्रों का साक्षात्कार कर 'ऋषि' पद को प्राप्त किया था। विश्ववारा,

---

1. निरुक्त 1.6.20
2. (1) पौलोमी शची नाम मुनिः स्मृतः। आर्षानुक्रमणी 10.82
   (2) रात्रि सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः। बृहद्देवता 2.84
   (3) उत्तमस्य तु वर्गस्य य ऋषिः सैव देवता। बृहद्देवता 2.86
3. (1) अत्रिगोत्रोत्पन्ना विश्ववारा नामिकास्य सूक्तस्य ऋषिः। ऋग्वेद 5.28
   (2) शिखण्डिन्याख्ये....द्वौ....सूक्तस्य द्रष्ट्यौ। ऋग्वेद 9.104
   (3) सप्तम्या रोमशा नाम ब्रह्मवादिनी। ऋग्वेद 1.126
   (4) घोषा नाम ब्रह्मवादिनी ऋषिः। ऋग्वेद 10.39
4. (1) कामगोत्रजा श्रद्धा नाम ऋषिका। ऋग्वेद 10.151
   (2) सार्पराज्ञी नाम ऋषिका। ऋग्वेद 10.189, सायण भाष्य

अपाला, घोषा, जुहू, वागाम्भृणी, अदिति आदि के सूक्तों में भी चिन्तन और दर्शन की वह प्रौढ़ता परिलक्षित होती है, जो अत्रि, विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि ऋषियों के सूक्तों में है।

इनके लिए प्रयुक्त द्वितीय अभिधान है - 'ब्रह्मवादिनी'। प्रथम अभिधान - 'ऋषि' मन्त्रदर्शन की प्रक्रिया पर बल देता है, तो द्वितीय अभिधान मन्त्र के प्रतिपाद्य और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर।

'यस्य वाक्यं स ऋषि:'- ऋषि की इस दूसरी परिभाषा को भी यह अभिधान पुष्ट करता है। 'ब्रह्मवादिनी' एक समस्त पद है, जिसका अर्थ है - ब्रह्म को या ब्रह्म के विषय में बोलने वाली स्त्री।

'ब्रह्म' शब्द कोश ग्रन्थों में कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है - अन्न[1], धन[2], वेद, वेदमन्त्र, तप, ब्राह्मण की शक्ति, परम सत्य, निर्गुणनिराकार परमात्मा आदि इसके अर्थ हैं।[3]

ऋग्वेद में 'ब्रह्म' पद का प्रयोग मन्त्र या स्तोत्र के लिए अनेकश: हुआ है -

अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षु: ।[4]
ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भि.....हुवे ।[5]

उपनिषदों में यह परम सत्य या परम सत्ता का वाचक है। 'ब्रह्म' शब्द बढ़ना अर्थ वाली 'बृंह' धातु से निष्पन्न है अर्थात् 'ब्रह्म' वह है, जिसमें स्वयं बढ़ने एवं अन्य को बढ़ाने की शक्ति निहित है।

ब्रह्म परिबृढः सर्वतः ।[6]

इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार दो प्रकार से मन्त्रों की 'ब्रह्म' संज्ञा होती है। प्रथम - मन्त्र की स्तुतियों से देवताओं के बल और आनन्द में वृद्धि होती है[7], द्वितीय - ये स्तुतिपरक मन्त्र श्रोता या वक्ता को भी धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्रादि से बढ़ाते हैं।[8]

---

1. ब्रह्म प्रजावदाभर। ऋग्वेद 16.226, निघण्टु 2.7
2. निघण्टु 2.8
3. आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश, पृष्ठ 721
4. ऋग्वेद 10.80.7, ऋग्वेद 7.96.9
5. ऋग्वेद 6.45.7
6. निरुक्त 1.3.8
7. (1) इन्द्रो मदाय बवृधे शवसे वृत्रहा नृभि:। ऋग्वेद 1.81.1
   (2) ब्रह्मा चकार वर्धनम्। ऋग्वेद 1.80.1
8. ऋग्वेद 6.45.6,7,8,30

ऋग्वैदिक मन्त्र ऋषियों के तपोजन्य ज्ञान की अभिव्यक्ति हैं। जीवन और जगत् का साक्षात्कार जिस रूप में हुआ है; उसी रूप में सत्य की सहज अकृत्रिम निश्च्छल प्रस्तुति इन मन्त्रों में हुई है। यह सत्य इस लोक का भी हो सकता है और परलोक का भी। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के सत्य ही इसकी परिधि में आते हैं। इस 'सत्य-ब्रह्म' या 'मन्त्र-ब्रह्म' की वक्ता ऋषि ही यहाँ 'ब्रह्मवादिनी' कही गई है; अत: परम ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अनुभूति करने वाली वागाम्भृणी ब्रह्मवादिनी हैं, तो अस्मिता की तलाश करती हुई रोमशा और सौभाग्य के अभिमान से भरी हुई इन्द्राणी भी 'ब्रह्मवादिनी' कही गई हैं।

ब्रह्मवादिनी की इस ऋग्वैदिक अवधारणा के साथ ही स्त्री ऋषियों के अवदान और उनके जीवनदर्शन का यथार्थ मूल्याङ्कन सम्भव है।

सूक्त और मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों का परिचय अनुक्रमणी ग्रन्थों में मिलता है। शौनक की 'आर्षानुक्रमणी' और 'बृहद्देवता' में ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त और मन्त्रों के ऋषियों का अनुक्रम तो मिलता ही है; इसके साथ ही तीन संग्रह श्लोकों के माध्यम से 27 स्त्री ऋषियों का एकत्र परिगणन भी किया गया है। तदनुसार ब्रह्मवादिनी ऋषियों के नाम इस प्रकार हैं -

घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, उपनिषत् , निषत्, ब्रह्मजाया जुहू , अगस्त्यस्वसा, इन्द्राणी, इन्द्रमाता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, नदियाँ, यमी, शश्वती, श्री, लाक्षा, सार्पराज्ञी, वाक् , श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्री एवं सूर्यासावित्री।[1]

बृहद्देवताकार का यह सन्दर्भ वैदिक संस्कृति की निर्माता स्त्रियों के परिज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस सूची में खिल सूक्त की मेधा, श्री, लाक्षा आदि ऋषियों को भी सम्मिलित किया गया है। यद्यपि इस सूची में सिकता-निवावरी, शिखण्डिनीद्वय, वसुक्रपत्नी आदि ऋषियों का परिगणन नहीं है, फिर भी 27 स्त्री ऋषियों की एकत्र सूची प्रस्तुत करने वाला यह एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ है।

ऋग्वेद के मण्डलक्रम से ब्रह्मवादिनी ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्रों एवं सूक्तों का विवरण इस प्रकार है -

मण्डल	सूक्त	मन्त्र	ऋषि	कुलमन्त्र
प्रथम	126	7वाँ	रोमशा	01
	179	1-2	लोपामुद्रा	02
द्वितीय	---	---	----	--

1. बृहद्देवता 2.82-86

तृतीय	33	4,6,8,10	नद्यः (नदियाँ)	04
चतुर्थ	18	4 (उत्तरार्ध) 5.6.7	अदिति	3.5
पञ्चम	28	1-6	विश्ववारा आत्रेयी	06
षष्ठ	--	---	----	--
सप्तम	--	---	----	--
अष्टम	1	34वाँ	शश्वती आङ्गिरसी	01
	91	1-7	अपाला आत्रेयी	07
नवम	86	11-20	सिकता निवावरी	10
मण्डल	**सूक्त**	**मन्त्र**	**ऋषि**	**कुल**
104	1-6	शिखण्डिनी द्वय	06	
दशम	10	1,3,5-7,9,11,13	यमी वैवस्वती	08
	28	1	वसुक्रपत्नी	01
	39	1-14	घोषा काक्षीवती	14
	40	1-14	घोषा काक्षीवती	14
	60	6वाँ	अगस्त्यस्वसा	01
	72	1-9	अदिति दाक्षायिणी	09
	85	1-47	सूर्या सावित्री	47
	86	2-6,9-10,15,16,18	इन्द्राणी	10
	95	2,4,5,7,11,13, 15,16,18	उर्वशी	09
	107	1-11	दक्षिणा	11
	108	2,4,6,8,10,11	सरमा	06

109	1-7	जुहू ब्रह्मजाया	07
125	1-8	वागाम्भृणी	08
127	1-8	रात्रि भारद्वाजी	08
134	6(अर्द्ध ऋचा),7	गोधा	1.5
145	1-6	इन्द्राणी	06
151	1-5	श्रद्धा कामायनी	05
153	1-5	इन्द्रमातरः	05
154	1-5	यमी वैवस्वती	05
159	1-6	शची पौलोमी	06
189	1-3	सार्पराज्ञी	03

खिलसूक्त

प्रधारयन्तु मधुनो घृतस्य	1-7	उपनिषत्- निषत्	07
श्री सूक्त (5.87 के बाद)	1-27	श्री	27
भूमिर्माता नभः पिता	1-7	लाक्षा	07
मेधा-सूक्त(10.151के बाद)	1-10	मेधा	10
		33	276

इनमें से कुछ ऋषि ऐसी हैं, जिनका मात्र एक ही मन्त्र प्राप्त होता है। जैसे - रोमशा, शश्वती, वसुक्रपत्नी एवं अगस्त्यस्वसा। गोधा के नाम से 1.5 एवं लोपामुद्रा के नाम से 2 मन्त्र सङ्कलित हैं। सम्पूर्ण सूक्त की द्रष्टाओं में विश्ववारा, अपाला, शिखण्डिनीद्वय, यमी, घोषा, अदिति, सूर्या, दक्षिणा, जुहू, वागाम्भृणी, रात्रि भारद्वाजी, इन्द्राणी, श्रद्धा, शची पौलोमी, सार्पराज्ञी, लाक्षा, मेधा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं; किन्तु इनमें से कुछ नाम विकल्प के रूप में आते हैं। जैसे - शिखण्डिनीद्वय के साथ पर्वत तथा नारद ऋषि का नाम विकल्प के रूप में आता है। जुहू के साथ विकल्प के रूप में ब्रह्मपुत्र ऊर्ध्वनाभ का नाम सङ्कलित है; अदिति के साथ लौक्यबृहस्पति मन्त्रद्रष्टा के रूप में अनुक्रमणी ग्रन्थों में परिगणित होते हैं।

स्त्री ऋषियों में सबसे छोटा सूक्त सार्पराज्ञी का है, जिसमें मात्र तीन ही मन्त्र हैं। सबसे बड़ा सूक्त सूर्यासावित्री का है, जिसमें 47 मन्त्र हैं।

स्त्री ऋषियों के विभिन्न वर्ग

नाम, वंश-परिचय एवं मन्त्रों में प्रतिपादित विषय आदि के आधार पर स्त्री ऋषियों के निम्न वर्ग हो सकते हैं -

1. नामतः उल्लेख-अनुल्लेख के आधार पर - नारी ऋषियों को नामतः उल्लेख-अनुल्लेख के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है -

(क) स्वनामधन्या

ऐसी ऋषि जो स्वनाम से प्रसिद्ध हुई हैं - रोमशा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला, यमी, घोषा, अदिति, इन्द्राणी, सरमा, उर्वशी, दक्षिणा, जुहू , श्रद्धा आदि।

(ख) अज्ञातनामा

नद्यः(नदियाँ), वसुक्रपत्नी, अगस्त्यस्वसा एवं इन्द्रमातरः। इनके व्यक्तिगत नाम अज्ञात हैं। नदियों की अनुभूतियों को आत्मकथ्य के रूप में अभिव्यक्त करने वाली ऋषि कौन थीं; इसका उल्लेख ऋग्वेद या अनुक्रमणी ग्रन्थों में नहीं है। इसी प्रकार इन्द्र-स्नुषा का नाम भी अज्ञात है; उन्हें अपने पति वसुक्र के सम्बन्ध से जाना गया है। इन्द्रमातरः और अगस्त्यस्वसा भी अन्य के सम्बन्ध से जानी जाती हैं।

2. विभिन्न वर्गों से सम्बन्ध के आधार पर - देव, अप्सरा, ऋषि, राजन्य आदि विभिन्न वर्गों से सम्बन्ध के आधार पर इनके पाँच वर्ग हो सकते हैं -

(क) देवसमूह से सम्बद्ध

इन्द्राणी, शची पौलोमी, इन्द्रमातरः, इन्द्रस्नुषा, अदिति एवं सूर्या सावित्री इस वर्ग में आती हैं। जिस प्रकार देवों में इन्द्र प्रमुख हैं, उसी प्रकार स्त्री ऋषियों में भी इन्द्रपरिवार की ऋषियों का वर्चस्व परिलक्षित होता है। द्वितीय स्थान पर सूर्य देवता से सम्बद्ध मन्त्रद्रष्टिओं के नाम हैं। जैसे सूर्यपुत्री सूर्या, विवस्वानपुत्री यमी।

(ख) अप्सराएँ

उर्वशी, शिखण्डिनीद्वय।

(ग) ऋषिकुल से सम्बद्ध

लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला, अगस्त्यस्वमा, जुहू , वागाम्भृणी, रात्रि, श्रद्धा आदि। लोपामुद्रा महर्षि अगस्त्य की पत्नी हैं , विश्ववारा और अपाला का सम्बन्ध महर्षि अत्रि की वंश परम्परा से है, जुहू

बृहस्पति की पत्नी हैं, वागाम्भृणी अम्भृण ऋषि की कन्या हैं, रात्रि का सम्बन्ध भारद्वाज से है; तो श्रद्धा का काम गोत्र के ऋषियों से।

(घ) ऋषि एवं राजकुल से सम्बद्ध

बहुत सी ऋषि ऐसी हैं; जिनका जन्म ऋषिकुल में हुआ, किन्तु विवाह राजाओं से हुआ था। जैसे - रोमशा बृहस्पति की कन्या थीं, किन्तु विवाह सिन्धु देश के पराक्रमी शासक स्वनय भावयव्य से हुआ था। शश्वती ऋषि अङ्गिरस की कन्या थीं; राजा आसङ्गप्लायोगि को ब्याही गई थीं। घोषा राजा काक्षीवान की पुत्री थीं। इनके पुत्र सुहस्त्य घौषेय को भी ऋषि पद प्राप्त हुआ था।

(ङ) सामान्य वर्ग से सम्बद्ध

गोधा, नद्यः, सरमा, श्री, लाक्षा, मेधा आदि। गोधा का पितृपरिचय अज्ञात है। सायण ने उन्हें 'ब्रह्मवादिनी ऋषि' कहा है। केवल गोधा अथवा सार्पराज्ञी नामों के आधार पर इन्हें मानवेतर प्राणी कहना उचित नहीं है। आज भी कपिला (कपिल वर्ण की गाय), कोकिला, मयूरी, सारिका आदि नाम पाये जाते हैं।

सरमा की प्रसिद्धि देवशुनी के रूप में है; किन्तु ऋग्वेद में कहीं भी उनके शुनित्व का प्रमाण नहीं है, अपितु एक राजदूती की योग्यता ही प्रमाणित हुई है।

इसी प्रकार नद्यः के रूप में किसी मानवी ऋषि ने ही नदियों के हृदय की कोमल सम्वेदनाओं को स्वर दिया है।

श्रद्धा, वाक् आदि अमूर्त भाव अवश्य हैं, किन्तु यह मानवी ऋषि का नाम भी हो सकता है; वाणी, भारती, इला आदि नाम आज भी प्रचलित हैं। विद्वानों को इन नामों पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

3. प्रतिपाद्य विषय के आधार पर - शौनक ने बृहद्देवता एवं आर्षानुक्रमणी में ऋग्वेद की 27 स्त्री ऋषियों को नौ-नौ के तीन वर्गों में निम्नानुसार विभक्त किया है -

(क) देवस्तुति करने वाली ऋषि

27 ऋषियों में से प्रथम नौ - घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, उपनिषत्, निषत् , जुहू , अगस्त्यस्वसा और अदिति ने ऋग्वेद के मुख्य प्रतिपाद्य विषय, देवस्तुति के अनुरूप अश्विनी, इन्द्र, अग्नि आदि देवों की स्तुति की है -

नवकः प्रथमस्त्वासां वर्गस्तुष्टाव देवताः।

(ख) ऋषियों तथा देवों से वार्तालाप करने वाली ऋषि

मध्य की नौ ऋषियों के मन्त्र देवों अथवा ऋषियों के साथ सम्वाद के रूप में निबद्ध हुये हैं। इस वर्ग में - इन्द्राणी, इन्द्रमाता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, नद्यः, यमी और शश्वती का नाम आता है -

ऋषिभिर्देवताभिश्च समूदे मध्यमो गणः।

यद्यपि बृहद्देवताकार ने यहाँ केवल ऋषियों और देवों से ही सम्वाद की बात कही है; किन्तु ये सम्वाद इनसे इतर से भी हुये हैं। रोमशा का मन्त्र अपने पति स्वनय भावयव्य से सम्वाद रूप में निबद्ध है, उर्वशी का राज पुरूरवा के साथ। सरमा का सम्वाद पणि नामक असुरों के साथ होता है। इस प्रकार इस वर्गीकरण में 'सम्वाद' तत्व की ही प्रधानता है, सम्बोधक या सम्वादक की नहीं।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि इन ऋषि-सूक्तों में से कतिपय जैसे - 'विश्वामित्र-नदी' संवाद, 'सरमा-पणि' सम्वाद, 'पुरूरवा-उर्वशी' सम्वाद और 'यम-यमी' सम्वाद ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध सम्वाद सूक्त हैं, जो नाट्य साहित्य के स्रोत माने जाते हैं।

(ग) भाववृत्त का गायन करने वाली ऋषि

इस तृतीय वर्ग में आत्मानुभूति, सृष्टि तत्व आदि भावों का निरूपण करने वाली ऋषि आती हैं। जैसे- श्री, लाक्षा, सार्पराज्ञी, वाक् , श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्रि और सूर्या सावित्री।

आत्मनो भाववृत्तानि जगौ वर्गस्तथोत्तमः।[1]

लोक-जीवन, समाज, घर-परिवार, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, मानवीय आशाओं और आकांक्षाओं, साहित्य और कला की अभिव्यक्ति स्त्री ऋषियों के मन्त्रों में अपेक्षाकृत अधिक है। यहाँ स्त्री ऋषियों के हृदयगत भाव बिना किसी दुराव-छिपाव के सहज-सरल रूप में अभिव्यक्त हुये हैं। अतः सपत्नियों के प्रति इन्द्राणी की ईर्ष्या में भी उतनी ही सच्चाई है, जितनी यम के प्रति यमी की कामाभिव्यक्ति में।

समुद्रतल पर सतत उठने-गिरने वाली अनन्त लहरों के समान स्त्री-हृदय के असंख्य भाव-तरङ्गों और सङ्कल्प-विकल्पों का साक्षी ऋग्वेद मात्र एक देव-स्तुति परक धर्मग्रन्थ ही नहीं है; इस तथ्य को अभिप्रमाणित करने का कार्य विशेष रूप से स्त्री ऋषियों ने ही किया है।

ब्रह्मवादिनियों के मन्त्रों में जीवन के किसी न किसी सत्य की अभिव्यक्ति है। ये मानव मन के उस पक्ष को उन्मीलित करते हैं, जो मानव होने के नाते देश-काल की सीमा से परे शाश्वत और चिरन्तन हैं, जिनमें श्लीलता या अश्लीलता का प्रश्न नहीं है। इन्हें हम मानव मन का एक सच्चा दर्पण कह सकते हैं।

---

1. बृहद्देवता 2.84, आर्षानुक्रमणी 10.102

आज से लगभग 12 से 15 हज़ार वर्ष पूर्व अभिव्यक्त ये मन्त्र परत-दर-परत मानव मन को खोलते हुये आज भी उतने ही सत्य और प्रासङ्गिक हैं, जितने कि अपने सृष्टिकाल में थे।

उर्वशी जैसी वायु के समान चञ्चल, अस्थिर प्रेम वाली स्वैर विहारिणी नारियाँ आज भी हमारे समाज में देखी जाती हैं। अपने त्याग, तप और सेवा से पति को पुनः पुँसत्व सम्पन्न बनाने वाली शश्वती जैसी नारियों की भी कमी नहीं है। अपने चरित्र की शुद्धता के कारण पति द्वारा पुनः सम्मानपूर्वक स्वीकार किये जाने के उदाहरण भी विरल नहीं हैं।

संख्या में न्यून होते हुये भी स्त्री ऋषियों के मन्त्र जीवन और जगत् की विविधता, अनुभूति की तीव्रता, सम्वेदनशीलता, काव्यात्मक कल्पना और प्रज्ञा-प्रकर्ष की दृष्टि से पुरुष ऋषियों की तुलना में कथमपि हीन नहीं हैं। अदिति का 'देवोत्पत्ति' सूक्त वैज्ञानिक चिन्तन के उत्कर्ष को प्रतिपादित करता है, तो वागाम्भृणी का 'वाक् सूक्त' आध्यात्मिक चिन्तन के प्रकर्ष को।

'नदी सूक्त' और 'रात्रि सूक्त' वैदिक नारी के प्रकृति प्रेम और प्रकृति के साथ अन्तरङ्ग तादात्म्य के मनोरम उदाहरण हैं ; जहाँ ऋषि और मन्त्र का प्रतिपाद्य, द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, दोनों एक हो जाते हैं। ऋषि ही नदी बनकर बहने लगती है, ऋषि रात्रि बनकर नक्षत्रों से ज्योतिष्मती हो उठती है, चराचर की आँखों में निद्रा बनकर उतर आती है; जहाँ द्वैत समाप्त हो जाता है, अद्वैत अनुभूति के उस अद्वितीय क्षण में ही वाणी मन्त्र बनकर, काव्य बनकर, चिरन्तन सत्य बनकर अवतरित होती हैं।

सांस्कृतिक संरचना में इन स्त्री ऋषियों के प्रत्यक्ष अवदान के साथ ही उन असंख्य ज्ञातनामा अथवा अज्ञातनामा स्त्रियों का अवदान भी निश्चय ही बहुमूल्य है; जिन्होंने इस आदर्श संस्कृति को अपने आचरण से, यथार्थ का ठोस धरातल प्रदान किया, जिनके सन्दर्भ वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों के आख्यानों में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं, यथा - पुरुमित्र की पुत्री शुन्ध्युव, वीराङ्गना व्रधिमती, सेनानी विश्पला, शक्तिरूपिणी हैमवती उमा, महीदास ऐतरेय की माता इतरा, कृष्णमाता देवकी, सत्यकाम जाबाल की जननी जबाला, उषस्ति चक्रायण की पत्नी आटिकी, ब्रह्मज्ञानी गाड़ीवान को ब्याही गई राजा पौत्रायण की पुत्री, सत्यकाम जाबाल की पत्नी, यम पत्नी, ऋषि परम्परा की सर्जिका ऋषि माताएँ तथा वैदिक संस्कृति को आध्यात्म के उच्चतम शिखरों तक ले जाने वाली मैत्रेयी तथा गार्गी वाचक्नवी जैसी ब्रह्मवादिनी विदुषियाँ।

* * *

खण्ड 2

संस्कृति-निर्मात्री स्त्रियाँ

1. रोमशा
2. लोपामुद्रा
3. नद्य: (नदियाँ)
4. अदिति 1 एवं अदिति 2
5. विश्ववारा आत्रेयी
6. शश्वती आङ्गिरसी
7. अपाला आत्रेयी
8. सिकता निवावरी
9. शिखण्डिनीद्वय
10. वसुक्रपत्नी
11. घोषा काक्षीवती
12. अगस्त्यस्वसा
13. सूर्या सावित्री
14. उर्वशी
15. दक्षिणा
16. सरमा
17. जुहू ब्रह्मजाया
18. वागाम्भृणी
19. रात्री भारद्वाजी
20. गोधा
21. इन्द्राणी 1, इन्द्राणी 2 (शची पौलोमी) एवं इन्द्राणी 3
22. श्रद्धा कामायनी
23. इन्द्रमातर:
24. यमी वैवस्वती
25. सार्पराज्ञी
26. श्री
27. लाक्षा
28. मेधा
29. उपनिषद् - निषद्
30. शुन्ध्युव
31. वध्रिमती
32. विश्पला
33. मुद्गलानी
34. आटिकी
35. जबाला
36. यम-पत्नी
37. उमा हैमवती
38. मैत्रेयी
39. गार्गी वाचक्नवी

1. रोमशा

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में सङ्कलित 126 वें सूक्त के 7वें मन्त्र की ऋषि रोमशा हैं। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व रोमशा ने एक विवाहिता पत्नी के सम्मान और अधिकारों को प्राप्त करने के लिये संघर्ष के स्वर को मुखर किया था।

इस स्त्री-पुरुषमयी सृष्टि में पुरुष; सृष्टि के प्रारम्भ से ही अपने शरीरबल, दृढ़ता, कठोरता, दुर्धर्षता आदि नैसर्गिक गुणों के कारण उच्चतर स्थान के अधिकारी हुये हैं। मानवीय सभ्यता के इतिहास में, सम्पूर्ण विश्व में स्थापित समाज-व्यवस्था अनायास ही 'पुरुष प्रधान समाज' के रूप में मान्य हुई है। प्रागैतिहासिक युग से अद्यतन युग तक समग्र विश्व; पुरुष की प्रभुता और श्रेष्ठता की ही प्रशस्ति करता आया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कितनी ही नारी प्रतिभाएँ समुचित अवसर और सामाजिक स्वीकृति के अभाव में अपरिचय के अन्धकार में विलीन हो गई हैं। हर युग में स्त्री को अपने अस्तित्व और सत्ता की पहचान बनाने के लिए अपनी आवाज़ बुलन्द करनी पड़ी है। ऐसा ही एक सशक्त स्वर है - ऋग्वैदिक युग की रोमशा का।

गन्धार देश रोमशा की जन्मभूमि थी। वे ऋषि बृहस्पति की पुत्री थीं। मन्त्रों का साक्षात्कार कर वे 'ब्रह्मवादिनी' के अभिधान से मण्डित हुई थीं।[1] रोमशा का बचपन गन्धार देश के रम्य नैसर्गिक परिवेश में मृदुल रोम वाले अवि-शावकों (भेड़ों के शिशुओं) के साथ क्रीड़ा करते हुए व्यतीत हुआ था। ' मैं रोमशा हूँ ' (अहमस्मि रोमशा) कहते हुये उन्होने स्वयं अपना परिचय दिया है, जिसमें उनके बाल्यकाल की स्मृतियाँ भी संरक्षित हैं।

ऋग्वैदिक युग में सिन्धु नदी के तट पर अवस्थित सिन्धु देश में एक अत्यन्त पराक्रमी और यशस्वी शासक हुये थे - स्वनय भावयव्य। भव्य के पुत्र होने के कारण इन्हें 'भावयव्य' कहा गया। गन्धार देश की कन्या, बृहस्पति-तनया रोमशा का विवाह इन्हीं भावयव्य से हुआ था।[2] भावयव्य ने यश की कामना से सहस्रों सोमयागों में याजकों को विपुल दान देते हुये द्युलोक तक अपनी कीर्ति का विस्तार किया था।[3] ऐसे दानशील राजा की प्रशंसा में ऋषि कक्षीवान् ने स्तोत्र रचना की थी।

---

1. रोमशा नाम ब्रह्मवादिनी। ऋग्वेद 1.126.7, सायण भाष्य।
2. बृहद्देवता 3.156 , वैदिक इण्डैक्स, भाग 2, पृष्ठ 254.
3. ऋग्वेद 1.126.1,2.

इसी स्तोत्र के अन्तर्गत 7वाँ मन्त्र रोमशा के नाम से निबद्ध है -

'मेरे समीप आओ (**उप उप**)। मेरा भली-भाँति स्पर्श (प्रगाढ़ आलिङ्गन) करो। मुझे अल्प रोमों वाली (**दभ्राणि**) अर्थात् अभिगम के अयोग्य न समझो। मैं गन्धार देश की अविका (भेड़ शावक) के समान रोमों वाली (पूर्णयौवना) हूँ।

रोमशा के मन्त्र में प्रयुक्त 'परामृश' शब्द का परमर्श अर्थ करते हुये मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है - 'मेरे समीप आकर मुझसे परामर्श लो। मेरे कार्यों ओर विचारों को तुच्छ (छोटा) मत समझो। मैं अपरिपक्व बुद्धि वाली नहीं, अपितु गन्धार देश की भेड़ के समान सर्वत्र रोमों वाली अर्थात् पूर्ण विकसित बुद्धि और परिपक्व विचारों वाली हूँ।'

ब्रह्मवादिनी रोमशा ने अपने इस एक ही मन्त्र द्वारा जीवन के गम्भीर सत्यों को रेखाङ्कित किया है -

1. गार्हपत्य धर्म के पालन के लिए, दो विपरीतलिङ्गीय शरीरों का एकप्राण, एकात्म होना ही विवाह है। ऐसा होने पर ही सृष्टि की चिरन्तन प्रक्रिया आगे बढ़ती है और गृहस्थाश्रम सबका पोषक आश्रम बन पाता है।

2. पति से शारीरिक और मानसिक सन्तुष्टि, प्रेम तथा सम्मान की प्राप्ति नारी का अधिकार है। पति का कर्तव्य है कि वह विभिन्न कार्यों में पत्नी से परामर्श ले तथा उसके अभिमत का सम्मान करे। रोमशा ने अपने सत्य आचरण, साहस और आत्मविश्वास से यह अधिकार पाया था।

मा मे दभ्राणि मन्यथा (मुझे छोटा मत समझना) **अहमस्मि रोमशा** (मैं रोमशा हूँ) आत्मविश्वास की ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति है; जिसने नारी को आद्याशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करते हुये अन्यायों और अत्याचारों से लड़ने का साहस दिया है।

ब्रह्मवादिनी रोमशा के सूत्ररूप में निबद्ध ये विचार विश्व-संस्कृति की वह आधारशिला हैं, जिन पर परिवार, समाज और राष्ट्र की सुख-शान्ति तथा समृद्धि का भव्य प्रासाद निर्मित होता है। समाज के अर्द्धाङ्ग की उपेक्षा या असहभागिता किसी भी राष्ट्र के पिछड़ेपन और पतन का प्रमुख कारण होती है। नारी का सम्मान और नारी के अधिकार राष्ट्र की उन्नत संस्कृति के परिचायक होते हैं।

* * *

2. लोपामुद्रा

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में सङ्कलित 179 वें सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों की ऋषि लोपामुद्रा हैं। एक शुद्धशीला ऋषिपत्नी के रूप में उनका व्यक्तित्व चिरस्मरणीय एवं प्रेरणास्पद रहा है। लोपामुद्रा महर्षि अगस्त्य की पत्नी हैं।

विश्व में जितने भी महामानव हुये हैं, उनकी महानता के पीछे किसी न किसी नारी की प्रेरणा, त्याग और समर्पण का भाव रहा है ; क्योंकि चिरन्तन काल से ही नारी-जाति की आशा-आकांक्षाओं और सुख-दु:ख के केन्द्र उसके पति, पुत्र और परिवार रहे हैं। नारी ने अपनी शक्ति और ऊर्जा के समग्र कोश को नि:स्वार्थभाव से इन्हीं के मङ्गल के लिए रिक्त किया है। उसके जीवन की हर साँस में इन्हीं की हितकामना रची-बसी है। पति के सुख-दु:ख के साथ उसका हृदय उच्छ्वसित और व्यथित हुआ है। सूर्य की प्रथम किरण के पहले से ही उसके दिवस का आरम्भ है और निशीथ की नि:स्तब्धता में अवसान। दया-करुणा, क्षमा-सहिष्णुता, वात्सल्य और कर्तव्यबोध के तगादे ने उसे क्षणभर ठहरकर अपनी ओर देखने का अवसर ही नहीं दिया है।

प्रौढ़ावस्था की दहलीज पर पहुँची हुई श्रान्त नारी ने जब स्वयं को देखा, तब पाया कि शक्ति क्षीण हो चुकी है और देह श्रीहीन। पति का प्रणय-निवेदन अब न तो रोमाञ्चित करता है और न ही आनन्दित ....बस, एक भावावेगहीन उदासीनता की अनुभूति....फिर भी है.... पतिपुत्रवती होने का आत्मसन्तोष; किन्तु ऐसी नारी जिसने यौवन में केवल पति की सेवा ही की, सौभाग्य नहीं पाया, उसकी मन:स्थिति कैसी होगी? ऐसी ही एक पतिपरायणा श्रान्त नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं - लोपामुद्रा ।

महर्षि अगस्त्य ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में स्थान पाने वाले कतिपय सूक्तों के द्रष्टा हैं। अगस्त्य को मैत्रावरुणि (मित्र और वरुण की सन्तान) 'मान' और 'मान्य' कहा गया है।[1] ऋग्वैदिक आख्यानों के अनुसार मित्र और वरुण के (उर्वशी क़ो देखकर कामभाव से स्खलित) वीर्य से कुम्भ में अगस्त्य का जन्म हुआ है।[2] दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति के प्रसार का श्रेय महर्षि अगस्त्य को दिया जाता है। पौराणिक

---

1. एष व: स्तोमो...मान्यस्य कारो:। ऋग्वेद 1.168.19
2. कुम्भे रेत: सिषिचतु: समानम्।
   ततो ह मान उदियाय मध्यात्। ऋग्वेद 7.33.13

अनुश्रुतियों के अनुसार अगस्त्य ने एक ही चुलुक में समुद्र का पान कर लिया था। उनके आदेश से उन्नतशिखर विन्ध्याचल अभी तक अपने मस्तक को अवनत किये खड़ा है। ऐसे महान ऋषि की महानता की पृष्ठभूमि में निश्चय ही, पति के अभ्युदय के लिए स्वयं को निःस्व बना देने वाली लोपामुद्रा रही हैं।

पति-प्रेम, घर-परिवार के इन्द्रधनुषी सपने संजोये लोपामुद्रा का अगस्त्य से विवाह हुआ। महर्षि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुये भी तप-साधना में लीन रहे। साधनापथ पर अग्रसर अपने महान पति के सेवा में समर्पित नववधू पति की सेवा सुश्रूषा ही करती रही। दिन और रात बीते। ऋतुएँ आईं और गईं। मधुमास भी प्रणय का सन्देश नहीं लाया। संवत्सर पर संवत्सर अतीत हुये। कालस्रोत अपनी गति से बहता रहा। जब सत्य का साक्षात्कार कर देवसान्निध्य और देवकृपा से मण्डित ऋषि साधना के ऊर्ध्व लोक से लौकिक धरातल पर अवतरित हुये; तब रुद्धवेग नद के समान काम ने उनके हृदय को आप्लावित कर दिया। उन्होने प्रणय निवेदन करते हुये कहा-

'लोपामुद्रा पति के साथ सङ्गत हो। अधीरा स्त्री धीर (महाप्राण) पुरुष का उपभोग करे।'[1]

किन्तु.... पति की वह अभिगमेच्छा[2] लोपामुद्रा को उच्छ्वसित नहीं कर पाई। अनजाने ही अन्तःकरण के किसी कोने में पुञ्जीभूत वेदना हृदय द्वार को विदीर्ण कर उमड़ पड़ी। अगस्त्य को सम्बोधित करते हुये उन्होने कहा -

'अनेक वर्षों तक; उषा की प्रथम किरण से लेकर रात्रि तक (दोषावस्तो) तुम्हारी सेवा में शक्ति का व्यय करती हुई मैं अब श्रान्त हो चुकी हूँ। जरिमा (वृद्धावस्था) शरीर-शोभा को म्लान कर देती है। अब पत्नी पति से क्या अभिगम करे -

अपि नु पत्नी वृषणो जगम्युः ?

'पुरातनकाल में भी जो ऋत (सत्यधर्म) के रक्षक ऋषि हुये हैं, जिन्होने देवों के साथ मिलकर सत्य का अन्वेषण और कथन किया है, उन्होने भी सृष्टि धर्म का पालन करते हुये वीर्य-सिञ्चन किया है। वे भी ब्रह्मचर्य का अन्त नहीं पा सके हैं अर्थात् काम को जीत नहीं सके हैं -

ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः।

स्त्रियों ने उन वीर्यवान् ऋषियों को पति रूप में वरण किया है।'

---

1. नदस्य मा रुधतः काम आगन्। ऋग्वेद 1.179.4
2. ऋतौ स्नातामृषिर्भार्यां लोपामुद्रां यशस्विनीम्।
उपजल्पितुमारेभे रहः संयोगकाम्यया। बृहद्देवता 4.57

लोपामुद्रा के ये मन्त्र उनके सुप्रसिद्ध पौराणिक व्यक्तित्व से हटकर; अन्य सभी ऋषिपत्नियों के हृदय से संवाद करते हुये स्त्री के कठोर कर्ममय अनुशासित जीवन के पीछे छिपी नारीसुलभ कोमल संवेदनाओं और जीवन के शाश्वत सत्यों की अभिव्यक्ति करते हैं।

उनकी दृष्टि में 'काम' जीवन का सत्य है, वह सनातन सृष्टि का प्रथम बीज है, जिसका अपलाप दिव्यगुण सम्पन्न ऋषि-मुनियों के लिये भी सम्भव नहीं है। लोपामुद्रा के अनुसार -

'ऋत की मर्यादाओं से बँधे काम के उपभोग के लिये आदर्श वय यौवन है; जब शरीर सुन्दर और मन उमङ्ग से भरा होता है। यौवन में देहधर्म का पालन करते हुये काम का उपभोग अवश्य करना चाहिए। स्त्रियाँ सदा से ही रेतस्-सम्पन्न पुरुषों से अभिगम की इच्छा रखती आईं हैं। सृष्टि के इस सनातन प्रवाह को तोड़ना या रोकना प्रकृति के विपरीत है।'

ऋग्वैदिक साक्ष्य[1] के अनुसार महर्षि अगस्त्य ने अपने वीर्यबल और देवकृपा से सन्तानों को उत्पन्न कर काम और तप दोनों का वरण किया था। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अगस्त्य लोपामुद्रा के यौवन और उमङ्ग को लौटा पाये थे ?

* * *

1. प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः ।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष। ऋग्वेद 1.179.6

3. नद्यः (नदियाँ)

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में 33 वें सूक्त के 4 (मन्त्रसंख्या 4.6.8.10) मन्त्रों की ऋषि नदियाँ हैं। 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' इस नियम के अनुसार यहाँ नदियों को ऋषि कहा गया है।[1] वस्तुतः यहाँ अज्ञातनामा स्त्री ऋषियों ने ही नदी के रूप में आत्मानुभव को व्यक्त किया है।

पञ्चमहाभूतों में परिगणित जल सृष्टिरचना के उपादानों में आद्यतम है। 'सलिलं सर्व मा इदम्'[2] 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्'[3], 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या'[4] आदि वचनों द्वारा श्रुति, स्मृति और साहित्य; जीवन के इस आद्य उपादान की ही महिमा कहते हैं।

इस पृथ्वी पर प्रवहमान मधुर जल का सर्वोत्तम स्रोत हैं - नदियाँ, जो मेघों के जल से पुष्ट होकर अपने पय से धरती को शस्य-श्यामल बनाती हुईं अनेक सभ्यताओं और संस्कृतियों को जन्म देती हुई विना थके, विना रुके निरन्तर बहती हुई समुद्र से जा मिलती हैं।

इतिहास साक्षी है कि विश्व की उदात्त सभ्यताओं और संस्कृतियों का जन्म नदियों के तट पर ही हुआ है; क्योंकि नदियाँ केवल भौतिक धरातल को ही उर्वर नहीं बनातीं, अपितु मानव के बौद्धिक और मानसिक धरातल को भी समृद्ध करती हैं; अतः ऋग्वेद नदियों के इस ऋण को स्वीकार करता हुआ कहता है -

उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत।[5]

(पर्वतों की उपत्यका और नदियों के सङ्गम पर विप्र धीसम्पन्न हुये हैं।)

प्राणिमात्र को जीवन देने वाली मातृभूता नदियाँ, अग्नि आदि देवों के समान ही ऋग्वैदिक ऋषियों की श्रद्धा और स्तुति का विषय रही हैं। अतः ऋग्वेद में नदियों की स्तुति में कई सूक्त पाये जाते हैं। इन नदी-

---

1. अत्र चतुर्थीषष्ठ्यष्टमीदशमीनां नदीवाक्यत्वान्नद्य एव ऋषयः। ऋग्वेद 3.33 पर सायणभाष्य
2. ऋग्वेद 10.129.3
3. मनुस्मृति 1.8
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1.1
5. ऋग्वेद 8.6.28

सूक्तों में अन्यतम है - 'विश्वामित्र-नदी संवाद' जो ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में 33 वें सूक्त के रूप में संगृहीत है।

ऋषि विश्वामित्र के साथ नदियों के संवाद का प्रसङ्ग इस प्रकार है - विश्वामित्र राजा पैजवन सुदास के पुरोहित थे। एक बार वे पौरोहित्य से प्राप्त धन को लेकर रथ से विपाशा और शुतुद्रि नदियों के सङ्गम पर पहुँचे। नदियाँ अपने प्रबल वेग से उफन रही थीं। नदी को सकुशल पार करने की इच्छा से विश्वामित्र ने दोनों नदियों की स्तुति की और जल के वेग को कम करने की प्रार्थना की। एक वात्सल्यमयी माता के समान नदियों ने अपने जलस्तर को कम किया; जिससे ऋषि के अनस् (शकट) और रथ नदी को पार कर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकें।

सूक्त के प्रारम्भ की ऋचाओं में विश्वामित्र विशाल जलराशि से परिपूर्ण, पर्वत की गोद से निकलकर बन्धनमुक्त अश्वों के समान तीव्रगति से समुद्र की ओर दौड़ती हुई व्यास और शुतुद्री (सतलज) नदियों का काव्यात्मक वर्णन एवं स्तुति करते हैं। ऋषि के स्तुति वचनों को सुनकर दोनो नदियाँ कहती हैं -

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।

'हमारा यह गमनरूप उद्योग रुकने वाला नहीं है, फिर किसलिए यह विप्र हम नदियों को पुकार रहा है ?' ॥4॥

नदियों के इन वचनों को सुनकर ऋषि विश्वामित्र अपना परिचय देते हुये नदियों से क्षणभर के लिए रुक जाने की प्रार्थना करते हैं।

तब नदियाँ अपने धर्म से विरत होने में असमर्थता व्यक्त करते हुये कहती हैं -

'नदियों को रोकने वाले वृत्र को मारकर वज्रबाहु इन्द्र ने हम नदियों को खोदा है। सम्पूर्ण संसार के प्रेरक, सुपाणि, सुन्दर रश्मियों वाले सविता देवता हमें इस पृथ्वी पर लाये हैं। उनकी आज्ञा से हम जल से पुष्ट होकर जा रही हैं, हमारे लिए रुकना सम्भव नहीं है।'॥6॥

तब विश्वामित्र नदियों को प्रसन्न करने के लिए उनके जन्मदाता इन्द्र की स्तुति करते हैं। नदियाँ इन्द्र की स्तुति को सुनकर विश्वामित्र से कहती हैं -

' हे स्तोता (जरितः)! तुम अपने इन उद्भाषित वचनों को (काम पूरा हो जाने पर)विस्मृत न कर देना। आने वाले युगों में यज्ञों में मन्त्रों से हमारी सेवा करना। पुरुषों द्वारा प्रवर्तित कर्मों में हमारा अनादर न करना। हे ऋषि ! तुम्हें नमस्कार है।' ॥8॥

तब विश्वामित्र प्रयोजनसिद्धि के प्रति आशान्वित होकर दोनों नदियों से अपने जलस्तर को नीचा कर, रथचक्र के अक्ष के नीचे से बहने की प्रार्थना करते हैं।

स्नेहरस से भरी नदियाँ अपने गमन रूप कर्तव्य से विरत हुये बिना ही सहृदयता पूर्वक ऋषि की प्रार्थना को स्वीकार करते हुये कहती हैं -

'हे कारु (स्तोता)! हमने तुम्हारी सारी बातें सुनीं। तुम दूर से आये हो। रथ और शकट के साथ गमन करो। जैसे शिशु को स्तनपान कराने के लिए माता अथवा प्रिय का आलिङ्गन करने के लिए युवती झुक जाती है; वैसे ही हम भी तुम्हारे लिए अवनत होती हैं।'।10॥

नदियों के संवेदनशील कोमल हृदय को उन्मीलित करने वाला यह एक अद्वितीय सूक्त है, जिसमें आगामी युगों के लिए इन स्रोतस्विनियों के प्रति मानवीय कर्तव्य का निर्देश भी है और चेतावनी भी। जल से परिपूर्ण नदियों की गति ही नदियों का जीवन है। बड़े-बड़े बाँधों द्वारा नदियों का अवरोध न केवल नदीधर्म का विरोधी है; अपितु नदी के साथ मानव के लिए भी महाविनाश का वाहक है।

राष्ट्र की इन जीवनरेखाओं के संरक्षण के लिए इन्द्र के समान इनके तल का खनन आवश्यक है। इनके प्रति पूज्य भावना और देवत्व की कल्पना के साथ यज्ञों में हवि देकर ही जलचक्र के प्रवर्तन द्वारा नदियों को और इनके साथ ही मानवीय अस्तित्व को बचाया जा सकता है।

आज से हज़ारों वर्ष पूर्व नदियों के विषय में ऐसे महनीय भावों को अभिव्यक्त करने वाली ब्रह्मवादिनी ऋषि समग्र विश्व के लिए वन्दनीय हैं।

* * *

4 . अदिति

वैदिक संस्कृति के निर्माता ऋषियों में एक बहुश्रुत नाम अदिति का भी है। देवपूजक वैदिक संस्कृति में अदिति 'देवमाता' के रूप में सम्मान्य हैं। इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि देव अदिति के अभिधान से ही 'आदित्य' संज्ञा को प्राप्त हुये हैं। अदिति प्रजापति दक्ष की पुत्री हैं। अत: इन्हें 'दाक्षायणी' भी कहा गया है। पौराणिक मान्यता के अनुसार प्रजापति दक्ष ब्रह्मा के पुत्र थे। उनकी दनु, दिति, अदिति आदि कई कन्यायें थीं, जिनमें से दिति से दैत्यों की तथा अदिति से आदित्यों (देवों) की उत्पत्ति हुई थी।

ऋग्वेद में अदिति एक देवी के रूप में वर्णित हुई हैं। 'अदिति' यह नाम लगभग 80 बार आया है तथा अपने पुत्र आदित्यों के साथ ही इनका आवाहन किया गया है। इन्हें 'राजमाता'[1], 'श्रेष्ठ पुत्रों वाली'[2] और 'वीर पुत्रों वाली'[3] कहा गया है। देवी अदिति से प्राय: विपत्तियों और पापों से रक्षा तथा पूर्ण सुरक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।[4] यास्क अदिति को देवों की महान माता कहते हुये अन्तरिक्षस्थानीय देवों में उनकी गणना करते हैं।[5] मैक्समूलर के अनुसार अदिति दृष्टि की सीमा से परे पृथ्वी के अनन्त विस्तार, मेघों तथा आकाश को व्यक्त करने वाला प्राचीनतम नाम है।[6] पिशेल के अनुसार अदिति पृथिवी का प्रतिनिधित्व करती हैं।[7] ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित 72 वें सूक्त की ऋषि अदिति हैं।

ऋग्वैदिक सन्दर्भों के अनुसार देवमाता अदिति ने अपनी ही महिमा से शोभित स्वराट् इन्द्र के लिए उत्कृष्ट बहुप्रशंसित स्तोत्र की रचना की थी -

उत स्वराजे अदितिः स्तोममिन्द्रायऽजीजनत् ।[8]

---

1. पिपर्तु नो अदिति राजपुत्रा। ऋग्वेद 2.27.7
2. ऋग्वेद 3.4.11
3. अथर्ववेद 3.8.3, 11.1.11
4. ऋग्वेद 1.194.15
5. (क) अदितिरदीना देवमाता। निरुक्त 4.22
   (ख) अथातो मध्यमस्थाना: स्त्रिय:। तासामदिति: प्रथमगामिनी। निरुक्त 11.22
6. वैदिक हिम्स, सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, 32, पृष्ठ 241
7. वेदिशे स्टूडियन -2 पृष्ठ 36
8. ऋग्वेद 8.114

देवी अदिति ने सृष्टि के अभिप्रेरक प्रकाशपुञ्ज सूर्य की भी स्तुति की है -

अभि यं देव्यदितिर्गृणाति ।[1]

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में सङ्कलित 18 वें सूक्त के 13 वें मन्त्र में से 3.5 मन्त्रों की ऋषि भी अदिति हैं। यह सूक्त इन्द्र-वामदेव-अदिति संवाद के रूप में प्रस्तुत है। आर्षानुक्रमणी में इस संवाद के प्रसङ्ग में इन्द्र जन्म की एक कथा उद्धृत की गई है।

माता के गर्भ में दीर्घकाल तक रहकर वृद्धि को प्राप्त असह्य तेज वाले इन्द्र; जन्म के लिए नैसर्गिक योनिमार्ग को छोड़कर उदर के पार्श्वभाग से निर्गत होना चाहते हैं। माता की मृत्यु का कारण बनने वाले इस कृत्य से इन्द्र को विरत करते हुये; वामदेव मुनि एवं अदिति इन्द्र को समझाते हैं।[2] इन्द्र के जन्म के पश्चात् माता अदिति इन्द्र के पराक्रम की प्रशंसा और अपने पुत्र की स्तुति करती हैं। इस सूक्त में सङ्कलित तीन ऋचायें और एक अर्द्ध ऋचा ही वैदिक आयुर्विज्ञान के उत्कर्ष को सूत्र रूप में, स्वयं में संजोये होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

ऋग्वेद (8.12.14) में, अपने स्वराज पुत्र इन्द्र की प्रशंसा में रचित देवी अदिति के जिस उत्कृष्ट स्तोम की चर्चा है, वह स्तोम इन्हीं भावों का व्यञ्जक हो सकता है।

प्रस्तुत संवाद सूक्त में अदिति के संवाद से पूर्व समागत 3.5 मन्त्र गर्भस्थ इन्द्र और ऋषि वामदेव के वार्तालाप के रूप में निबद्ध हैं। वामदेव चतुर्थ मण्डल के ऋषि हैं, जो वंशमण्डल के अन्तर्गत आता है। चतुर्थ मण्डल के पूर्वार्द्ध में जब वामदेव ऋषि इन्द्र पर आक्षेप करते हुये कहते हैं कि माता अदिति ने इन्द्र को सहस्रों मासों और अनेक संवत्सरों तक अपने गर्भ में धारण किया था, फिर इन्द्र ने माता को क्लेश देने वाला कार्य क्यों किया ? तब माता अदिति इस आक्षेप के उत्तर में वामदेव को सम्बोधित करते हुये कहती हैं -

'हे वामदेव! जो देवादि उत्पन्न हुये हैं और जो उत्पन्न होंगे, उनके साथ इन्द्र की तुलना नहीं हो सकती।' (इन्द्र अतुलनीय हैं, उनका प्रतिमान न है और न ही भविष्य में होगा।) ॥4॥

माता; जन्म से ही तेजस्वी पुत्र की प्रशंसा में, इन्द्र जन्म के अनुभवों का स्मरण करते हुये कहती हैं-

'दीर्घकाल तक गर्भरूपी गुहा में स्थित इन्द्र को असह्य (अवद्य), निन्दनीय या कष्ट देने वाला मानते हुये माता ने बलपूर्वक बाहर निकाल फेंका था -

---

1. ऋग्वेद 7.38.4
2. अञ्जसा न जानिष्येऽहं ब्रुवाणं गर्भमेव तु।
   अनवशाददितिः पुत्रम् इन्द्रमात्महितैषिणी ॥ बृहद्देवता 4.130.131

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम् ।

तब वह शिशु अपने तेजोमण्डल को धारण कर स्वयं ही उठ खड़ा हुआ था - **उदस्थात्स्वयमुत्कं वसानः ।**

उत्पन्न होते ही उसने द्यावापृथ्वी को अपने तेज से भर दिया था-

आरोदसी अपृणात् जायमानः ।'॥5॥

प्रस्तुत मन्त्र में शिशु-प्रजनन की प्रक्रिया की ओर सङ्केत है। सामान्यतः शिशु निश्चित अवधि तक माता के गर्भ में रहकर योनिमार्ग से जन्म लेते हैं। असामान्य शिशुओं के गर्भावास का काल अधिक हो सकता है। इन्द्र के गर्भवास का समय और वृद्धि सामान्य शिशुओं से अधिक थी। इस कारण अदिति को गर्भावस्था के दौरान कष्ट सहना पड़ा था। प्रसव के समय माता की मृत्यु की सम्भावना भी थी। योनिमार्ग से न निकलकर पार्श्वभाग से निकलने का इन्द्र का विचार सम्भवतः शल्यक्रिया से शिशु को निकालने की प्रक्रिया की ओर सङ्केत करता है, किन्तु स्वाभाविक प्रसव ही उत्तम माना गया था और माता भी यही चाहती थीं; अतः उन्होने अपनी सम्पूर्ण शक्ति इन्द्र को गर्भ से बाहर निकालने में लगा दी थी; जैसा कि 'वीर्येण न्यृष्टम्' से सङ्केत मिलता है।

अग्रिम मन्त्र में अपने पुत्र इन्द्र के सर्वश्रेष्ठ परक्रम वृत्र के वध और नदियों के प्रवाह का उल्लेख करते हुये अदिति कहती हैं -

'ये जलवती (ऋतावरी) नदियाँ अ-ल-ला शब्द करती हुई (मानों इन्द्र के महत्व को प्रकट करने के लिए) ध्वनि करती हुई बहती हैं। हे ऋषि ! इन नदियों से पूछो, ये क्या कहती हैं ? -

एता विपृच्छ किमिदं भनन्ति ।

मेरे पुत्र ने ही जल के आवरक मेघ को विदीर्ण कर जलों को प्रवाहित किया है।'॥6॥

वस्तुतः नदियों का अनवरत नाद अपने सृष्टिकर्ता की स्तुति ही तो है। जलप्रवाह की ध्वनि को यहाँ 'अ-ल-ला' कहा गया है। सम्भवतः इसी से परवर्ती युग में नदियों की कल-कल ध्वनि की कल्पना विकसित हुई है। नदियों की भाषा को एक स्त्री का संवेदनशील हृदय ही समझ सकता है।

सातवें मन्त्र में पुनः इन्द्र के इसी पराक्रम का प्रकारान्तर से निरूपण करती हुई अदिति कहती हैं -

'इस इन्द्र के लिए निवित् क्या कहती है ? जल; फेन रूप में इन्द्र के (ब्रह्महत्या रूपी) अवद्य (पाप) को धारण करता है। मेरे पुत्र इन्द्र ने अपने महान शस्त्र वज्र से वृत्र का वध कर इन नदियों को प्रवाहित किया है।'॥7॥

अदिति के अनुसार इन्द्र की स्तुति में कहे गये सूक्त तो इन्द्र के पराक्रम का बखान करते ही हैं, निविद् भी इन्द्र के कार्यों की प्रशंसा करते हैं। 'निविद्' उन मन्त्रों को कहा जाता है, जिनमें किसी एक पद या मन्त्र के चतुर्थांश में किसी देवता की उसके कर्म द्वारा स्तुति की जाती है। वस्तुतः निविद् अतिसंक्षिप्त स्तुतियाँ हैं।[1]

इस प्रकार अभिव्यक्ति की नवीनता को लिये हुये देवमाता अदिति के ये कतिपय मन्त्र ही इन्द्र को सभी देवों में अप्रतिम सिद्ध करते हैं। अपनी सन्तान के गुणों पर मुग्ध वात्सल्य-पूर्ण मातृहृदय की सहज निश्च्छल अभिव्यक्ति भी इन मन्त्रों में हुई है।

अदिति- 2

ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित 72 वें सूक्त की ऋषि भी दक्षपुत्री अर्थात् अदिति दाक्षायणी हैं। अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध नव मन्त्रात्मक इस सूक्त में देव जन्म की कथा स्वयं देवमाता के मुख से कही गई है। सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत देवसृष्टि का वर्णन इस सूक्त का मुख्य प्रतिपाद्य है।

दक्ष दुहिता अदिति देवजन्म का वृत्त इस प्रकार प्रस्तुत करती हैं -

'हम देवों के जन्म को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं। वेद-मन्त्रों में निहित इस ज्ञान को आने वाले युगों में (उत्तरे युगे) कोई भी साक्षात् देखेगा (पश्यात्)।' ॥1॥

अदिति का अभिप्राय यह है कि पूर्व युग में निबद्ध यह ज्ञान उत्तर युग में प्रयोग- सिद्ध विज्ञान द्वारा साक्षात् देखा जायेगा।

'बृहस्पति ने लुहार के समान इन देवों को प्रज्ज्वलित किया -

कर्मार इवाधमत।

जैसे कि कर्मार (लुहार) धौंकनी से अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है। देवों के पूर्व युग में (आदि सृष्टि के समय) असत् से सत् उत्पन्न हुआ।' ॥2॥

असत् से यहाँ अभिप्राय नाम-रूप विवर्जित उपादान कारण रूप 'ब्रह्म' से है। इस अव्यक्त ब्रह्म से 'सत्' अर्थात् नामरूप विशिष्ट या 'व्यक्त' देवादि उत्पन्न हुये।

'देवों के उस प्रथम युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ-

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।

इसके बाद दिशायें उत्पन्न हुईं। तदनन्तर ऊपर की ओर विस्तार प्राप्त करने वाली (उत्तानपाद) वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं।'॥3॥

---

1. वैदिक इण्डैक्स, भाग 1, पृष्ठ 510

'वनस्पतियों से भूमि उत्पन्न हुई, भूमि से दिशायें। अदिति से दक्ष उत्पन्न हुये और दक्ष से अदिति उत्पन्न हुईं।' ॥4॥

यह कथन विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु परस्पर एक-दूसरे के प्रति कारण होने के कारण विरोध समाप्त हो जाता है। जैसे कहें कि वृक्ष से बीज उत्पन्न हुआ और बीज से वृक्ष, मेघों से समुद्र उत्पन्न हुआ और समुद्र से मेघ। वस्तुत: अदिति का यह कथन सृष्टि-चक्र की निरन्तरता और एक-दूसरे के प्रति कार्य-कारण भाव को सूचित करता है।

जो आज पुत्र है, वह कल पिता बनकर पुत्र को जन्म देता है। दक्ष अदिति को जन्म देते हैं, अदिति माता बनकर ऐसे शिशु को जन्म देती हैं, जो दक्ष के समान कन्या का पिता बनता है।

अग्रिम मन्त्र में अदिति कहती हैं -

'हे दक्ष! तुम्हारी जो पुत्री थी- अदिति, उन्होंने देवों को जन्म दिया। वे देव स्तुत्य (स्तुति के योग्य) कल्याणमय (भद्र) और अमृतबन्धु हैं।'॥5॥

'हे देवो! जिस समय तुम इस जल में उत्तम रीति से स्थित हुये, तब नृत्य करते हुये के समान तुम्हारे उत्साहपूर्ण घूर्णन से दु:सह धूलि उठी -

नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपातयत।'॥6॥

'मेघों के समान देवों ने (यतयो यथा) भुवनों को अपने तेज से परिपूर्ण किया। समुद्र (आकाश) में निगूढ़ सूर्य का प्रात:काल उदित होने के लिए आवाहन किया।' ॥7॥

'अदिति से जो आठ पुत्र उत्पन्न हुये, उनमेंसे सात पुत्रों के साथ वह देवलोक में गई और आठवें मार्ताण्ड (सूर्य) को आकाश में छोड़ दिया।' ॥8॥

'पूर्व युग में अदिति सात पुत्रों के साथ चली गईं। प्राणियों के जन्म और मृत्यु के लिए मार्ताण्ड को द्युलोक में स्थापित किया -

प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत्।'॥9॥

देवजन्म के वृत्त का वर्णन करने वाली ऋषि अदिति जगत् सृष्टि की मीमांसा करने वाली विश्व की प्रथम महिला दार्शनिक होने के साथ ही प्रथम महिला वैज्ञानिक भी हैं, जिन्होंने सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया को क्रमबद्ध रूप से उपस्थापित किया है।

* * *

5. विश्ववारा आत्रेयी

इस मरणशील देह से परे अमृत और अनश्वर की खोज चिरन्तन काल से ही मानवीय साधना का विषय और जीवन का लक्ष्य रहा है। उस अमृत तत्व के ही प्रकाशक अग्नि की स्तुति में ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल में सङ्कलित 28 वें सूक्त की ऋषि विश्ववारा आत्रेयी हैं। 'विश्ववारा' उनका नाम है और 'आत्रेयी' गोत्रनाम, जो उन्हें अत्रि ऋषि से जोड़ता है; जैसाकि भाष्यकार सायण ने कहा है -

अत्रिगोत्रोत्पन्ना विश्ववारा नामिका अस्य सूक्तस्य ऋषिः ।

यह सम्बद्धता वंशगत भी हो सकती है और विद्यागत भी। कहा जाता है कि अत्रि ऋषि की पत्नी अनसूया ने अपने तपोबल से मन्दाकिनी नदी प्रवाहित की थी, आत्रेयी विश्ववारा ने भी पावन वाग्धारा प्रवाहित की है।

इस सूक्त के देवता अग्नि हैं, जिनकी वन्दना क्रमशः त्रिष्टुप् , जगती और अनुष्टुप् छन्दों में निबद्ध मन्त्रों द्वारा की गई है। मन्त्र के भाव इस प्रकार हैं -

'समिधाओं से भलीभाँति प्रज्ज्वलित प्रदीप्त अग्नि प्रकाशमान आकाश में (दिवि) अपने तेज को प्रकाशित करते हैं। वे प्रात:काल उषा के सम्मुख विस्तार प्राप्त कर विशेष रूप से शोभित होते हैं (प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया विभाति)। ॥1॥

उस समय स्तोत्रों से देवताओं की वन्दना करती हुई विश्ववारा घृतयुक्त स्रुवा और हवि लिए हुये पूर्व दिशा में अग्नि के अभिमुख जाती हैं -

एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईडाना हविषा घृताची ।

प्रज्ज्वलित अग्नि की लपटें निरन्तर ऊपर की ओर उठती हैं और शून्य में विलीन होती रहती हैं। 'अहं के परित्याग और अस्मिता के विलय के साथ उस परमतत्व में लय' का इससे सुन्दर उदाहरण और क्या हो सकता है ? अग्नि की यह ऊर्ध्वगामी शिखा मानो कहती है - 'जहाँ से यह सृष्टि है; उसी में विलय है और जहाँ से यह जीवन है; वहीं विसर्जन है।'

सृष्टि के इस इङ्गित को समझकर विश्ववारा घृत और हविष्य के साथ पूर्व दिशा की ओर अभिमुख होती हैं, उस तेज:पुञ्ज, जगत् की आत्मा सूर्य की वन्दना के लिए और उस समिद्ध अग्नि को हवि देने के लिए।

सूक्त के द्वितीय मन्त्र में अग्नि की स्तुति करते हुये ऋषिका कहती हैं -

समिध्यमाना अमृतस्य राजसि ।

हे प्रज्ज्वलित अग्नि ! तुम अमृत के प्रकाश हो । हव्यदाता यजमान को तुम स्वस्ति (कल्याण) से युक्त करते हो । तुम जिस पर कृपा करते हो, वह सभी प्रकार के धन-धान्य से सम्पन्न होता है -

विश्वं धत्ते द्रविणम् ।

वह (यजमान) आतिथ्य योग्य हव्य को तुम्हारे सम्मुख प्रस्तुत करता है ॥2॥

वस्तुत: यह अग्नि उसी परमतत्त्व का प्रकाश है, जिसे 'अमृतस्येशान:'[1] कहा गया है । अमृत का स्वामी वह परम पुरुष, जिसकी आभा से आलोकित है - भुवनत्रय, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र । जैसा कि उपनिषदों के ऋषियों ने कहा है -

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।[2]

तृतीय मन्त्र में प्रार्थना है -'महते सौभगाय' । महत् सौभाग्य के लिए ऋषि विश्ववारा कहती हैं -

'हे अग्नि ! तुम महान सौभग के लिए हमारे (आभ्यन्तर) शत्रुओं का दमन करो । तुम्हारा तेज उत्तम हो । हमारे जास्पत्य (दाम्पत्य) को सुदृढ़ करो । शत्रुओं के तेज को अभिभूत करो ।' ॥3॥

सुभग का भाव ही 'सौभग' है । इससे सौभाग्य शब्द बना है । 'सौभग' स्त्री-पुरुष का वह आन्तरिक प्रेम है, जिसे पाने की कामना हर युग में की गई है ।[3]

इसी सौभग को प्राप्त करने की कामना अग्नि देवता से है, अग्नि देवता जो उत्तम तेज से विराजमान हैं, वे ही तो दे सकते हैं काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं से लड़ने की शक्ति, वह आत्मिक तेज या सौन्दर्य जो प्रिय के सौभग को प्राप्त कर पाता है । इसी मन्त्र में एक दूसरी प्रार्थना भी है -

सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व ।

हे अग्निदेव! हमारे जास्पत्य[4] जाया(पत्नी) और पति के सम्बन्ध को सुदृढ़ करो ।

---

1. ऋग्वेद 10.90.2
2. कठोपनिषद् 2.5.15
3. महाकवि कालिदास ने सौभाग्य को समस्त सौन्दर्य का फल माना है -
   प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता । कुमारसम्भवम् 5.1
   पार्वती की कठोर तपस्या इसी 'सौभग' या 'सौभाग्य' की प्राप्ति के लिए है ।
4. जाया च पतिश्च जायापती तयो: कर्म जास्पत्यम् । ऋग्वेद 5.28.3 पर सायण भाष्य ।

चतुर्थ मन्त्र में विश्ववारा कहती हैं - 'हे तेज से दीप्यमान अग्नि ! हम तुम्हारी श्री, लोकमङ्गलकारी सौन्दर्य, समृद्धि और वैभव की वन्दना करते हैं -

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम् ।

क्योंकि तुम (वृषभो द्युम्नवाँ असि) 'वृषभ' हो, कामनाओं की वर्षा करने वाले, शिव के वाहक।' ॥4॥

पञ्चम मन्त्र में ऋषिका कहती हैं -

'हे समिद्ध ! (समिधाओं से भलीभाँति प्रज्ज्वलित) यज्ञकर्ताओं से आहुत (आहुति प्राप्त), सुअध्वर (शोभन यज्ञ को सम्पादित करने वाले) अग्नि ! देवताओं के लिए हमारे यज्ञ को सम्पन्न करो। यह सामर्थ्य केवल तुम में ही है, क्योंकि तुम हव्यवाह हो -

त्वं हि हव्यवाडसि ॥5॥

सभी देवों तक हवि पहुँचाने के माध्यम, यज्ञकर्म के अधिष्ठाता अग्नि ही हैं।

इस पृथ्वी पर जल तभी हो सकता है, जब मेघ हों। मेघों का निर्माण अग्नि द्वारा शोषित जल वाष्प से ही सम्भव है। इस सृष्टि विज्ञान को विश्ववारा जानती हैं; अत: 'स्वस्ति' के लिए इस सृष्टि के शोभन-सुन्दर अस्तित्व के लिए अग्नि को हवि देने का आग्रह करती हैं -

हविष्कृणवन्तं सचसे स्वस्तये ।

अन्तिम मन्त्र में समग्र विश्व के लिए वैदिक धर्म का महान सन्देश है -

हे विश्वमानव ! यज्ञ में अग्नि के प्रज्वलित होने पर अग्नि के लिए हवि दो। अग्नि की परिचर्या करो-

आ जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे।

इस हव्यवाहन का (आराध्य के रूप में) वरण करो -

वृणीध्वं हव्यवाहनम् ॥6॥

विश्ववारा का यह अग्निसूक्त भारतीय चिन्तन के निम्नलिखित उदात्त पक्षों को उद्घाटित करता है-

1. निसर्ग और उसकी समृद्धि हमारे लिए उपभोग की नहीं, वन्दना की वस्तु है। मानव प्रकृति का अङ्ग है, उसका प्रभु नहीं।
2. जिन दिव्य शक्तियों ने इस सृष्टि में जीवन को सम्भव बनाया है, उसके प्रति यह मानव जाति ऋणी है, उनके ऋण से उऋण होना तभी सम्भव है, जब हम देव-यज्ञ को सम्पादित करें। स्त्री-पुरुष दोनों की दिनचर्या ही इस पवित्र भाव और कार्य से आरम्भ होनी चाहिए।

3. विवाह जैसे मधुर बन्धन और गृहस्थ जैसे पवित्र आश्रम का आधार धर्म- सम्मत संयमपूर्ण दृढ़ सम्बन्ध हैं। इस सृष्टि की चिरन्तन प्रक्रिया को अनवछिन्न रखना ही इसका लक्ष्य है, शरीर-सुख और भोग-विलास नहीं।

4. यज्ञ-धर्म ही इस सृष्टि का सनातन धर्म है, जो ऋत का पालक और ऋतुचक्र का नियन्त्रक है।

स्त्री ऋषियों में विश्ववारा ही एकमात्र ऐसी ऋषि हैं, जिन्हें वंशमण्डल में स्वतन्त्र स्थान मिला है। तृतीय मण्डल की नदियाँ और चतुर्थ मण्डल की अदिति संवादसूक्तों के कतिपय मन्त्रों की ही ऋषि हैं। अपने महान विचारों से भारतीय संस्कृति को विश्ववरणीय बनाते हुए विश्ववारा ने अपने नाम को सार्थक किया है।

* * *

6. शश्वती आङ्गिरसी

अनन्य भाव से पतिसेवा और पातिव्रत्य धर्म का पालन भारतीय संस्कृति में स्त्रियों का प्रमुख धर्म माना गया है। पौराणिक कथायें और धर्मशास्त्रीय विधान इस पर विशेष बल देते हैं। परिवार की सुख-शान्ति और समृद्धि का आधार इसे ही माना गया है। महर्षि च्यवन की पत्नी सुकन्या, सत्यवान् की पत्नी सावित्री, वशिष्ठ की सहधर्मिणी अरुन्धती, अत्रिपत्नी अनसूया आदि स्त्रियाँ पतिसेवा का आदर्श मानी गई हैं। इनके साथ ही एक अग्रगण्य नाम है - शश्वती का, जिन्होंने अपनी तपःसाधना और अश्रान्त सेवा से, देवशापवश नपुंसक हुये अपने पति को पुनः पौरुषयुक्त किया था।

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के प्रथम सूक्त में 34वें मन्त्र की ऋषि शश्वती आङ्गिरसी हैं। इनका नाम 'शश्वती' और गोत्रनाम 'आङ्गिरसी' है; जो ऋषि अङ्गिरसों की प्रख्यात परम्परा से उन्हें सम्बद्ध करता है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में निबद्ध सूक्तों के दर्शन का श्रेय इसी ऋषि परम्परा को है।

अङ्गिरसों का उल्लेख प्रायः बहुचवन में एक समूह के रूप में हुआ है। इन्हें आकाश का पुत्र (दिवस्पुत्राः), सत्य के व्याख्याता (ऋतं शंसन्तः), मेधावी, महाबली (असुरस्य वीराः), यज्ञ विधान के प्रथम विचारक[1],पुरोहितों में ब्रह्मा[2] आदि कहा गया है। बहुसंख्यक ऋग्वैदिक मन्त्रों के अनुसार इन्होने ही सर्वप्रथम वनों में निगूढ अग्नि को प्राप्त किया था।[3] अङ्गिरसों ने इन्द्र के सख्य और अमृतत्व को अधिगत किया था।[4] इसी महान परम्परा से सम्बद्ध शश्वती ने पतिसेवा का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत कर, मन्त्रदर्शन से जीवनसत्य का साक्षात्कार कर, अपने नाम को शाश्वत बनाते हुये पिता प्रदत्त 'शश्वती' नाम को सार्थक किया था।

शश्वती का विवाह यदुजन[5] के राजा आसङ्ग प्लायोगि से हुआ था। 'प्लायोगि' आसङ्ग का पैतृक नाम था। आसङ्ग एक दानशील राजा थे। अपने पुरोहित मेधातिथि को विपुल धनराशि और दस सहस्र गौयें दान कर वे दानियों में श्रेष्ठ हुये थे।[6]

---

1. विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त। ऋग्वेद 10.67.2
2. प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षन्त। ऋग्वेद 7.42.1
3. त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहाहितमन्वविन्दन्। ऋग्वेद 5.11.6
4. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश। ऋग्वेद 10.62.1
5. ऋग्वेद 8.1.31
6. अध प्लायोगिरतिदासदन्यानासङ्गो....दशभिः सहस्रैः। ऋग्वेद 8.1.33

एक अनुश्रुति के अनुसार किसी कारणवश देवशाप से राज आसङ्ग नपुँसक हो गये। शश्वती ने अपने महान तप से इन्हें पुनः पुँसत्वयुक्त किया था। अनुक्रमणियों के आधार पर, सायण ने शश्वती के मन्त्र का भाष्य इसी देवशाप के सन्दर्भ में किया है। अपने तप से पुनः पुँसत्वयुक्त पति को रात्रि में देखकर शश्वती अत्यन्त प्रसन्न हुईं और इस मन्त्र से उनकी स्तुति करती हुई बोलीं -

'इनके आगे (पुँसत्व का सूचक) स्थूल अङ्ग दिखाई दे रहा है (अनुदद्दशे)। वह अस्थिरहित विशाल और नीचे की ओर लम्बमान है। आङ्गिरस की पुत्री, आसङ्ग की भार्या शश्वती नारी ने उसे देखकर कहा, हे आर्य! (स्वामि) तुम अतिशय कल्याणकारी (सुभद्र) भोगसाधन को धारण करते हो।'॥34॥

शश्वती की दीर्घ साधना फलीभूत हुई, देवशाप देवकृपा में परिवर्तित हुआ। यह शश्वती के जीवन का सर्वोत्तम क्षण था। नारीधर्म के निकष पर वे उज्ज्वल स्वर्ण के समान सर्वथा शुद्ध सिद्ध हुई थीं, अतः शश्वती का आह्लाद छन्द बनकर अभिव्यक्त हुआ है -

शश्वती नार्यभिचक्ष्याह।[1]

नारीधर्म की इस सिद्धि के साथ ही सम्भवतः शश्वती के नाम के साथ 'नारी' यह अभिधान भी जुड़ गया है।

* * *

---

1. पत्नी चास्याङ्गिरसी शश्वती पुंसत्वम् उपलक्ष्येनं प्रीत्या अन्त्या तुष्टाव। ऋग्वेद 8.1.34 पर सर्वानुक्रमणी।

7. अपाला आत्रेयी

देवोपासना भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अङ्ग रही है ; जिसके सबसे बड़े प्रमाण वेद हैं। मनुष्य के आराधन, स्तुति और यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं, जिससे मानव के सभी अभाव पूर्ण होते हैं। देवकृपा से वह सुख-समृद्धि और मनोवाँछित ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, यह अवधारणा ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में ऋषि अपाला के आख्यान में पाते हैं। भाष्यकार सायण ने इसे 'इतिहास' अर्थात् सत्य घटना कहा है।

यह वृत्त ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में 80 वें सूक्त में निबद्ध है, जिसकी ऋषि स्वयं अपाला हैं। अपाला का पैतृक नाम 'आत्रेयी' है, जो मन्त्रद्रष्टा अत्रि ऋषि की महान परम्परा से उन्हें सम्बद्ध करता है। ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के प्रणयन का श्रेय अत्रि परिवार को है; किन्तु अपाला के इस सूक्त को अष्टम मण्डल में सङ्कलित किया गया है।

सात मन्त्रों में निबद्ध सूक्त का प्रसङ्ग इस प्रकार है -

प्राचीनकाल में अत्रि ऋषि की पुत्री अपाला ब्रह्मवादिनी किसी कारण से त्वग् दोष (त्वचा सम्बन्धी रोग) से ग्रस्त हो गईं। उनके पति ने दुर्भगा समझते हुये उनका परित्याग कर दिया। दुर्भाग्यपीड़ित अपाला ने पिता के आश्रम में रहकर त्वग् दोष से मुक्ति पाने के लिए इन्द्र की आराधना प्रारम्भ की। दीर्घकाल तक उन्होने तप किया। एक दिन उनके मन में विचार आया, 'इन्द्र को सोम प्रिय है; अत: मैं उन्हें सोम अर्पित करूँगी।' यह विचारकर वे नदी की ओर चलीं। आगे का विवरण स्वयं अपाला के शब्दों में इस प्रकार है-

स्नान के लिए नदी की ओर जाते हुये अपाला ने मार्ग में इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए सोम (वल्ली) को प्राप्त कर लिया। स्नान के पश्चात् घर लौटते समय उसने सोम से कहा- 'इन्द्र के लिए मैं तुम्हें अभिषुत करती हूँ , उस समर्थ इन्द्र के लिए मैं तुम्हें अभिषुत करती हूँ।'॥1॥

ऐसा कहते हुये अपाला ने सोमलता को अपने दाँतों से चबाया। दन्तघर्षण जन्य शब्द को सोम की अभिषव ध्वनि समझते हुये उसी समय इन्द्र वहाँ उपस्थित हुये और अपाला से बोले, 'क्या यह पत्थरों से सोम के अभिषव[1] का शब्द है ?' इन्द्र को न पहचानकर अपाला ने उत्तर दिया -' मैं अत्रि की कन्या स्नान के लिए यहाँ आई थी, सोम को देखकर मैंने उसे दाँतों से चबाया, यह उसी का शब्द है।'

यह सुनकर इन्द्र लौटने लगे, तब अपाला ने उन्हें पहचानकर कहा -

---

1. सोमलता से रस निकालने की क्रिया 'अभिषव' कही जाती है।

'हे इन्द्र ! तुम वीर और दीप्तिमान हो। सोमपान के लिए यजमान की प्रार्थना पर प्रत्येक गृह में जाते हो। भुने हुये जौ (सत्तू) से युक्त करम्भ और अपूप (मालपुए) युक्त उक्थों (स्तुतियों) के साथ मेरे दाँतों से अभिषुत सोम का पान करो।' ॥2॥

'हे इन्द्र ! हम तुम्हें जानना चाहते हैं , किन्तु इस समय (मार्ग में उपस्थित होने के कारण) नहीं जान पाये हैं। हे इन्दु (सोम)! अभ्यागत इन्द्र के लिए प्रारम्भ में धीरे-धीरे, फिर तीव्र गति से बहो।'॥3॥

कहा जाता है कि अपाला की इस प्रार्थना को सुनकर इन्द्र ने अपाला के दाँतों से अभिषुत सोमरस का; अपाला के मुख से ही पान किया। सोमपान से आनन्दित इन्द्र से अपाला ने प्रार्थना की -

'इन्द्र हमें समर्थ बनायें - कुवित् शकत्।

हमें अनेक बनायें अर्थात् अनेक सन्तानों से युक्त करें - कुवित् करत्।

हमें अनेक बार धन-सम्पत्ति से युक्त करें - कुवित् नो वस्यसः करत्। (त्वग् दोष के कारण) पति की द्वेष-भाजन (परित्यक्ता) मैं इन्द्र की कृपा को प्राप्त करने के सङ्कल्प से यहाँ आई हूँ।' ॥4॥

इन्द्र द्वारा 'क्या चाहती हो, वह मैं दूँगा।' इस प्रकार वचन दिये जाने पर अपाला ने इन्द्र से प्रार्थना की -

'हे इन्द्र ! इन तीन स्थानों को उर्वर करो - मेरे पिता का (केशरहित) मस्तक, मेरे पिता का खेत और मेरे उदर के समीप का स्थान।' ॥5॥

मेरे पिता की जो ऊसर भूमि है, उसे उर्वर बनाओ। मेरा यह शरीर और पिता का शिर जो त्वग् दोष से रोमरहित हो गया है, उन्हें रोमयुक्त (रोमशा) करो।' ॥6॥

तब शतक्रतु (इन्द्र) ने अपने रथ के बड़े छिद्र, शकट के (गाड़ी के कुछ छोटे) छिद्र तथा जुये के अति छुद्र छिद्र से निष्कर्षण द्वारा अपाला का शोधन करते हुये उसे 'सूर्यत्वक्' सूर्य के समान दीप्तिमान त्वचा से युक्त किया॥7॥

ब्रह्मवादिनी अपाला का यह आत्मवृत्त सत्य का अद्भुत निदर्शन है। प्रार्थना और स्तुतियों में देवताओं को प्रसन्न कर असाध्य रोगों से मुक्ति पाने की अद्वितीय शक्ति मानी जाती है। कहा जाता है कि मयूर कवि(8वीं शताब्दी) ने सूर्य की स्तुति से कुष्ठ रोग से मुक्ति पाई थी।

यह सूक्त यज्ञीय विधि में; कर्मकाण्डों की निरर्थकता की ओर भी सङ्केत करता है; जिसका अतिविस्तार ब्राह्मण ग्रन्थों में हुआ एवं जिनके कारण कालान्तर में वैदिक यज्ञ-प्रथा का ही लोप हो गया।

इसके साथ ही यह आराध्य के प्रति आराधक की उस भक्ति-भावना, श्रद्धा और विश्वास को भी रेखाङ्कित करता है, जो परवर्ती पौराणिक धर्म का मुख्य आधार बना। इन्द्र ने अपाला के दाँतों से चबाये गये सोमरस का पान किया और प्रसन्न होकर उस पर कृपा की। अपाला का यह प्रसङ्ग हमें राम-कथा की शबरी की याद दिलाता है, जिन्होंने चख-चख कर मीठे बेर श्रीराम को समर्पित किये थे।

'पराया धन' मानी जाने वाली कन्यायें, पराये व्यक्ति को सौंप दिये जाने के बाद भी अपने पिता के प्रति विशेष प्रेम रखती हैं। जब इन्द्र ने अपाला की मनोकामना पूर्ण करनी चाही, तब सबसे पहले अपाला ने पिता के खेत की चिन्ता की, जो उसके परिवार, भाई-बन्धुओं के जीवन का आधार था। पति-परित्यक्ता पुत्री की निन्दा और दुर्भाग्य से व्यथित पिता के मस्तक को भी वह सुशोभित-समुन्नत देखना चाहती थी। अन्त में थी नारीजनोचित अभिलाषा, स्वयं को उर्वरा बनाने की, क्योंकि मातृत्व और वात्सल्य में ही तो उसके जीवन की सार्थकता है।

नारी हृदय की गहनतम संवेदनाओं से साक्षात्कार कराता हुआ यह सूक्त चिरन्तन सत्यों का उद्‌घाटन करता है।

सहस्रों वर्ष बाद भी हमारा समाज नारी के प्रति वही दृष्टिकोण रखता है, जो युगों पूर्व था। आज भी कुष्ठपीड़िता नारी पति से परित्यक्त होती है। कभी पिता के गृह में आश्रय मिल पाता है, कभी नहीं। उसे एकाकी ही अपने दुर्भाग्य का सामना करना पड़ता है।

ऐसी परित्यक्ता नारियों के लिये अपाला आज भी प्रेरणापुञ्ज हैं; जिन्होने दृढ़ निश्चय और तप से अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल दिया था।

* * *

8. सिकता निवावरी

सिकता और निवावरी नाम से ज्ञात ऋषिद्वय नवम मण्डल के 86 वें सूक्त के 11 से लेकर 20 तक, कुल 10 मन्त्रों की सम्मिलित रूप से ऋषि मानी गई हैं।[1]

ऋग्वैदिक युग में 'सोम' अपने रस की आनन्द और शक्तिदायिनी क्षमता के कारण देवों ओर मनुष्यों का प्रिय पेय बना। 'सोमयाग' संस्था के विकास के साथ 'सोम' को भी 'देव-पद' प्राप्त हुआ। सोमदेव की स्तुति में कहे गये 114 सूक्तों को ऋग्वेद के नवम मण्डल में स्थान मिला तथा इस मण्डल को सोम के ही एक अभिधान के आधार पर 'पवमान मण्डल' कहा गया। इस पवमान मण्डल की रचना में भी स्त्री ऋषियों का उल्लेखनीय अवदान रहा है।

सिकता और निवावरी के मन्त्र सोम के भौतिक स्वरूप, सोम-अभिषव की प्रक्रिया, सोमरस की शक्ति, सोमदेव के कल्याणकारी आधिदैविक रूप आदि पर प्रकाश डालते हुये सोम विषयक ऋग्वैदिक अवधारणाओं को स्पष्ट करते हैं। मन्त्र के भाव इस प्रकार हैं -

'गमनशील (वाजी) सोम शब्द करता हुआ (अभिक्रन्दन) कलश की ओर जाता है। वह द्युलोक का स्वामी (दिवस्पतिः), शत धाराओं में पात्र में गिरने वाला, विचक्षण (दूरद्रष्टा), हरितवर्ण (हरिः) सोम अपने यज्ञ रूपी स्थान में बैठता है (मित्रस्य सदनेषु सीदति)। वह शक्ति सम्पन्न (वृषा) सोम भेड़ों के ऊन से बनी छन्नी से पवित्र होता हुआ (ममृजाना अविभिः) जलों से (सिन्धुभिः) मिश्रित होता है।' ॥1॥

इस प्रथम मन्त्र में ऋषि सोम रस निकालने की प्रक्रिया का निरूपण करती हैं। सोमलता को भिगोकर पत्थरों से कूटकर, रस को ऊन की छन्नी से छानकर कलशों में एकत्रित किया जाता है। हरे रङ्ग का यह रस अनेक धाराओं में जब कलशों में गिरता है, तक आह्लादक शब्द करता है।

सोम अभिषव की यह प्रक्रिया अत्यन्त पवित्र और आह्लादक मानी गई है। छन्नी (पवित्री) से छाने जाने पर ही सोम की 'पवमान' संज्ञा होती है। सोम सूक्तों में सर्वत्र स्तुतियों के साथ सोमरस निकालने की इस विधि का वर्णन हुआ है। सोमरस अत्यन्त गाढ़ा होने के कारण इसमें जल मिलाया जाता है।

---

1. द्वितीयस्य दशर्चस्य सिकता इति निवावरी इति द्विनामान ऋषिगणाः। ऋग्वेद 9.86 पर सायण भाष्य

'यह पवमान (सोम) स्यन्दनशील जलों के आगे जाते हैं। ये अग्रगण्य सोम स्तुतियों को प्राप्त कर गोदुग्ध से मिश्रित होते है (गोषु गच्छति)। कामनाओं के वर्षक (सु आयुधः वृषा) सोम अभिषवकर्त्ताओं द्वारा शोधित होते हैं'-

स्तोतृभिः पूयते ॥2॥

'यह स्तोत्रों से स्तुत (मतवान) सोम यज्ञस्थान में रखे जाते हैं (हितः), जैसे पक्षी (शकुनः) शीघ्र गति करता है, उसी प्रकार सोम अपनी रस लहरियों के साथ त्वरित गति से पवित्री (छन्नी) के नीचे आते हैं। हे क्रान्तप्रज्ञ (कवे) इन्द्र! तुम्हारे कर्तृत्व से द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में (रोदसी अन्तरा) वह पवित्र (शुचिः) सोम स्तुतियों से पवित्र होता है'

धिया पवते ॥3॥

'द्युलोक को स्पर्श करने वाले (दिविस्पृशं), तेजरूप कवच को धारण करने वाले (द्रापिं वसानः), सोम यजनीय (यज्ञ के योग्य) और अन्तरिक्ष के पूरक हैं। जल से मिश्रित होकर (भुवनेषु मिश्रितः), स्वर्ग-सुख को उत्पन्न करने वाले सोम जल के साथ बहते हैं। वे इस जल के पिता (अस्य पितरं) प्राचीन इन्द्र की परिचर्या (प्रत्न) करते हैं।'॥4॥

वेदों में 'भुवन' शब्द जल के पर्याय के रूप में आया है। निघण्टु में 'जीवन', 'भुवन' और 'वन' जल के नाम हैं[1], क्योंकि इनका अस्तित्व जल से ही है। इन्द्र जल के जन्मदाता हैं। अतः सोम; स्वयं को बढ़ाने वाले, जल के पिता उस पुराणपुरुष इन्द्र की सेवा करते हैं।

'वे सोम प्रवेश के समय इन्द्र को महान सुख देते हैं अर्थात् सोमपान करते हुये इन्द्र को परम आनन्द की अनुभूति होती है। सोम ने इन्द्र के तेजस्वी शरीर को अन्य देवों से पहले ही प्राप्त किया था अर्थात् सोमपान का प्रथम सौभाग्य इन्द्र को ही प्राप्त हुआ था। इस सोम का स्थान उत्तम द्युलोक में है -

पदं यदस्य परमे व्योमन्।

सोम से तृप्त होकर इन्द्र सभी युद्धों में जाते हैं।'॥5॥

'आनन्दमयी सोम (इन्दुः) इन्द्र के उदर में जाते हैं। जैसे एक मित्र दूसरे को पीड़ित नहीं करता, उसी प्रकार सखा सोम अपने मित्र इन्द्र के उदर को कष्ट नहीं पहुँचाते हैं। पुरुष जिस प्रकार स्त्री के साथ प्रेमपूर्वक मिलते हैं, उसी प्रकार सोम जल से मिलते हैं -

मर्य इव युवतिभिः समर्षति।

सोम सौ छिद्रों वाले मार्ग से कलश में जाते हैं।'॥6॥

---

1. निघण्टु 1.12

'हे सोम ! तुम्हारा ध्यान करने वाले (वः धियः), आनन्ददायक स्तुति की इच्छा वाले स्तोता और यज्ञकर्ता (पनस्युवः); तुम्हें यज्ञगृहों में प्राप्त करते हैं (संवसनेषु प्र अक्रमुः)। अपने मन को वश में रखने वाले मनीषी और स्तोता सोम की इच्छा करते हैं और गायें सोम को दुग्ध से सींचती है -

धेनवः पयसा ईं अशिश्रयुः ' ॥7॥

सोम के गुण, सामर्थ्य ओर इन्द्रदेव से सख्य का वर्णन करने के पश्चात् सिकता एवं निवावरी सोम से पुष्टिकारक, अक्षयरस को प्रदान करने की प्रार्थना करती हैं -

' हे दीप्तिमान सोम ! हमें पुष्टिकारक, अक्षय रस रूप अन्न प्रदान करो - जो रस हमारे लिए बिना प्रतिबन्ध के तीनों सवनों में दुहा जाता है, जो शब्द युक्त (क्षुमत्) शक्ति युक्त (वाजवत्), मधुर (मधुमत्) और वीर्य को बढ़ाने वाला है।' ॥8॥

सोम की विलक्षण शक्तियों का पुनः वर्णन करते हुये ऋषि कहती हैं -

'बुद्धि को बढ़ाने वाले (वृषा मतीनां), विचक्षण (अलौकिक दृष्टि सम्पन्न), दिवस, उषा तथा द्युलोक के संवर्धक सोम अभिषुत होते हैं (पवते)। स्यन्दमान जलों के कर्त्ता (सिन्धूनां क्राणा) सोम कलशों में प्रवेश करने की इच्छा करते हैं, स्तुतियों से स्तुत सोम इन्द्र के हृदय में प्रवेश करते हैं।' ॥9॥

'यह पुराण कवि (पुरातन मेधावी) सोम मनीषियों द्वारा अभिषुत होते हैं। याजकों से नियन्त्रित सोम शब्द करते हुये यज्ञपात्रों में जाते हैं। इन्द्र के नाम को प्रसिद्ध करता हुआ (त्रितस्य नाम जनयन्)। यह सोम इन्द्र और वायु की मित्रता (सख्य) के लिए मधुर रस प्रदान करता है (मधु क्षरन्)।' ॥10॥

सिकता और निवावरी के ये मन्त्र ऋग्वैदिक भारत में सोम अभिषव के दृश्य को मूर्त्त कर देते हैं, जिसमें मुख्य था यज्ञ के प्रयोजन से पवित्र सोम का कलशों में भरा जाना, अधिक रस पाने के लिए सोम लता को जल में भिगोना, कूटना, निचोड़ना और छानना। निचोड़ते समय सोमरस छन्नी के अनेक छिद्रों से शब्द करता हुआ कलश में प्रवेश करता था। इस आह्लादक शब्द का ऋषियों द्वारा नाना प्रकार से वर्णन हुआ है।

सोम और इन्द्र का सख्य भी विशेष रूप से वर्णन का विषय रहा है। सोम की शक्ति से सम्पन्न होकर इन्द्र युद्ध में विजयी होते हैं। वायु आदि अन्य देवों से मैत्री के लिए भी सोम माध्यम बनता है। कई सुन्दर उपमाओं से सोम का आलङ्कारिक वर्णन भी इस सूक्त की विशेषता है।

* * *

9. शिखण्डिनी द्वय

वैदिक सोमयागों के विस्तार में शिखण्डिनी नाम की दो स्त्री ऋषियों का अवदान ऋग्वेद के नवम मण्डल में संगृहीत 104 वे सूक्त के माध्यम से रेखाङ्कित हुआ है। 'शिखण्डिनी' इस एक ही अभिधान की दो अप्सराएँ इस सूक्त की ऋषि है। यद्यपि इनके साथ ही काण्व वंश के पर्वत तथा नारद को भी इस सूक्त का वैकल्पक ऋषि माना गया है।[1]

शिखण्डिनी अप्सरायें कश्यप की पुत्री हैं, अत: इनकी एक संज्ञा 'काश्यपी' भी है। सिकता निवावरी की भाँति शिखण्डिनीद्वय भी पवमान सोम की स्तुति गायक हैं। 6 मन्त्रों के इस छोटे से सूक्त में ही ऋषिद्वय ने पवित्र और आह्लादक सोम के प्रति अपने हार्दिक भावों की सरल काव्यात्मक अभिव्यक्ति की है।

सूक्त का प्रारम्भ सद्भावनापूर्ण वातावरण में सोम देवता के लिए सहगान के निर्देश से होता है -

'हे मित्रों (स्तोता ऋत्विजों)! आओ, बैठो -

सखाय आ निषीदत।

पवित्र करने वाले सोम के लिए उच्च स्वर में गान करो -

पुनानाय प्रगायत।

मङ्गल और श्री के लिए (श्रिये) अभिषुत सोम को यज्ञों से उसी प्रकार अलंकृत करो, जिस प्रकार शिशु को आभूषणादि से परिभूषित किया जाता है -

शिशुं न यज्ञैः परिभूषत।' ॥1॥

'हे ऋत्विजो! बच्चों को जिस प्रकार माताओं से संयुक्त किया जाता है, उसी प्रकार गृह के साधनभूत (गय साधं), देवों के रक्षक (देवाव्यं), आनन्द के कारण (मदं), शारीरिक और मानसिक द्विविध बल प्रदान करने वाले (द्विशवसम्) इस सोम को मातृभूत जलों से सम्पृक्त करो।' ॥2॥

तृतीय मन्त्र में सोम को पवित्री से शोधित करने का निर्देश देती हुई ऋषि शिखण्डिनीद्वय कहती हैं -

---

1. सखाय इति काण्वौ पर्वतनारदावृषी। अथवा कश्यपस्य पुत्र्यौ शिखण्डिन्याख्ये द्वौ अप्सरसावस्य सूक्तस्य द्रष्ट्यौ। ऋग्वेद 9.104 पर सायण भाष्य।

'बल या कौशल के साधक (दक्षसाधनं) सोम को पवित्र करो (पुनाता), जिससे यह शक्ति और स्फूर्ति का साधक, पीने योग्य, मित्र और वरुण देव के लिए अति सुखकारक (शंतमः) हो सके।' ॥3॥

'हे सोम ! हमारी वाणी, धन को प्राप्त कराने वाले (वसुविदं) तुम्हारी स्तुति करती है -

अस्मभ्यं वाणीरनूषत ।

हम तुम्हारे आवरक रस या वर्ण को गोदुग्धादि से (गोभिः) आच्छादित (मिश्रित) करते हैं।' ॥4॥

पञ्चम मन्त्र में आह्लादक सोम से सख्य और मार्गदर्शन की प्रार्थना करते हुये ऋषिद्वय कहती हैं -

'हमारे आनन्द के स्वामी (नः मदानां पते) इन्दु (सोम) ! तुम दीप्त उज्ज्वल रूप वाले (देवप्सरा) हो। एक मित्र जिस प्रकार अपने मित्र के लिए मार्गदर्शक होता है, उसी प्रकार तुम हमारे लिए पथ-प्रदर्शक बनो -

गातु वित्तमो भव ' ॥5॥

'हे सोम ! हमसे पुरातन (सनेमि) प्रगाढ़, न टूटने वाली मैत्री करो। किसी भी भक्षक (अत्रिणम्) दिव्य गुणों से रहित या देवसत्ता पर आस्था न रखने वाले (अदेवं), दोहरे व्यक्तित्व वाले, मन और वचन की एकता से रहित मायावी या कपटी (द्वयुं) राक्षस का संहार करो। इसके साथ ही हमारे पापों को भी नष्ट करो।' ॥6॥

इस प्रकार नवम मण्डल में सङ्कलित शिखण्डिनीद्वय का यह सोमसूक्त अन्य सूक्तों की तुलना में कुछ अलग ही भाव-विच्छित्तियों को लिए हुये है।

शवस्, सनेमि, गय, शर्ध, वीतये, दक्ष, देवप्सरा, अदेव आदि वैदिक संस्कृत के विशिष्ट प्रयोगों एवं संस्कृत भाषा के परवर्ती विकास क्रम को समझने की दृष्टि से यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वैदिक संस्कृति में सोम के महत्त्व का प्रतिपादक यह सूक्त वैदिक समाज की आभूषणप्रियता, विशेष रूप से शिशु को सजाने-सँवारने की प्रवृत्ति, माता और बच्चे के आत्मीय सम्बन्ध, मित्र के कर्तव्य, देव-संस्कृति के विरुद्ध रक्ष सभ्यता के स्वरूप आदि पर प्रकाश डालने वाला एक अद्वितीय सूक्त है, जिसकी सटीक उपमाओं में नारी हृदय की संवेदनायें भी घुल-मिल गई हैं।

* * *

10. वसुक्रपत्नी

वैदिक परिवार व्यवस्था की एक अन्तरङ्ग झलक प्रस्तुत करने वाली वसुक्रपत्नी ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित 28 वें सूक्त के प्रथम मन्त्र की ऋषि हैं।

प्राय: यह देखा जाता है कि पुत्रवधू के मन में अपनी सास की अपेक्षा श्वशुर के प्रति आत्मीयता एवं सम्मान का भाव अधिक होता है। वे हृदय से चाहती हैं कि श्वशुर उनके द्वारा प्रस्तुत किए गये भोजन का तृप्तिपूर्वक आस्वादन कर उनकी प्रशंसा करें। वधू-हृदय के इस चिरन्तन भाव की अभिव्यक्ति इन्द्रस्नुषा वसुक्रपत्नी के मन्त्र में हुई है -

इन्हें 'इन्द्रस्नुषा' अर्थात् इन्द्र की पुत्रवधू कहा गया है। वसुक्र इन्द्र के पुत्र हैं। मन्त्र की ऋषि का नामत: उल्लेख न होकर पति और श्वशुर के सम्बन्ध से परिचय दिया गया है। यह प्राचीन भारतीय परिवार के उस परिवेश का सङ्केत देता है, जिसमें पुत्रवधू को नाम से नहीं, अपितु अमुक (पुत्र) की वधू या दुल्हन के रूप में जाना या पुकारा जाता है।

इस सूक्त में कुल 12 मन्त्र हैं, जिनमें से प्रथम मन्त्र की ऋषि वसुक्रपत्नी हैं। शेष मन्त्रों के ऋषि इन्द्रपुत्र वसुक्र और इन्द्र हैं।

सायण के अनुसार मन्त्र का सन्दर्भ इस प्रकार है - प्राचीनकाल में वसुक्र द्वारा किये गये यज्ञ में इन्द्र प्रच्छन्न रूप से उपस्थित हुये। श्वशुर के आगमन की आशा में प्रतीक्षारत वसुक्रपत्नी उन्हें प्रत्यक्ष न देख पाने के कारण अनागत (न आया हुआ) समझकर इस मन्त्र से अपनी हार्दिक विकलता को अभिव्यक्त करते हुये कहती हैं -

'हमारे इस यज्ञ में अन्य सभी देवगण उपस्थित हुये हैं, केवल मेरे श्वशुर ही नहीं आये। यदि वे आते, तो धाना (भुने हुये जौ की खीलें) खाते, सोमरस का पान करते और भली-भाँति तृप्त होकर (सुअशित:) अपने निवास को चले जाते -

पुनरस्तं जगायात् ।'

कहा जाता है कि इन्द्र ने अपनी पुत्रवधू की प्रीति के लिए वसुक्र से संवाद किया, जो परवर्ती मन्त्रों में निबद्ध है।

सास-बहू की कथायें तो हम बहुशः पढ़ते और सुनते आये हैं, किन्तु श्वशुर और पुत्रवधू के अन्तरङ्ग मनोभावों को अभिव्यक्त करने वाला यह प्रथम मन्त्र है।

इन्द्र जैसे पराक्रमी देवता के वीर्य और पराक्रम का गान ऋग्वेद के लगभग 251 सूक्त करते हैं, किन्तु उनके हृदय का यह कोना; पुत्रवधू के प्रति वात्सल्य प्रथम बार वसुक्रपत्नी के इस मन्त्र से ही उद्घाटित हो पाया है।

यह मन्त्र कुछ जिज्ञासाओं को भी जन्म देता है -

1. इन्द्र ने अपनी पुत्रवधू से सीधा संवाद क्यों नहीं किया ?
2. क्या उस युग में पुत्रवधू श्वशुर से पर्दा करती थी ?
3. श्वशुर के आयेजन में सम्मिलित होने और पुनः अपने घर चले जाने से क्या एकल परिवारों के अस्तित्व का भी ज्ञान होता है ?

इन प्रश्नों के उत्तर हम 'वैदिक संस्कृति' के अन्तर्गत 'सामाजिक जीवन' में खोजने का प्रयास करेंगे।

* * *

11. घोषा काक्षीवती

वाग्देवी की विशिष्ट कृपा से सम्पन्न जिन मनीषियों की वाङ्‌मयी सृष्टि 'न ममार न जीर्य्यति' की गरिमा को प्राप्त हुई है, उनमें से एक हैं - घोषा। ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित ३९ वें और 40 वें सूक्त की ऋषि घोषा हैं। 'घोषा' इनका नाम है। कक्षीवान् की पुत्री होने के कारण इन्हें 'काक्षीवती' कहा गया है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि कक्षीवान् राजा थे और घोषा राजदुहिता। स्वयं मन्त्रद्रष्ट्री के कथन से ही यह स्पष्ट होता है -

युवां ह घोषा.....राज्ञ ऊचे दुहिता।[1]

घोषा द्वारा रचित सूक्तों के देवता अश्विद्वय हैं। दोनों ही सूक्तों की मन्त्र संख्या 14 है, इस प्रकार कुल 28 मन्त्र घोषा के नाम से प्राप्त होते हैं। ऋषि का प्रिय छन्द जगती है , जो अपने अक्षरों के विस्तार में मानो जगत् की समग्र विविधता को समेट लेता है। इन मन्त्रों में भक्त-हृदय के आकुल आत्मसमर्पण और दीनता के साथ ही कवि हृदय की कोमल कल्पना, सुख-दुःख, हास-अश्रु भी गुँथ गये हैं। मन्त्रों के भाव इस प्रकार हैं -

'हे अश्विन् देवो ! तुम्हारा सर्वत्र सुखपूर्वक गमन करने वाला जो रथ है, उस रथ का, देवों को हवि प्रदान करने वाले यजमान निरन्तर आवाहन करते हैं। हम भी सुखपूर्वक आवाहन योग्य (सुवहं) आपके उस रथ को; पिता के नाम के समान आनन्द से आमन्त्रित करते हैं।' ॥1॥

प्रस्तुत मन्त्र में अश्विद्वय की सङ्कल्पना सुन्दर रथ पर विराजमान देव-युगल के रूप में हुई है। घोषा रथासीन अश्विन् देवों को उसी प्रकार आमन्त्रित करती हैं, जिस प्रकार एक शिशु सहज आनन्द और निर्भय विश्वास के साथ अपने पिता को आमन्त्रित करता है।

'हे अश्वि देवो ! हमें उत्तम-मधुर वचन बोलने में प्रवृत्त करो। हमारे कार्यों को सफल करो, हममें उत्तम बुद्धि को प्रेरित करो -

पुरंधीः उत् ईरयतम्।

हम यही कामना करते हैं (तदुश्मसि)। हमें यशस्वी धन का भागी बनाओ। कल्याणकारक सोम के समान हमें धनवानों में मुख्य बनाओ' -

---

1. ऋग्वेद 10.40.5

मघवत्सु नस्कृतम् ॥2॥

अग्रिम मन्त्रों में घोषा अश्विनी देवों के लोकमङ्गलकारी कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हुये कहती हैं -

'हे नासत्य ! तुम ही पितृगृह में रहकर वृद्ध होती हुई स्त्री (घोषा) के लिए सौभाग्यप्रद वर प्रदान करते हो। शक्तिहीन और पतित के तुम ही आश्रय हो। अन्धे, दुर्बल और रोगपीड़ितों के तुम ही चिकित्सक कहे जाते हो'-

युवामिद् आहुः भिषजा रुतस्य चित् ॥3॥

अश्विनी देवों का एक नाम 'नासत्य' अर्थात् 'न असत्य' है। घोषा की दृष्टि में वे दीन-दुखियों के अन्तःकरण में सच्चे उद्धारकर्ता के रूप में बसे हुये हैं; अतः उनकी यह संज्ञा सार्थक है। इन देवों के लोकहितकारी कार्यों का एक सुदीर्घ इतिहास है।

'हे अश्विनी देवों ! जैसे एक तक्षा (कुशल शिल्पी) जीर्ण रथ का संस्कार कर उसे चलने योग्य बना देता है, उसी प्रकार तुमने जराजीर्ण च्यवन ऋषि को पुनः यौवन देकर चलने में समर्थ बनाया है। तुम लोगों ने ही डूबते हुये तुग्र-पुत्र को जल के ऊपर लाते हुये तट पर लगाया है। तुम्हारे यह कार्य यज्ञों में विशेष रूप से वर्णन करने योग्य हैं।' ॥4॥

'हे अश्विनी देवों ! मैं तुम्हारे पूर्व में किये गये वीरतापूर्ण कार्यों की उद्घोषणा करती हूँ। तुम दोनों ही सुखदायक चिकित्सक हो; अतः अपनी रक्षा के लिए हम तुम्हारी स्तुति करते हैं। हे नासत्य ! मैं लोगों को श्रद्धावान बनाने के लिए तुम्हारी स्तुति करती हूँ' -

श्रदरिर्यथा दधत् ॥5॥

हे अश्विद्वय ! मैं तुम दोनों का आवाहन करती हूँ, मेरी प्रार्थना को सुनो -

इयं वामह्वे श्रृणुतं में अश्विना।

जैसे पिता पुत्र को शिक्षा देता है, उसी प्रकार मुझे शिक्षा दो -

पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्।

मैं बन्धुरहित, अज्ञानी, कुटुम्बहीन और बुद्धिहीन हूँ। दुर्गति से पहले ही मेरा उद्धार करो।' ॥6॥

'हे अश्विदेवों ! तुम लोगों ने पुरुमित्र राजा की शुन्ध्युव नाम की कन्या को अपने रथ से सुरक्षित ले जाकर विमद के साथ उसका विवाह करवाया था। तुम दोनों वध्रिमती के युद्ध में उसके आवाहन पर

उपस्थित हुये थे (और उसे स्वर्णमय हस्त प्रदान किया था)। तुमने उसकी प्रसव वेदना को दूरकर उसे सुखपूर्वक प्रसव कराया था।'॥7॥

'हे अश्विनी देवों ! तुमने अत्यन्त वृद्ध कलि नामक विप्र (ऋषि) को फिर यौवन युक्त किया था। (पत्नीविरह में सन्तप्त, कुएँ में गिरे हुये) वन्दन नामक ऋषि को कुँए से बाहर निकाला था। (खेल नामक राजा की सेनानी) विश्पला को लोहे की जङ्घा देकर शीघ्र ही चलने योग्य बना दिया था ' -

सद्यो विश्पलामेतवे कृथः ॥8॥

'हे अभीष्ट फलों की वर्षा करने वाले अश्विद्वय (वृषणा अश्विना) ! तुमने असुरों द्वारा गुहा के मध्य रखे गये मृतप्राय रेभ ऋषि को सङ्कटमुक्त किया था। तुमने ही; शत्रु द्वारा सात बन्धनों में बाँधकर तप्त अग्नि कुण्ड में फेंके गये अत्रि ऋषि के उस अग्निकुण्ड को बुझाया था।' ॥9॥

'तुमने ही पेदु राजा को 99 अश्वों के साथ एक उत्तम शुभ्रवर्ण अश्व प्रदान किया था। अद्वितीय, तेजस्वी उस अश्व को देखते ही शत्रुसेना भाग जाती थी। स्तुतियोग्य अत्यन्त सुखदायक वह अश्व मनुष्यों के लिए अमूल्य धन था।'॥10॥

'हे देदीप्यमान ! अदीन (राजानौ अदिते), सुखपूर्वक आवाहन योग्य (सुहवौ) स्तुत्य मार्गों से चलने वाले अश्विद्वय ! तुम जिस पुरुष को उसकी पत्नी के साथ रथ के अग्रभाग में आश्रय देते हो, उस दम्पति को कोई भी पाप व्याप्त नहीं करता, उसका कभी अमङ्गल या अशुभ नहीं होता, उसे संसार का भय व्याप्त नहीं करता।'॥11॥

'हे अश्विद्वय ! ऋभुओं ने तुम्हारे लिए जो रथ प्रस्तुत किया है, जिस रथ के उदय से आकाश की कन्या (दिवः दुहिता) उषा प्रकट होती हैं, सूर्य से सुन्दर दिन और रात्रि जन्म लेते हैं, मन से भी वेगवान उस रथ पर आरोहण कर तुम आओ ' -

तेन मनसः जवीयसा आ यातम्॥12॥

अश्विदेवों की करुणा केवल मनुष्यों के लिए नहीं, अपितु पशु-पक्षियों के लिए भी है। उसी का उल्लेख करती हुई घोषा कहती हैं -

'तुम दोनों उस जयशील रथ से पर्वत की ओर जाने वाले उत्तम मार्ग पर गमन करो और शयु की बूढ़ी गाय को फिर दूधवाली बना दो। तुमने भेड़िये के मुँह में पड़ी हुई वर्तिका (पक्षी) को मृत्युमुख से निकालकर पुनः जीवन दिया है।' ॥13॥

'हे अश्विदेवों। जैसे भृगु रथ बनाते हैं, वैसे ही हमने तुम्हारे लिए यह स्तोत्र बनाया है। जैसे कन्या को अलंकृत कर युवा पुरुष को देते हैं, वैसे ही यह स्तोत्र हम निष्ठापूर्वक समर्पित करते हैं। हमारे पुत्र-पौत्र

सर्वदा प्रतिष्ठित रहें।'॥14॥

ब्रह्मवादिनी घोषा के द्वितीय सूक्त (10.40) के भाव इस प्रकार हैं -

'हे श्रेष्ठ कर्मों का नेतृत्व करने वाले अश्विद्वय ! तुम्हारे तेजस्वी (द्युमन्तं), प्रातः काल यज्ञों में जाने वाले, प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुखदायक धन का वहन करने वाले, विशाल रथ की अपने यज्ञ की सफलता के लिए कौन यजमान स्तुति करता है ? तुम्हारा वह महान रथ कहाँ है ?' ॥1॥

'हे अश्विद्वय ! तुम लोग दिन और रात में कहाँ जाते हो, कहाँ समय बिताते हो, कहाँ निवास करते हो ? जैसे विधवा स्त्री शयनकाल में देवर का और कामिनी अपने पति का समादर करती है, वैसे ही यज्ञ में समादर के साथ तुम्हें कौन बुलाता है ?' ॥2॥

'हे नेतृत्व-सम्पन्न अश्विद्वय ! जैसे प्रात:काल स्तुतिकर्ता (बन्दी) ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा को जगाते हैं, उसी प्रकार प्रात:काल तुम दोनों के लिए स्तोता द्वारा स्तोत्र पाठ किया जाता है-

जरणा इव कापया प्रातः जरेथे ।

यज्ञ के योग्य तुम दोनों किसके यज्ञ में जाते हो ?'

कस्य सवना राजपुत्रा इव अव गच्छथः॥3॥

'हे अश्विनों ! जैसे शिकारी शार्दूल (शिकार) की इच्छा करता है, वैसे ही (तुम्हारी कृपा के आकाँक्षी) हम यज्ञ द्रव्य के साथ तुम्हें बुलाते हैं। ऋतु के अनुसार (ऋतुथा) समय-समय पर यजमान तुम्हारे लिए हवन करते हैं। हे शुभस्पति ! तुम लोगों के लिंए अन्न लाते हो।' ॥4॥

'हे अश्विद्वय ! मैं राजदुहिता घोषा चारों ओर घूम-घूम कर (परियती) तुम्हारे ही विषय में बोलती हूँ, तुम्हारे ही विषय में जिज्ञासा करती हूँ , तुम दोनों सदा मेरे कल्याण में सहायक बनो। रथयुक्त, अश्वयुक्त शत्रु के दमन के लिए मुझे समर्थ करो।'॥5॥

'हे क्रान्तदर्शि अश्विदेव (कवि अश्विना) ! रथारूढ़ तुम दोनों, कुत्स के समान स्तोता के घर जाते हो। तुम्हारा मधु इतना अधिक है कि मक्खियाँ उसे ग्रहण करती हैं, जैसे संस्कृत मधु को स्त्रियाँ ग्रहण करती हैं।' ॥6॥

'हे अश्विनों ! तुमने ही समुद्र में डूबते हुये भुज्यु को बचाया था। तुमने राजा वश, अत्रि और उशना का उद्धार किया था। उत्तम दाता ही तुम्हारा बन्धुत्व प्राप्त करता है -

युवोः सख्यं ररावा परि आसते ।

तुम्हारे आश्रय से मैं घोषा सुख की कामना करती हूँ '-

युवोः अवसा अहं सुम्नं आ चक्रे ॥7॥

'हे अश्विदेवों ! तुमने ही कृश, शयु और विधवा वध्रिमती की रक्षा की थी। तुमने ही शब्द करते हुये अनेक मुखों वाले या द्वारों वाले (सप्तास्यं) मेघों को हविदाताओं के लिए वृष्टि हेतु अपावृत्त किया था (मेघों के आवरण को भेदकर उन्हें जल बरसाने के लिए प्रेरित किया था)।' ॥8।

'तुम्हारी कृपा से यह घोषा स्त्रीजनोचित सौभाग्य को प्राप्त हुई है (योषा जनिष्ट)। उसे कन्यावरण का इच्छुक (कनीनकः) पति प्राप्त हो । तुम्हारी कृपा से वृष्टि होने पर शस्यादि उत्पन्न हों । जैसे नदियाँ निम्नाभिमुखी होकर बहती हैं, उसी प्रकार उस कन्याकामी पुरुष को ओषधियाँ प्राप्त करें । किसी के भी द्वारा अहन्तव्य उस पुरुष को भोगसमर्थ यौवन प्राप्त हो'-

अस्मे अह्वे भवति तत्पतित्वनम् ॥9॥

इस मन्त्र में घोषा अश्विनी देवताओं से अपने सौभाग्य, पतिगृह की श्री और समृद्धि, पति के बल और स्वास्थ्य, कल्याण और मङ्गल के लिए प्रार्थना करती हैं।

अगले मन्त्र में पति के सच्चे प्रेम और पत्नी की गरिमा को प्राप्त करने की इच्छुक घोषा कहती हैं -

जो पुरुष अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए रोदन करते हैं - **ये नरः जीवं रुदन्ति,**

पत्नियों को यज्ञकार्य में नियुक्त करते हैं - **अध्वरे विमयन्ते,**

अपनी सशक्त भुजाओं से पत्नियों का दीर्घ आलिङ्गन करते हैं -

दीर्घां प्रसितिं अनु दीधियुः, सन्तान उत्पन्न कर पितृ यज्ञ में नियुक्त करते हैं, उनकी स्त्रियाँ आलिङ्गन देकर सुख देती हैं -

मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥10॥

पति-सुख की अभिलाषिणी घोषा कहती हैं-

'हे अश्विद्वय ! पति के उस सुख को मैं नहीं जानती- **तस्य तत् न विद्म ।**

युवा पुरुष और युवती के उस सहवास सुख को तुम ही समझाओ । हे अश्विद्वय ! मेरी एकमात्र यही अभिलाषा है कि पत्नी के प्रति अनुरक्त, बलवान् और वीर्यवान् पति के घर जाऊँ'-

प्रिय-उस्रियस्य वृषभस्य रेतिनः गृहम् गमेम ॥11॥

'हे अन्न और धन के स्वामी ! कल्याणकारी अश्विदेव ! तुम दोनों मेरे प्रति सदय होओ। मेरे हृदय की कामनाओं को संयत करो - **हृत्सु कामाः नि अयंसत।**

मेरे रक्षक बनो - **गोपा अभूतम्।**

हम पति के प्रिय बनकर पति के गृह को प्राप्त हों -

प्रियाः अर्यम्णः दुर्यान् अशीमहि' ॥12॥

'हे अश्विद्वय ! मैं तुम्हारी स्तुति करती हूँ , तुम लोग मुझसे सन्तुष्ट होकर मेरे पतिगृह में धन और सन्तति प्रदान करो। हे शुभस्पति ! जल के स्वामी ! मैं जिस तीर्थ से जल पीती हूँ, उसे सुख से पीने योग्य बनाओ और विघ्नों को दूर करो' -

पथेष्ठां स्थाणुं दुर्मतिम् अपहृतम् ॥13॥

' हे प्रियदर्शन और कल्याणकर्त्ता अश्विदेव ! आज तुम कहाँ हो ? किसके घर में आमोद करते हुये आनन्दित होते हो ? कौन यजमान तुम दोनों को बाँधकर रख सकता है ? किस विद्वान यजमान के घर तुम गये हो ?' ॥14॥

दशम मण्डल के इस 40 वें सूक्त में घोषा ने एक ऐसी कन्या के हृदय को खोलकर रख दिया है, जो अपनी आँखों में विवाहित जीवन के इन्द्रधनुषी स्वप्न सँजोये पतिगृह जाने के लिए उत्कण्ठित है। राजदुहिता होते हुये भी घोषा ऋषि हैं। अपने तपोबल से उन्होने मन्त्रात्मक अभिव्यक्ति की सामर्थ्य पाई है। नारीहृदय की सहज संवेदनशीलता उन्हें इन्द्र जैसे महावीर वृत्रघाती योद्धा की नहीं, अपितु 'अश्विनी' जैसे करुणहृदय, परोपकारी, दीन-दुःखियों के उद्धारकर्ता देवयुगल की स्तुति के लिए प्रेरित करती है।

अश्विनी देवताओं का रथ प्रातःकाल अपने स्तोताओं के मन में आशा का सञ्चार करता हुआ, सूनृत को, सुन्दर विचारों को प्रेरित करता हुआ आता है।

अश्विनीदेवों के रथ के साथ ही आकाश में उदित होती है - स्वर्णिम आलोकमयी उषा, जैसे पिता की गोद में खेलती हुई कन्या, आकाश और पृथ्वी आलोकित है - दिव्य आभा से। मानव का मन भी उच्छ्वसित हो उठा है - सुन्दर विचारों से, सहज आनन्द से, समष्टि और व्यष्टि मानो एक हो गये हैं।

ब्रह्मवादिनी घोषा के ये सूक्त वैदिक चिन्तन का मानो हृदय ही हैं। भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन, समाज, शिक्षा, नीति, आचार, कला और शिल्प सम्बन्धी विकास के दर्पण हैं। लोकमङ्गलकारी कार्यों के इतने अधिक सन्दर्भ ऋग्वेद के किसी अन्य सूक्त में प्राप्त नहीं हैं। प्राचीन ऋषि-मुनियों और राजाओं के जीवन की उल्लेखनीय घटनाओं के वर्णन के कारण ऐतिहासिक और पौराणिक सन्दर्भों का यह एक मूल्यवान स्रोत भी है।

हमारे स्मृति ग्रन्थ प्राय: नारी के कर्तव्यों का ही विधान करते हैं; किन्तु घोषा ने बड़ी निर्भीकता के साथ स्पष्ट शब्दों में नारी के मौलिक अधिकारों की उद्घोषणा करते हुये अपने 'घोषा' इस अभिधान को सार्थक किया है।

घोषा की इन ऋचाओं में शिशु हृदय की सहज नि:श्च्छलता, कविहृदय की भावतरलता, नारीहृदय की करुणा और महामानव की उदात्तता के दर्शन होते हैं, जो उन्हें संस्कृत वाङ्मय के आद्य प्रवर्तकों में कालजयी कवि और सत्यद्रष्टा ऋषि के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

* * *

12. अगस्त्यस्वसा

मानवीय सभ्यता के इतिहास में ऐसी अनेक तेजस्विनी नारियाँ हुई हैं, जिन्होने बिना किसी भय या सङ्कोच के प्रतापी शासकों को भी उनके कर्तव्य का बोध कराया है। ऋग्वैदिक युग की एक ऐसी ही नारी हैं - अगस्त्यस्वसा, जिन्हें महान ऋषि अगस्त्य की भगिनी और गौपायन गोत्रीय मन्त्रद्रष्टा चार पुत्रों- सुबन्धु, बन्धु, श्रुतबन्ध और विप्रबन्धु की माता कहा गया है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित 60 वें सूक्त के छठवें मन्त्र की ऋषि अगस्त्य-स्वसा हैं। ऋषि का परिचय स्वयं उसके नाम से प्राप्त नहीं है। उन्हें अपने भाई ऋषि अगस्त्य और ऋषिपुत्रों बन्धुगणों के परिचय से जाना गया है। अन्य के सम्बन्ध से परिचय देने की प्रवृत्ति ऋग्वेद में पाई जाती है[1], जैसे कि वसुक्रपत्नी, इन्द्रमातरः आदि ऋषियों का परिचय पति, पुत्र के सम्बन्ध से प्राप्त होता है।

सूक्त में 12 ऋचाएँ हैं, जिनमें से षष्ठ ऋचा की ऋषि बन्धुओं की माता अगस्त्य-स्वसा हैं। शेष 11 ऋचाओं के द्रष्टा बन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु आदि गौपायन हैं। बन्धु आदि गौपायन अत्रि ऋषि के मण्डल में द्विपदों (5.24) के भी ऋषि हैं। बृहद्देवता में इस सूक्त के सन्दर्भ में राजा 'असमाति' और सुबन्धु की एक कथा उद्धृत की गई है।

तदनुसार रथप्रोष्ठ परिवार के इक्ष्ववाकुवंशी राजा असमाति और उनके पुरोहित गौपायनों में किसी कारण से विरोध होने पर[2] राजा ने बन्धु आदि को निष्कासित कर उनके स्थान पर किरात और आकुलि नामक मायावी असुरों को श्रेष्ठ मानकर अपना पुरोहित बना लिया। इन असुरों ने अभिचार से सुबन्धु को मूर्च्छित कर प्राणहीन कर दिया।[3] तब उनके तीन भाईयों ने उनके प्राणों को लौटाने का प्रयास किया। उन्होने राजा असमाति की स्तुति की। उनकी माता अगस्त्यस्वसा ने राजा को धर्मविरोधी असुरों के वध के लिए प्रेरित करते हुये कहा -

---

1. स्वसाऽगस्त्यस्य माता एषाम्। आर्षानुक्रमणी 10.24
2. जैमिनीय ब्राह्मण 3.167
3. बृहद्देवता 7.85-88

'हे राजन् ! अगस्त्य को आनन्द देने वाले भगिनी-पुत्र बन्धु आदि के हित के लिए लोहितवर्ण के तीव्रगामी अश्वों को रथ में जोतो। कभी दान न देने वाले कृपण (अराधस) पणियों [1] पर आक्रमण कर उन्हें परास्त करो।' ॥6॥

इस प्रकार गौपायनों की माता द्वारा प्रेरित किये जाने पर वे राजा अपने कार्य को अनुचित समझकर लज्जित हुये। उन्होंने पुनः गौपायनों को पुरोहित रूप में वरण किया।[2]

* * *

1. पणियों को देवविरोधी, कृपण असुरों के रूप में चित्रित किया गया है।
2. बृहद्देवता 7.95

13. सूर्या सावित्री

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को एक पवित्र संस्कार का रूप देने वाली सूर्या वैदिक संस्कृति के निर्माण में अग्रगण्य हैं।

स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण जिसे 'काम' कहा गया है, इस सृष्टि का मूल है। इस दुर्निवार नैसर्गिक आकर्षण को लोकहित में मर्यादित और धर्मानुकूल पवित्र स्वरूप प्रदान करने के लिए विश्व की सभी सभ्य जातियों ने विवाह संस्था को स्वीकार किया है। भारत देश में प्रचलित विवाह संस्कार का प्राचीनतम विवरण हम ऋग्वेद के 'विवाह-सूक्त' में पाते हैं, जिसकी ऋषि सूर्यपुत्री सूर्या सावित्री हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित 85 वाँ सूक्त विवाह सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें कुल 47 मन्त्र हैं। सूर्यपुत्री सूर्या इस सम्पूर्ण सूक्त की ऋषि हैं। सूर्या का सोम से विवाह इसका मुख्य विषय है, जो आत्मवृत्त के रूप में वर्णित हुआ है।

ब्रह्मवादिनी सूर्या प्रारम्भिक पाँच मन्त्रों में उन मूलभूत तत्वों का निरूपण करती हैं, जो इस सृष्टि का आधार होने के कारण गृहस्थ जीवन की भी आधारशिला हैं, जिनके बिना गृहस्थ धर्म सुदृढ़ एवं स्थायी नहीं हो सकता। मन्त्रों के भाव इस प्रकार हैं -

'सत्य ने भूमि को धारण किया है (सत्येन भूमिः उत्तभिता), सूर्य ने द्युलोक को धारण किया है। ऋत से आदित्यों (अदिति के पुत्र देवों) की सत्ता है। द्युलोक में सोम अवस्थित है।' ॥1॥

द्वितीय मन्त्र में सूर्या अपने भावी वर सोम के गुणों का वर्णन करते हुये कहती हैं -

'सोम से ही इन्द्रादि देव बलवान होते हैं। सोम से पृथ्वी महान होती है -

सोमेन पृथिवी मही।

इन नक्षत्रों के मध्य सोम को रखा गया है।' ॥2॥

'जब सोम रूपी ओषधी (वनस्पति) को पीसते हैं, तब लोग समझते हैं कि उन्होने सोमपान कर लिया किन्तु जिस सोम को ब्रह्मवेत्ता जानते हैं - यं सोमं ब्रह्माणः विदुः। उसका पान कोई सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता।' ॥3॥

'हे सोम ! तुम गुप्त विधि-विधानों से रक्षित और सोमपालकों से संरक्षित हो। तुम पीसने वाले पत्थर का शब्द सुनते हो। इस पृथ्वी का कोई भी सामान्य मनुष्य तुम्हारा भक्षण नहीं कर सकता।' ॥4॥

'हे सोम देव ! देवता तुम्हारा पान करते हैं, किन्तु तुम पुनः रस और कलाओं से पूर्ण होते हो। वायु (प्राणशक्ति) तुम्हारी उसी प्रकार रक्षा करती है, जैसे क्रम से आये हुये महीने-वर्ष की।' ॥5॥

ऋषि का अभिप्राय यह है कि वनस्पति रूप सोम और चन्द्र रूप सोम निरन्तर उपभोग किये जाने पर भी; पुनः वृद्धि को, पूर्णत्व को प्राप्त करते हैं। वह ब्रह्म रूप सोम तो सभी दशाओं में पूर्ण ही है। इस पूर्णता के आदर्श को ही वर-वधू को अपने गृहस्थ जीवन में अपनाना है। हृदय में आनन्द का घट सर्वदा परिपूर्ण रहे, सर्वदा वह रस उच्छलित होकर आप्यायित करता रहे। अभाव, दरिद्रता, नैराश्य की छाया कभी मन पर न पड़े, इस आनन्दघट को रिक्त न होने दें।

विवाह की इस दृढ़ आधारशिला का निरूपण करने के पश्चात् सूर्या पितृगृह से वधू की विदाई के उस अविस्मरणीय क्षण का वर्णन करती हैं, जो वेदमन्त्रों के उच्चार से परम पावन और मङ्गलमय हुआ था-

'जब सूर्या पितृगृह से विदा होकर पतिगृह को चली, तब रैभी नामक मन्त्र उनकी सखी बनीं, नाराशंसी ऋचायें उनकी परिजन बनीं। सूर्या का सुन्दर वस्त्र सामगान से पवित्र और मङ्गलमय हुआ।' ॥6॥

'जब सूर्या पतिगृह को गई, तब उत्तम विचार (चित्तिः) ही उसकी चादर थी। नेत्र ही अञ्जन था। आकाश और पृथ्वी ही उसके कोश थे।' ॥7॥

'सूर्या जब पतिगृह को चली, तब स्तोत्र ही सूर्या के रथचक्र के दण्ड थे। कुरीर नामक छन्द से रथ का अन्तर्भाग सुशोभित था। अश्विनी देवता वरपक्ष की ओर से वधू का वरण कर उसे पतिगृह को ले जाने के लिए आये थे। उस रथ के आगे पथ-प्रदर्शक के रूप में अग्नि चल रहे थे।' ॥8॥

'सोम वधू की कामना करने वाले थे। दोनों अश्विनी देव वरपक्ष से सूर्या को स्वीकार करने वाले थे, तब पति के प्रति पूज्य भाव रखने वाली सूर्या को (पत्ये शंसन्ती सूर्यां) सविता देवता ने अपने मन (पूर्ण इच्छा और सहमति) से सोम को प्रदान किया।' ॥9॥

इसके पश्चात् सूर्या पतिगृह गमन की उत्कण्ठा का वर्णन करते हुये कहती हैं -

'जब सूर्या पति के घर गईं, तब मन ही उनका रथ था। द्युलोक या आकाश ही उसकी छत थी। देदीप्यमान सूर्य और उज्ज्वल चन्द्र उस रथ के वाहक हुये।' ॥10॥

अगले मन्त्र में सूर्या स्वयं को ही सम्बोधित करते हुये कहती हैं -

'हे सूर्ये ! ऋक् और साम मन्त्रों से प्रेरित तुम्हारे ये दानों वाह परस्पर साम्मनस्य रखते हुये एक दूसरे के सहयोगी बनकर चलते हैं। तुम्हारे दोनों कान मन रूपी रथ के दो चक्र हैं। आकाश में चलने वाले रथ का मार्ग यह चराचर जगत् है।'॥11॥

'तुम्हारे रथ के दोनों चक्र पवित्र हैं। व्यान नामक प्राण इसके अक्ष हैं; (इस प्रकार) पतिगृह को जाती हुई सूर्या ने मनोमय रथ पर आरोहण किया।' ॥12॥

'पिता सविता ने सूर्या के विवाह के लिए जो कुछ दिया था , वह दहेज पहले ही भेजा जा चुका था। मघा नक्षत्र में गायें भेजी जाती हैं और फाल्गुनी नक्षत्र में कन्या को पतिगृह भेजा जाता है।' ॥13॥

' हे अश्विद्वय ! जब तुम दोनों त्रिचक्र वाले रथ से सूर्या के विवाह की बात करने आये थे, उस समय समस्त देवों ने तुम्हारे कार्य का अनुमोदन किया था। पूषा (सूर्य) ने तुम्हें उसी प्रकार सम्मान पूर्वक वरण किया था, जैसे पुत्र पिता का वरण करता है।' ॥14॥

सूर्या पुनः अश्विद्वय को सम्बोधित करती हुई कहती हैं -

'हे शुभस्पति (शुभ के स्वामी) ! जब तुम सूर्या को वधूरूप में स्वीकार करने के लिए सविता के पास आये, तब तुम्हारे रथ का एक चक्र कहाँ था ? दान-प्रतिदान (विवाह की बातचीत) के लिए तुम लोग कहाँ ठहरे थे ?' ॥15॥

सूर्या स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहती हैं -

'हे सूर्ये ! तुम्हारे रथ के दो चक्र, जो समयानुसार चलते हैं और सूर्य-चन्द्र के रूप में प्रख्यात हैं, उन्हें ब्राह्मण जानते हैं। संवत्सरात्मक चक्र जो गुप्त है, उसे विद्वान ही जानते हैं।'॥16॥

ऋषि का अभिप्राय यह है कि सूर्य और चन्द्र, जो दिन और रात के कर्ता हैं, वे तो प्रत्यक्ष दृश्य हैं, किन्तु जो अनन्त अखण्ड काल है, उसकी गति को तो ज्ञानी लोग ही जान पाते हैं। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के पश्चात् पति-पत्नी को काल की गति का ध्यान रखते हुये जीवन को उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति में लगाना चाहिए।

अगले मन्त्र में पतिगृह को प्रस्थान करती हुई सूर्या सावित्री सभी देवों की वन्दना करती हैं-

'सूर्या, देवगण, मित्र, वरुण, जो प्राणियों के शुभ चिन्तक और प्रेरक हैं, उन्हें मैं प्रणाम करती हूँ।'॥17॥

यहाँ सूर्या पवित्र अन्तःकरण से युक्त होकर सभी की मङ्गलकामना करती हुई, स्वयं अपने भीतर निहित आत्मतत्व को भी प्रणाम करती हैं।

सूर्या अपनी भावी संतति की कल्पना दो तेज:पुञ्जों के रूप में करती हैं -

' ये दोनों शिशु - सूर्य और चन्द्र अपने तेज के साथ पूर्व से पश्चिम की ओर विचरण करते हैं। ये क्रीड़ा करते हुये यज्ञ में आते हैं। इन दोनों में से एक (सूर्य) समस्त भुवनों को देखता और प्रकाशित करता है और दूसरा (चन्द्र) ऋतुओं का निर्माण करते हुये पुनः-पुनः जन्म लेता है।' ॥18॥

'प्रकट होते हुये सूर्य प्रतिदिन नये-नये होते हैं। दिवस के सूचक सूर्य उषा के आगे चलते हैं। प्रात:काल आते हुये सूर्य, देवों को यज्ञीय हवि का भाग देते हैं (आनन्ददायी) चन्द्रमा (मर्त्यों को) दीर्घायु प्रदान करते हैं।'॥18॥

इसके पश्चात् सूर्या उस रथ का वर्णन करती हैं, जिस पर आरोहण कर पतिगृह जाना है-

'हे सूर्ये ! अच्छे किंशुक और शाल्मली की लकड़ी से बने हुये (सुकिंशुकं शल्मलिं) नाना रूपों वाले (विश्वरूपं) अथवा नाना प्रकार की चित्रकारी से युक्त, स्वर्ण के समान चमकते हुये (सुवर्णं) अथवा स्वर्ण की नक्काशी वाले, उत्तम शोभा और चक्रों से युक्त इस रथ पर चढ़कर तुम अमृत के लोक; पतिगृह को जाओ। तुम्हारा यह विवाह-मङ्गल और विवाह समग्री (वहतु) तुम्हारे पति के लिए कल्याणकारी हो।'॥20॥

वस्तुतः 'विवाह' (विशेष रूप से वहन करना) इस पद की सार्थकता वधू को माङ्गलिक वाद्यध्वनि आदि के साथ रथ पर बैठाकर विशेष शान-शौकत के साथ वहन कर पतिगृह ले जाने में है।

वैदिक मान्यता के अनुसार विवाह से पूर्व तक कन्या गन्धर्व के संरक्षण में रहती है, अत: विश्वावसु गन्धर्व को सम्बोधित करते हुये सूर्या कहती हैं -

'हे विश्वावसु ! इस स्थान (कन्या के समीप) से उठो, क्योंकि यह पतिवती हो गई है। मैं नमस्कारों और स्तोत्रों से विश्वावसु की स्तुति करती हूँ। तुम पितृगृह में रहने वाली दूसरी अविवाहित कन्या की इच्छा करो। वही तुम्हारे भाग में है। तुम उसके पास जाओ।'॥21॥

'हे विश्वावसु ! यहाँ से उठो। हम नमस्कारों से तुम्हारी वन्दना करते हैं। तुम किसी अन्य बृहत् नितम्बों वाली कन्या की इच्छा करो और उसे पत्नी बनाकर उसके पति से संयुक्त करो।'॥22॥

'हे देवों ! वे मार्ग कण्टकविहीन और ऋजु (सरल) हों, जिनसे हमारे मित्र कन्या के घर पहुँचते हैं। अर्यमा और भग देव हमें भली-भाँति ले जावें। यह पति-पत्नी का जोड़ा एक अच्छा मिथुन हो। परस्पर प्रेमपूर्वक रहते हुये ये एक आदर्श दम्पती बनें।' ॥23॥

'हे वधू ! मैं तुम्हें वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ, जिससे तुम्हें सविता ने बाँधा था (सूर्य से प्रेरित होकर ही वरुण अपने पाश में बाँधते हैं) । जो ऋत का आश्रय और सत्कर्मों का लोक है, ऐसे पतिगृह में अहिंसा के योग्य तुमको मैं पति के साथ स्थापित करता हूँ।' ॥24॥

'मैं पितृकुल से तुम्हें मुक्त करता हूँ , वहाँ (पतिकुल) से नहीं। उस पतिकुल से मैं तुम्हें भली-भाँति बाँधता हूँ (सुबद्धाममुतस्करम्); हे (धरती को) सींचने वाले इन्द्र ! जिससे यह वधू उत्तम पुत्र और उत्तम भाग्य से युक्त हो।' ॥25॥

'हे वधू ! तुम्हारा हाथ पकड़कर पूषा (भाग्यदेवता) यहाँ से ले जावें। अश्विदेव (शुभस्पति) तुम्हें रथ पर आरोहण करा कर पतिगृह में पहुँचावें। तुम अपने घर जाकर गृहस्वामिनी बनो (गृहान् गच्छ गृहपत्नी)। अपने मधुर भाषण और व्यवहार से सबके हृदय को जीतो। तुम विवेकपूर्ण उत्तम वचन बोलो।' ॥26॥

अग्रिम मन्त्र मे पतिगृह पहुँचने पर वधू के लिए आशीर्वाद है -

'हे वधू ! इस पतिगृह में पुत्रों के साथ तुम्हारे प्रिय की वृद्धि हो। इस गृह में गार्हपत्य (गृहस्थ धर्म के पालन) के लिए सावधान रहो -

गार्हपत्याय जागृहि।

इस पति के साथ अपने शरीर को संयुक्त करो। (दो देह होते हुये भी एकात्म हो जाओ)। वृद्धावस्था तक सभी को समुचित सम्मति देती रहो।' ॥27॥

अग्रिम मन्त्र में विपरीत बुद्धि वाली वधू के सम्बन्ध में ऋषि कहती हैं -

'जब बधू लाल-नीली होती है अर्थात् क्रोध करती है, तब उसमें विनाश और प्रतिशोध की बुद्धि बढ़ती है - (कृत्यासक्तिर्व्यज्यते)तब उसके ज्ञाति (पितृ) कुल के लोग बढ़ते हैं और पति बन्धन में बँध जाता है।' ॥28॥

'शरीर-मल से युक्त (शामुल्यं) वस्त्र का त्याग करो। ब्राह्मणों को धन दो। कृत्या चली गई है। पत्नी पति से सम्मिलित हो रही है।' ॥29॥

त्यागपूर्ण भोग ही गृहस्थ का आदर्श है। अत: वधू से दान दिलाकर दान के प्रति उसकी अभिरुचि बढ़ाई गई है। पति के लिए पत्नी के वस्त्र को धारण करने का निषेध करते हुये सूर्या कहती हैं -

'यदि पति वधू के वस्त्र से अपने शरीर को ढकना चाहे तो पति का उज्ज्वल शरीर भी श्री-रहित हो जाता है -

अश्रीरा तनूर्भवति ' ||30||

'वधू के सम्बन्धियों से यदि यक्ष्मा आदि व्याधियाँ वर के पास आती हों, तो यज्ञ-भाग के योग्य (इन्द्रदि) देवता उन्हें पुनः उस स्थान पर पहुँचा दें, जहाँ से वे आई थीं। अभिप्राय यह है कि वर एवं वर का परिवार वधूपक्ष के किसी घातक रोग से ग्रसित न हो, अतः यज्ञ द्वारा वायुमण्डल को शुद्ध और वातावरण को पवित्र किया जाना चाहिये।' ||31||

'जो शत्रुरूप में इस दम्पती के पास आना चाहते हैं, वे इनके पास न आ पायें। वे सुगम मार्गों से दुर्गम प्रदेश में चले जायें।' ||32||

वधू के लिए पतिगृह में एक नये जीवन का प्रारम्भ करने के लिए गुरुजनों का आशीर्वाद और शुभाशंसा एक बहुत बड़ा सम्बल होता है, अतः बन्धु-बान्धवों से आशीर्वाद को प्राप्त करते हुये सूर्या कहती हैं -

'यह वधू सुमङ्गली है, अतः सभी (बान्धवजन) आयें और इसे देखें। इस नववधू को सौभाग्य का आशीर्वाद देने के पश्चात् ही सब अपने-अपने घर जायें।' ||33||

योग्य ब्राह्मण द्वारा वधू को विविध प्रकार के अन्न और भोजन-विषयक शिक्षा देना आवश्यक है -

'यह तृष्णा और दाह को बढ़ाने वाला है (तृष्टं), यह पित्तकारक है, यह घृणित और विषयुक्त अन्न है, अतः खाने योग्य नहीं है (एतत् अत्तवे न), जो ब्राह्मण सूर्या को इस प्रकार सिखाता है, वही वधू की ओर से उपहार में वस्त्र पाने योग्य है।' ||34||

नाना प्रकार के वस्त्रों को धारण किये हुये सूर्या के रूप की प्रशंसा करते हुये ऋषि कहती हैं -

'यह धारी वाला वस्त्र है, यह सिर पर धारण किये जाने वाला चमकीला वस्त्र है, यह सर्वाङ्ग में धारण किये जाने वाला वस्त्र है। इन वस्त्रों से सुशोभित सूर्या को देखो। ब्राह्मण इन वस्त्रों को शुद्ध करते हैं।' ||35||

अगले मन्त्र में सूर्या विवाह संस्कार की सबसे महत्वपूर्ण विधि पाणिग्रहण का वर्णन करती हैं -

'(वर वधू से कहता है) - सौभाग्य के लिए मैं तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक पहुँचना अर्थात् यह पाणिग्रहण सम्पूर्ण जीवन के लिए है। भग, अर्यमा, सविता और पुरंधि (पूषा) देवों ने तुम्हें गृहस्थधर्म का पालन करने के लिए मुझे प्रदान किया है' -

गार्हपत्याय अदुः ॥36॥

पाणिग्रहण का उद्देश्य गृहस्थधर्म की मर्यादा में कामेच्छा की पूर्ति और सन्तानोत्पत्ति या प्रजनन है। स्त्री-पुरुष विवाह सम्बन्ध को इसलिए स्वीकार करते हैं कि वे परिवार के विकास में सहायक हों। इसी उद्देश्य को प्रतिपादित करते हुये कहा गया है -

'हे पूषन्! जिस स्त्री में पुरुष बीज बोता है (यस्यां बीजम् मनुष्याः वपन्ति), जो हमारी कामना करती हुई उरुद्वय का विस्तार करती है, जिसमें कामवश हम प्रजननेन्द्रिय का प्रहार करते हैं, ऐसी शिवतमा (अत्यन्त कल्याणमयी) स्त्री को मेरे प्रति प्रेरित करो।' ॥37॥

पुरुष की पूर्णता के लिए जाया और प्रजा को आवश्यक मानते हुये सूर्या देवों को सम्बोधित करते हुये कहती हैं -

'हे अग्नि! गन्धर्वों ने सूर्या को सर्वप्रथम तुम्हें समर्पित किया। तुमने दहेज के साथ उसको सोम को दिया। हे अग्नि! तुम पुनः प्रजा के साथ जाया को उसके पति को प्रदान करो।'॥38॥

'अग्नि ने पुनः आयुष्य और तेज के साथ पत्नी को दिया। इसका जो पति है, वह दीर्घायु होकर सौ वर्ष तक जीवित रहे'-

अस्याः यः पतिर्जीवति शरदः शतम् ॥39॥

कन्या पर विविध देवों का अधिकार मानते हुये सूर्या कहती हैं -

'सोम ने सर्वप्रथम तुम्हें पत्नी रूप में प्राप्त किया। तुम्हारे द्वितीय पति गन्धर्व हुये और तृतीय अग्नि। मनुष्यज (मनुवंश के मानव) तुम्हारे चौथे पति हैं।' ॥40॥

यहाँ केवल चौथे पति को ही 'मनुष्यज' कहा गया है, अतः बहुपतित्व प्रमाणित नहीं है। कन्या के प्रथम तीन पति दिव्य शक्तियाँ हैं, जिनके संरक्षण में कन्या अपने पितृकुल में रहती है। विवाह के समय अग्नि साक्षिक विवाह द्वारा अग्नि कन्या को उसके वास्तविक पति को प्रदान करते हैं। इसी तथ्य को अग्रिम मन्त्र में कहा गया है -

'सोम ने गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को दिया और इसके पश्चात् अग्नि ने ऐश्वर्य तथा संतति के साथ इसे मुझे प्रदान किया है।' ॥41॥

इसके पश्चात् वधू को पतिगृह में प्रवेश कराते हुये कहा गया है -

'हे वरवधू! तुम दोनों यहीं रहो - इह एव स्तम्।

कभी एक-दूसरे से वियुक्त न होओ - मा वि यौष्टम्।

सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करो। पुत्र-पौत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुये आनन्दपूर्वक अपने गृह में रहो।' ॥42॥

'प्रजापति हमें उत्तम सन्तति दें। अर्यमा वृद्धावस्था तक हमें साथ रखें -

अर्यमा आजरसाय समनक्तु ।

हे वधू ! तुम अदुर्मङ्गली होकर पतिगृह में प्रवेश करो। हमारे बन्धुओं (द्विपदों) और पशुओं (चतुष्पदों) के लिए कल्याणकारिणी बनो।' ॥43॥

'हे वधू ! तुम शान्त दृष्टि वाली बनो। किसी को भी टेढ़ी क्रोधपूर्ण दृष्टि से न देखो-**अघोरचक्षुः भव।**

पति को दुःख न देने वाली या पति का विनाश न करने वाली (अपतिघ्नी) होओ। तुम सुन्दर मन वाली (सुमनाः), सुन्दर तेज वाली (सुवर्चाः) होओ। तुम वीर पुत्रों को जन्म देने वाली, देवों के प्रति भक्ति रखने वाली (देवकामा) होओ। हमारे परिजनों और पशुओं के प्रति मङ्गलमयी होओ।' ॥44॥

'हे जल की वर्षा करने वाले इन्द्र ! इस नारी को उत्तम पुत्र और सौभाग्य से सम्पन्न करो (सुपुत्रां सुभगां कृणु)। इसे दस पुत्र प्रदान करो, इसके पति को ग्यारहवाँ बनाओ (पतिमेकादशं कृधि)।'॥45॥

'हे वधू ! तुम श्वसुर, सास, ननद और देवरों की साम्राज्ञी बनो।(इन सबकी स्वामिनी बनो)।' ॥4॥

'सभी देवता (विश्वे देवाः) हमारे हृदयों को मिलायें। जल, वायु और सकल फलों की दात्री सरस्वती हम दोनों को संयुक्त करे -

समु देष्ट्री दधातु नौ ॥47॥

यहाँ जल, वायु आदि देवों से वर-वधू को एक करने की प्रार्थना की गई है। सूर्या की दृष्टि में शारीरिक मिलन से अधिक महत्वपूर्ण है - मन का मिलन। जो विवाह सम्बन्धों के स्थायित्व का आधार है। जल सम्पूर्ण सृष्टि के आधार और जीवन-रस का प्रतीक हैं, वायु प्राण स्वरूप हैं, सरस्वती वाणी की अधिष्ठात्री हैं; अतः इन तीनों से वर-वधू को संयुक्त करने की प्रार्थना है। अभिप्राय यह है कि दोनों के प्राण एक हों, जीवन का रस (आनन्द) एक हो, वाणी एक हो, दोनों में मतभेद न हों।

इस प्रकार सूर्या का यह विवाह सूक्त विवाह की एक आदर्श महनीय अवधारणा को प्रस्तुत करता है, जो परिवार की सुख-शान्ति और अभ्युदय का आधार है। इस सूक्त में जीवन के उन शाश्वत मूल्यों की स्थापना की गई है, जो हर काल में प्रासङ्गिक रहे हैं। अथर्ववेद के चतुर्दश काण्ड में सूर्या के दो विवाह विषयक सूक्त प्राप्त होते हैं। दोनों सूक्तों की सम्मिलित मन्त्र-संख्या 139 है। इस प्रकार स्त्री ऋषियों में सूर्या का अवदान सर्वाधिक है।

* * *

14. उर्वशी

उर्वशी समाज से एक ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिन्हें कभी 'देवनर्तकी', 'अप्सरा', 'नगरवधू' और 'गणिका' कहा जाता था ; जो आज 'बार-बाला' के नाम से जानी जाती हैं। हर युग में ऐसी स्त्रियाँ भी समाज का ही एक अङ्ग रहीं हैं ; जिनके सुख-दुःख और सम्वेदनाएँ अपनी न होकर किसी सम्पन्न वर्ग द्वारा खरीदी जाती हैं , जो चाह कर भी समाज में पति-पुत्रवती होने के गौरव को प्राप्त नहीं कर पाती हैं। ऋग्वेद में उर्वशी को 'अप्सरा' और 'दिव्याङ्गना' कहा गया है।[1]

ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित 18 मन्त्रों वाले 95वें सूक्त के 9 मन्त्रों की ऋषि उर्वशी एवं 9 मन्त्रों के ऋषि पुरुरवा हैं। यह सूक्त 'पुरुरवा-उर्वशी' संवाद के रूप में निबद्ध है। बृहद्देवता के अनुसार यह एक आख्यान है।[2] सायण ने इस आख्यान को इतिहास कहा है।[3] वाजसनेयी संहिता और शतपथ ब्राह्मण में इस संवाद के आधार पर एक आख्यान विकसित हुआ है[4], जिसके अनुसार अप्सरा उर्वशी तथा ऐल (इला और बुध के पुत्र) पुरुरवा में प्रेम होने पर, उर्वशी पुरुरवा के साथ एक ऐसे सम्बन्ध-सूत्र में आबद्ध हुईं, जिसका स्थायित्व इस वचन पर आधारित था कि वे शय्या के अतिरिक्त अन्य स्थानों में कभी भी पुरुरवा को निर्वस्त्र नहीं देखेंगीं।

गन्धर्वों के षडयन्त्र से पुरुरवा इस वचन को पूर्ण नहीं कर पाये, अतः उर्वशी अदृश्य हो गईं। उन्मत्त के समान पुरुरवा उन्हें खोजते रहे। अन्त में उन्होने एक सरोवर में उर्वशी को अन्य अप्सराओं के साथ जलीय पक्षी के रूप में तैरते हुये देखा। तब पुरुरवा ने उर्वशी को पुनः पाने के लिए उनके प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त किया। इसी प्रसङ्ग में यह संवाद निबद्ध है।

पुरुरवा उर्वशी को सम्बोधित करते हुये कहते हैं -

'हे निष्ठुर पत्नि ! (हये जाये) ! अनुराग युक्त मन से (थोड़ा) ठहरो। हम लोग शीघ्र आपस में वार्तालाप कर एक-दूसरे के विचारों को जानें। यदि इस समय हमने परस्पर हृदय की बात नहीं जानी, तो भविष्य में मुझे कभी भी सुख-चैन नहीं मिलेगा।'

---

1. ऋग्वेद 10.95.10,17
2. आख्यानं तु हये जाये। बृहद्देवता 1.53
3. ऐलोर्वशीतिहासोऽत्र वैशद्यार्थं प्रवर्ण्यते। सायण भाष्य
4. वाजसनेयी संहिता 15.15-19 शतपथ ब्राह्मण 11.5.1.1

उर्वशी ने उत्तर दिया - ' केवल वार्तालाप से क्या होगा ? प्रथम उषा के समान मैं तुम्हारे समीप से चली आई हूँ। हे पुरुरवा ! तुम अपने घर लौट जाओ। मैं वायु के समान दुष्प्राप्य हूँ।'॥2॥

पुरुरवा ने अपनी विरह-जन्य व्याकुलता को अभिव्यक्त करते हुये कहा -

'(तुम्हारे विरह के कारण) मेरे तूणीर से विजय-प्राप्ति के लिए बाण नहीं निकलते। युद्ध में जाकर मैं अपरिमित गायों को नहीं ला सकता। वीर्यविहीन मेरे राजकार्य शोभित नहीं होते। विस्तृत संग्राम में शत्रुओं को कँपा देने वाले मेरे वीर युद्ध में सिंहनाद नहीं करते।'

स्वयं को उषा के समान कहने वाली उर्वशी स्वयं को ही सम्बोधित करते हुये कहती हैं -

'हे उषा ! श्वसुर को भोजन देती हुई (वधूधर्म का पालन करती हुई उर्वशी) यदि पति-सुख की कामना करती, तो श्वसुर के भोजनगृह से पति के शयनगृह में जाती और दिन-रात रमण-सुख का उपभोग करती।' ॥4॥

इस प्रकार स्वयं को सम्बोधित करने के पश्चात् उर्वशी पुरुरवा से कहती हैं -

'हे पुरुरवा ! तुम दिन में तीन बार पुरुषदण्ड से ताड़ित करते थे - मेरा उपभोग करते थे। किसी सपत्नी के साथ मेरी प्रतिद्वन्दिता नहीं थी। मेरे अनुकूल रहकर तुम मुझे सन्तुष्ट करते थे। मैं (इसी आशा से) तुम्हारे घर आई थी। हे वीर राजा ! उस समय तुम मेरे शरीर को सुख देने वाले थे।' ॥5॥

पुरुरवा को विरह दुःख से उबारने के लिए उनके पराक्रम और महिमा का स्मरण दिलाते हुये उर्वशी कहती हैं -

'जिस समय पुरुरवा ने जन्म लिया, उस समय देव-पत्नियाँ (ग्नाः) अथवा अप्सरायें उसे देखने आईं। अपनी शक्ति से प्रवाहशील (स्वगूर्ताः) नदियों ने भी उनकी संवर्द्धना की। हे पुरुरवा ! महान संग्राम के लिए (महे रणाय) और दस्यु-हनन के लिए (दस्युहत्याय) देवों ने तुम्हें बढ़ाया (सामर्थ्य सम्पन्न किया) है।' ॥7॥

उर्वशी की इस प्रबोधक उक्ति का पुरुरवा पर किञ्चित् भी प्रभाव नहीं हुआ, वे उसी प्रकार व्याकुल स्वर में अपनी अवस्था का निवेदन करते रहे। उन्होने उर्वशी के गर्भस्थ पुत्र का स्मरण दिलाते हुये उसे रोकना चाहा। तब उर्वशी ने कहा -

'पुरुरवा ! पृथ्वी की रक्षा के लिए तुमने पुत्र को जन्म दिया था। तुमने मुझमें गर्भ स्थापित किया था। सब-कुछ जानने वाली मैं (विदुषी) उन दिनों तुमसे सर्वदा कहा करती थी कि किस स्थिति में मैं तुम्हारे पास नहीं रह पाऊँगी [1], परन्तु तुमने मेरी बात नहीं सुनी -

मे न अशृणोः ।

अब प्रतिज्ञा को भङ्ग करने वाले तुम इस प्रकार प्रलाप क्यों कर रहे हो ?' ॥11॥

तब पुरुरवा भावी शिशु के विषय में उर्वशी से कुछ प्रश्न करते हैं, जिनका उत्तर देते हुये उर्वशी कहती हैं -

'हे पुरुरवस् ! मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देती हूँ (प्रति ब्रवाणि) । तुम्हारा पुत्र[2] अश्रुपात या क्रन्दन नहीं करेगा। मैं उसके कल्याण के लिए प्रयत्न करूँगी। (बड़ा होने पर) मैं उसे तुम्हारे पास भेज दूँगी। हे मूढ़ ! अपने घर लौट जाओ, अब मुझे नहीं पा सकोगे।'॥13॥

उर्वशी के इस दो टूक उत्तर को सुनकर पुरुरवा स्वयं की मृत्यु-कामना करते हुये कहते हैं -

'तुम्हारा यह प्रेमी यहीं गिर पड़े, अथवा किसी सुदूर देश की ओर चल पड़े (महाप्रस्थान करे), निर्ऋति की गोद में विश्राम करे, उसे शक्तिशाली वृक् (भेड़िये)खा जायें।'

इस अमङ्गल का प्रतिषेध करते हुये उर्वशी कहती हैं -

'हे पुरुरवा ! तुम मृत्यु को प्राप्त न होओ, तुम्हारा (यहाँ) पतन न हो, तुम्हें अमङ्गलकारी भेड़िये न खायें। स्त्रियों का सख्य (मैत्री अथवा प्रेम) स्थायी नहीं होता -

स्त्रैणानि सख्यानि न वै सन्ति ।

---

1. 'आशासम त्वा विदुषी....न मे अ श्रृणोः' उर्वशी के इस कथन के आधार पर परवर्ती साहित्य में कुछ शर्तों का वर्णन हुआ है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह शर्त पुरुरवा को विवस्त्र नहीं देखने की थी। बृहद्देवता ने शर्त का विवरण देते हुये केवल संविदा पर राजर्षि पुरुरवा और अप्सरा उर्वशी के साथ रहने की बात कही है - 'न्यवसत्संविदं कृत्वा तस्मिन्धर्मं चचार च।' 17.117

   विक्रमोर्वशीय के अनुसार यह साथ रहने की अवधि पुरुरवा द्वारा उर्वशी से उत्पन्न पुत्र का मुख देखने तक की थी, जो देवराज इन्द्र द्वारा निर्धारित की गई थी। -विक्रमोर्वशीय अङ्क5

2. विक्रमोर्वशीय के अनुसार इस पुत्र का नाम 'आयु' था, जिसे उर्वशी ने वियोग के भय से जन्मते ही महर्षि च्यवन के आश्रम में रख दिया था।

वे जंगली भेड़ियों के समान (क्रूर) हृदयवाली होती हैं -

सालावृकाणां हृदयानि एता' ॥15॥

'मैं नाना रूप धारण कर मृत्यु लोक में विचरण कर रही थी[1], तब मैने चार शरदों (वर्षों)तक रात्रि-वास किया था और घृत का स्वाद दिन में एक बार लिया था -

घृतस्य स्तोकं सकृत् अह्नः अश्नाम् ।

अर्थात् रतिसुख का आस्वाद लिया था। उससे ही मैं तृप्त होकर (तुम्हें छोड़कर) दूर जा रही हूँ।' ॥16॥

पुरुरवा पुनः उर्वशी से लौटने की प्रार्थना करते हैं। तब उर्वशी उन्हें सान्त्वना देते हुये तथा संवाद का उपसंहार करते हुये कहती हैं -

'हे इला-पुत्र पुरुरवा (ऐल) ! ये समस्त देव तुमसे कह रहे हैं, तुम मृत्युबन्धु- मृत्यु को बाँधने वाले (मृत्यु को जीतने वाले) होगे। हवि से देवों के लिये यजन करोगे -

देवान् हविषा यजाति,

मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग जाकर आनन्द का उपभोग करोगे -

स्वर्ग उत्वमपि मादयासे ' ॥18॥

पुरुरवा और उर्वशी के इस दुःखान्त प्रणय को परवर्ती साहित्य ने सुखान्त कथा में परिणत किया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पुरुरवा की विनती पर उर्वशी ने एक वर्ष बाद एक रात्रि के लिए उनके साथ रहने का वचन दिया। पुरुरवस् नियत समय पर आये। दूसरे दिन गन्धर्वों ने उन्हें एक गन्धर्व बन जाने का वरदान दिया।

---

1. देवाङ्गना उर्वशी के मृत्युलोक में आने का कारण एक शाप माना गया है। पुराकथाओं के अनुसार एक बार यज्ञसत्र में दीक्षित मित्र और वरुण उर्वशी को देखकर कामभाव से युक्त हो गये। उनका वीर्य स्खलित होकर धरती, जल और कुम्भ में गिरा। तब उन्होने उर्वशी को शाप दिया कि वह मृत्युलोक में मनुष्य की भोग्या होगी।

-ऋग्वेद 10.95 पर सायणभाष्य

कालिदास के अनुसार लक्ष्मी-स्वयंवर नामक नाट्यप्रयोग में लक्ष्मी की भूमिका में विद्यमान उर्वशी द्वारा 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरुरवा' का नाम लिए जाने पर क्रुद्ध आचार्य भरत के शाप से उन्हें मर्त्यनोक में आना पड़ा था।

-विक्रमोर्वशीय अङ्क3

बृहद्देवता में यह कथा प्रकारान्तर से प्रस्तुत है। तदनुसार उर्वशी और पुरुरवा के प्रेम के प्रति ईर्ष्याग्रस्त इन्द्र ने अपने षडयन्त्र से दोनों को वियुक्त कर दिया। पुरुरवा द्वारा पुनः लौट आने की प्रार्थना किये जाने पर दुःखी उर्वशी ने व्यथित हृदय से उत्तर दिया - 'अब मैं यहाँ अप्राप्य हूँ, स्वर्ग में ही तुम मुझे पुनः प्राप्त करोगे।'

महाकवि कालिदास ने इस कथा की मार्मिक प्रस्तुति अपने सुखान्त नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' में की है।

* * *

5. दक्षिणा

विश्व संस्कृति में 'दक्षिणा एवं दान' मानव के आवश्यक कर्तव्य माने गये हैं। वैदिक संस्कृति में दक्षिणा यज्ञसंस्था का एक महत्वपूर्ण अङ्ग रही है। यज्ञ के अन्त में ऋत्विजों को पारिश्रमिक या उपहार के रूप में दिया गया द्रव्य दक्षिणा कहा जाता है। यज्ञ की पूर्णता दक्षिणा से ही समझी जाती है। पुरोहित के लिए स्वर्ण, अश्व, गो, वस्त्रादि दान या दक्षिणा के रूप में देने का उल्लेख, ऋग्वेद में अनेकश: हुआ है। ऋत्विजों को दी गई दक्षिणा से यजमान द्वारा इस लोक में अभीष्ट सुख-सम्पत्ति की उपलब्धि और मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक की प्राप्ति का वर्णन भी किया गया है। दक्षिणा की इसी महिमा का निरूपण करने वाले 'दक्षिणा सूक्त (10.107)' की ऋषि प्रजापति की पुत्री 'दक्षिणा' हैं।

दक्षिणा याग का अङ्ग है। याग प्रात:काल सूर्य के उदित होने पर ही किये जाते हैं, अत: सूर्योदय का वर्णन करते हुये ऋषि कहती हैं -

'इन (यजमानों की यज्ञसिद्धि) के लिए सूर्यरूपी इन्द्र का महान तेज प्रकट हुआ है। समग्र चराचर जगत् अन्धकार से मुक्त हुआ -

विश्वं जीवं तमस: निरमोचि।

पितरों द्वारा दी गई (सूर्यरूपी) महती ज्योति उदित हुई। दक्षिणा का उदात्त मार्ग प्रशस्त हुआ ' -

उरु: पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥1॥

'जो लोग दक्षिणा देते हैं, वे द्युलोक में उच्च स्थान पाते हैं। अश्व का दान करने वाले सूर्य का सान्निध्य पाते हैं। सुवर्ण का दान करने वाले अमृत के भागी होते हैं -

हिरण्यदा अमृतत्वं भजते।

वस्त्रदाता सोम के पास जाते हैं। सभी दक्षिणावान् दीर्घायु होते हैं।'॥2॥

'दक्षिणा देवताओं के लिए किए जाने वाले कर्म (यागादि) को पूर्ण करती है। यह देवयज्या (याग) का अङ्ग है। कुत्सित आचरण वालों का कार्य, देवगण सिद्ध नहीं करते-

कवारिभ्यो नहि ते पृणन्ति।

जो पवित्र दक्षिणा देते हैं, अवद्य (निन्दा और पाप) से डरते हैं, वे ही देवों को प्रसन्न करते हैं (देवगण उन्हीं के कार्य पूर्ण करते हैं)।' ॥3॥

'शतमार्गों से बहने वाली वायु, स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले आदित्य, मानव के शुभाशुभ के द्रष्टा इन्द्रादि देवों को जो लोग हवि देते हैं, जो यज्ञ में देवों को स्तुतियों से प्रसन्न करते हैं और दान देते हैं, उनके सभी मनोरथ दक्षिणा पूर्ण करती है। वे सप्त होताओं की मातृभूता दक्षिणा को दुहते हैं, अर्थात् दक्षिणा से मनोरथपूर्ति रूपी दुग्ध पाते हैं -

दक्षिणां दुहते सप्तमातरम् ॥4॥

'दक्षिणावान् को सबसे पहले बुलाया जाता है अर्थात् दाता का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। दक्षिणवान् ग्रामणी (ग्राम का मुखिया) होकर अग्रणी होता है। जो सबसे पहले दक्षिणा देते हैं, उन्हें ही मैं नृपति मानती हूँ।' ॥5॥

'जो सर्वप्रथम दक्षिणा से ऋत्विजों की आराधना करता है, उसे ही 'ऋषि' (तत्वद्रष्टा) और 'ब्रह्मा' कहा जाता है। उसे ही यज्ञ का नेता (अध्वर्यु), 'सामगाता' और उक्थ का शंसिता 'होता' कहा जाता है। वह दाता ही दीप्यमान अग्नि के तीन तनुओं को जानता है।' ॥6॥

'जो दक्षिणा के रूप में अश्व, गौ, सुवर्ण, रजत (चन्द्रं उत यत् हिरण्यम्) अन्न आदि का दान करता है, वह आत्मतत्व का ज्ञाता विद्वान दक्षिणा को कवच के समान समस्त दुःखों, कष्टों और विघ्नों का निवारण करने वाला बना लेता है।' ॥7॥

'धनादि दान करने वाले दाता (भोजाः) की मृत्यु नहीं होती - **न मम्रुः ।**

अर्थात् दान से उनका यश:शरीर अमर हो जाता है।

वे निकृष्ट गति अथवा दारिद्र्य को प्राप्त नहीं होते- **न रिष्यन्ति ।**

दाता कभी पीड़ित नहीं होते। इतना ही नहीं, यह जो विश्व-भुवन और स्वर्ग के सुख हैं, वह सब उन्हें दक्षिणा देती है -

एतत् सर्वं दक्षिणा एभ्यो ददाति' ॥8॥

'उदारदाता (भोजाः) दुग्ध प्रदान करने वाली उत्तम गाय (सुरभि) को सबसे पहले ही पा जाते हैं। उदारदाता सुन्दर वस्त्रों से सुशोभित वधू (सुवासाः वध्वं) पाते हैं। वे दाता अनुपान रूप उत्तम सुरा पाते हैं। दाता लोग ही; प्रथम आक्रमण करने वाले शत्रुओं को जीत लेते हैं।' ॥9॥

'दाता के लिए (भोजाय) समलंकृत शीघ्रगामी अश्व (आशुं अश्वम्) दिया जाता है दानशील के लिए वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित नवयौवना कन्या दी जाती है। दाता को पुष्करिणी (पद्म-हंस आदि से अलंकृत निर्मल जल वाले सरोवर) के समान शोभित और देवमन्दिरों के सदृश सुसज्जित (देवमानेव चित्रम्) भवन (वेश्म) प्राप्त होता है।' ॥10॥

' उत्तमरीति से वहन करने वाले अश्व (सुष्ठुवाह अश्व) दाता को वहन करते हैं। दक्षिणादाता का रथ उत्तम चक्रादि से युक्त होता है। देवता युद्ध में दाता की रक्षा करते हैं। दाता युद्ध में शत्रुओं को जीतता है' -

भोजः शत्रून् समनीकेषु जेता॥11॥

इस प्रकार दक्षिणा की स्तुति में रचित यह सूक्त मानव को दक्षिणा देने एवं सदाचार पूर्ण नैतिक जीवन जीने के लिए प्रेरित करता है। दक्षिणा का उद्देश्य; पूँजी का समाज के एक ऐसे वर्ग में वितरण भी है ; जो वाणिज्य, व्यवसाय, कृषि, शिल्प आदि से जीविका का अर्जन नहीं करता है। दक्षिणा ही परवर्ती युग में दान का रूप ले लेती है। मनु आदि स्मृतिकारों ने कलियुग में दान को ही मुख्य धर्म माना है। अपने धन को सम्पूर्ण जगत् को लुटा देने वाले सूर्य के समान 'दक्षिणा' ने भी उदारदाता का उदात्त मार्ग प्रदर्शित किया है-

'उरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि।'

* * *

16. सरमा

वैदिक नारी की गौरवगाथा का एक महत्वपूर्ण अध्याय हैं - सरमा, जो एक दूती के रूप में पूरी ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्य का पालन करते हुये अपने स्वामी इन्द्र के प्रयोजन को सिद्ध करती हैं।

किसी भी राष्ट्र की शासन-व्यवस्था में; परराष्ट्रनीति के अन्तर्गत पड़ोसी एवं दूरवर्ती राज्यों से सम्बन्ध बनाये रखने, अपने सन्देश को उन तक पहुँचाने, उनकी शासन-व्यवस्था, प्रजा के मनोभाव तथा गुप्त रहस्यों का पता लगाने में राजदूतों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः कौटिल्य ने दूत को राजा का मुख कहा है -

दूतमुखा वै राजानः ।[1]

उनके मत में परराष्ट्र में प्राणभय होते हुये भी दूत को स्वामी का सन्देश यथावत् प्रस्तुत करना चाहिए। इसी दूतधर्म का निष्ठापूर्वक निर्वाह करने वाली ऋषि हैं - सरमा।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित 108 वाँ सूक्त इन्द्रदूती सरमा के दौत्यकर्म का निदर्शन करता है, जो 'सरमा-पणि-संवाद' के रूप में प्रस्तुत हुआ है। 11 मन्त्रों वाले इस सूक्त के द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम और एकादश मन्त्र की ऋषि सरमा हैं, शेष मन्त्रों के ऋषि पणि हैं।

सरमा ने अपना परिचय 'इन्द्रदूती' के रूप में दिया है। 'सरमा' शब्द की व्युत्पत्ति गति अर्थ वाली 'सृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है - सरणशील, गतिशील या गमन करने वाली; जो दूत के शारीरिक और मानसिक रूप से निरन्तर गतिशील रहने वाले व्यक्तित्व और कर्तव्य को सूचित करते हैं।

सरमा के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में परवर्ती साहित्य में कई भ्रामक धारणायें और कथायें प्रचलित हैं। निरुक्त और सायण भाष्य में सरमा को देवशुनी (देवों की कुतिया) कहा गया है, जिसका कोई भी प्रमाण प्रस्तुत सूक्त (10.108) में नहीं है। पणियों के साथ होने वाले संवाद में कहीं भी इस प्रकार का सङ्केत नहीं है, जो उसके शुनित्व को प्रमाणित करता हो, इसके विपरीत उसके उत्तर एक विवेक सम्पन्न, सभी का हित चाहने वाली कर्तव्यनिष्ठ मानवी दूती की छवि ही प्रस्तुत करते हैं, जो पणियों के प्रलोभन में न फँसकर ईमानदारी से दायित्व का निर्वाह करती है।[1]

---

1. अर्थशास्त्र 1.15.3
2. सरमा - सरणात् तस्या एषा भवति। निरुक्त 11.3.25.3

बृहद्देवता और सायण भाष्य में इस सूक्त की पृष्ठभूमि के रूप में कुछ विभिन्नताओं के साथ एक कथा कही गई है, जो इस प्रकार है -

इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति की गौओं को बल नामक असुर के योद्धाओं पणियों ने अपहृत कर एक पर्वत की गुफा में छिपा दिया। तब बृहस्पति द्वारा प्रेरित किये जाने पर इन्द्र ने सरमा नामक देवशुनी को गायों का पता लगाने के लिए भेजा। सरमा एक विशाल नदी को पार कर अति दुर्गम बलपुर पहुँची और वहाँ गुप्त स्थानों में प्रयत्नपूर्वक छिपा कर रखी गई गायों को उसने देखा। इसी बीच पणियों को जब सरमा के आगमन का समाचार मिला, तब उससे मित्रता कर शत्रु का रहस्य जानने के लिए पणियों ने सरमा से संवाद किया।[1]

सरमा और पणियों का संवाद इस प्रकार हुआ - प्रथम मन्त्र में सरमा के पराक्रम से विस्मित पणि उसके अभिप्राय को जानने के लिए उससे पूछते हैं -

'सरमा ! तुम किस अभिप्राय से हमारे इस दुर्गम स्थान को आई हो ? तुमने नदी को कैसे पार किया ? तुम्हारी रात्रि कैसी बीती ?'

सरमा ने अपना परिचय देते हुये कहा -

'हे पणियो ! मैं इन्द्र की दूती हूँ। उन्हीं के द्वारा प्रेषित मैं इस स्थान पर आई हूँ-

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि।

तुम लोगों ने जो महान गोधन एकत्र किया है, उसी की इच्छा से मैं यहाँ आई हूँ । नदी को पार करने का भय तो था, किन्तु उस भय पर विजय पाकर मैं प्रयत्नपूर्वक नदी को पार कर यहाँ चली आई हूँ ' ॥2॥

तब पणियों ने उसके स्वामी की शक्ति और पराक्रम का आकलन करने के लिए पूछा -

'सरमा ! जिस इन्द्र की दूती बनकर तुम इतनी दूर से इस स्थान पर आई हो, वे इन्द्र कैसे हैं ? उनका पराक्रम कितना है ? उनकी सेना कितनी है ?'

सरमा ने अपना परिचय देते हुये कहा-

---

1. असुरा पणयो नाम रसापारनिवासिनः
गास्तेऽपजहुरिन्द्रस्य न्यगूहश्च प्रयत्नतः।
बृहस्पतिस्तथा पश्यद् दृष्ट्वेन्द्रस्य शशंस च
प्राहिणोत्तत्र दूत्येऽथ सरमां पाकशासनः ॥ बृहद्देवता 8.24.25

'हे पणियो ! जिस इन्द्र की दूती बनकर मैं दूर देश से आई हूँ , वे अदम्य हैं, उनका कोई विनाश नहीं कर सकता -

अहं तं दभ्यं न वेद।

वे ही सबके विनाशक हैं - स:दभत।

गहन गभीर नदियाँ भी उनकी गति को रोक नहीं सकतीं -

न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा।'

हे पणियो ! निश्चय ही वे इन्द्र तुम्हें मारकर (हमेशा के लिए) सुला देंगे -

हता: इन्द्रेण पणय: शयध्वे' ॥4॥

तब इन्द्र के पराक्रम से भयभीत पणियों ने उसे अपनी ओर मिलाने के लिए साम और दाम का प्रयोग करते हुये कहा -

'हे सुभगे (सौभाग्यशालिनि) सरमा ! तुम बहुत दूर से, स्वर्गलोक की अन्तिम सीमा से आ रही हो, अत: इन गायों में से जिन-जिन को तुम चाहती हो, हम तुम्हें दे सकते हैं।'

इमा गाव: .....या: ऐच्छ:।

फिर अपनी शक्ति का दम्भ भरते हुये वे बोले-

'बिना युद्ध के कौन गायें ले जा सकता है ? हमारे पास भी अनेक तीक्ष्ण आयुध हैं।'

उनके इस प्रलोभन से अविचलित रहते हुये उनके प्रस्ताव की निन्दा करते हुये सरमा ने कहा -

'तुम्हारी ये बातें सैनिकोचित (वीरोचित) नहीं हैं। तुम्हारे शरीर में पाप है। कहीं ये शरीर इन्द्र के बाणों के लक्ष्य न हो जायें। तुम्हारे यहाँ आने का जो मार्ग है, इस पर देवता लोग कहीं आक्रमण न कर बैठें। यदि तुम गायें नहीं दोगे, तो बृहस्पति तुम्हें कष्ट देंगे (मुझे प्रतीत होता है कि तुम लोगों पर विपत्ति आने वाली है)।' ॥6॥

अहङ्कार से भरे हुये पणि सरमा की चेतावनी की ओर ध्यान न देते हुये कहते हैं - 'हमारी निधि पर्वतों से सुरक्षित है, रक्षाकार्य में सुनिपुण पणि उसकी रक्षा करते हैं -

रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा।

तुम व्यर्थ इस स्थान पर आई हो।'

सरमा उनकी गर्वोक्ति का सही उत्तर देते हुये कहती हैं -

'सोमपान से शक्तिशाली आङ्गिरस, अयास्य और नवगव यहाँ आयेंगे, वे इन गायों को ले जायेंगे, तब तुम लोगों को इस प्रकार की दर्पोक्ति छोड़नी पड़ेगी।' ॥8॥

तब पणियों ने सरमा को अपनी ओर मिलाने का अन्तिम मनोवैज्ञानिक प्रयास किया। वे प्रेमपूर्वक बड़े ही मनोहारी वचन बोले -

'सरमा ! लगता है, तुम देवों के बल से पीड़ित होकर यहाँ आई हो। हम तुम्हें अपनी भगिनी बनाते हैं -

स्वसारं त्वा कृणुवै ।

अब तुम वहाँ मत लौटना। हे सुभगे ! हम तुम्हें गोधन का भाग देते हैं।'

किन्तु सरमा इस प्रलोभन से विचलित नहीं हुई। उसने स्पष्ट शब्दों में उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दृढ़तापूर्वक कहा -

'मैं भाई और बहन के सम्बन्ध को नहीं जानती। इन्द्र और परक्रमी अङ्गिरस जानते हैं (कि मैं दूती धर्म से भ्रष्ट नहीं हो सकती)। गायों की कामना रखने वाले वे मेरी सूचना पर इस स्थान पर आक्रमण कर देंगे, अतः हे पणियो ! (यदि तुम जीवन चाहते हो, तो) इस स्थान से बहुत दूर भाग जाओ।' ॥10॥

पुनः अपने वक्तव्य पर बल देते हुये सरमा कहती हैं -

'पणियो ! यहाँ से बहुत दूर भाग जाओ। गायें ऋत (सत्य) के बल से गुफाद्वार के अवरोध को विदीर्ण कर अपने स्थान में लौट जायें अथवा तुम्हारे द्वारा पीड़ित की जाती हुईं ये गायें ऋत के पालक इन्द्र द्वारा मुक्त होकर बृहस्पति को प्राप्त करें। बृहस्पति, सोम, सोमाभिषव में प्रयुक्त प्रस्तर, ऋषि और मेधावी लोग इस गुप्त स्थान में रखी गई गायों की बात शीघ्र ही जान जायेंगे।' ॥11॥

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में एक स्त्री द्वारा शत्रु राष्ट्र में जाकर निर्भीकतापूर्वक दौत्यकर्म के निर्वाह का यह सम्भवतः प्रथम और अन्तिम उदाहरण है, जो स्त्री की निष्ठा, तीक्ष्णबुद्धि और प्रत्युत्पन्नमतित्व का सूचक है। इसके साथ ही यह ऋग्वैदिक युग में, राजनीति के क्षेत्र में नारी की महत्वपूर्ण सहभागिता को भी सूचित करता है।

कौटिल्य ने स्त्रियों का उपयोग गुप्तचर, विषकन्या आदि के रूप में करने की बात कही है, किन्तु एक स्त्री को दूत बनाकर भेजने का यह अपने आप में अद्वितीय विरल उदाहरण है।

मनु के अनुसार दूत को सर्वशास्त्र-विशारद, इङ्गिताकार और चेष्टाओं को समझने वाला, शुद्धहृदय, चतुर, कुलीन, अनुरक्त, स्मृतिमान्, देश-काल का ज्ञाता, सुरूप, निर्भय और वाग्मी होना चाहिये ।[1]

इनमें से बहुत-से गुण सरमा में पाये जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या सरमा सचमुच देवताओं की शुनी थी ? क्या एक शुनी द्वारा देवों के दौत्यकर्म का सम्पादन और पणियों से इस प्रकार प्रगल्भतापूर्वक संवाद सम्भव था ? क्या इन्द्र जैसे देवराट् एक शुनी को दूत नियुक्त करते ? क्या पणि एक शुनी को 'सुभगे' (हे सुन्दरी) इस प्रकार का सम्बोधन करते ? अथवा उसे अपनी भगिनी बनाकर गोभाग देने को तत्पर होते? इन प्रश्नों के सन्दर्भ में मेरा दृढ़ अभिमत है कि सरमा निश्चित रूप से दूत की योग्यता से सम्पन्न मानवी अथवा दिव्य स्त्री हैं।

प्रस्तुत संवाद सूक्त के साथ ही ऋग्वेद में प्राप्त अन्य दो सन्दर्भ भी सरमा के शुनित्व को प्रमाणित नहीं करते हैं। प्रथम सन्दर्भ अङ्गिरसों के प्रसङ्ग में प्राप्त होता है। यहाँ कहा गया है कि इन्द्र की सहायता से अङ्गिरा लोगों ने, पदचिह्न देखते हुये पणि नाम के असुरों द्वारा अपहृत गौओं का उद्धार किया था ।[2]

इसी सूक्त के अगले मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र और अङ्गिरा के लिए, गौओं को खोजते हुये सरमा ने अपने तनय (बच्चे) के लिए धासि (अन्न) प्राप्त किया था -

इन्द्रस्याङ्गिरसं चेष्टौ विदत्सरमा तनयाय धासिम् ।[3]

यहाँ सरमा की सन्तान के लिये 'तनय' शब्द का प्रयोग है, जो मानव सन्तान के लिए प्रयुक्त होता है। प्रथम मण्डल के ही एक अन्य सूक्त में कहा गया है कि सरमा ने अङ्गिरसों से प्रचुर गोदुग्ध रूप ऊर्व्य (अन्न) प्राप्त किया था, जिस अन्न से मानुषी विट् (मानवी प्रजा) मनु की सन्तानें जीवन धारण करती हैं -

विदद्गव्यं सरमा दृढमूर्व्यं येनानु कं मानुषी भोजते विट् ।[4]

यहाँ मानवी भोजन की प्राप्ति सरमा के शुनी न होने का प्रमाण है।

सरमा के उदात्त व्यक्तित्व को परवर्ती युग में धूमिल करने का प्रयास किया गया। उस पर; प्रलोभनवश शत्रुओं से मिल जाने, गोदुग्ध के पान करने और अपने स्वामी से मिथ्या भाषण करने के आरोप लगाये गये। सरमा की कर्तव्यनिष्ठा को विश्वासघात में बदल दिया गया। सरमा-पणि संवाद को परिवर्तित कर बृहद्देवताकार कहते हैं -

---

1. मनुस्मृति 6.63-64
2. ऋग्वेद 1.62.2
3. ऋग्वेद 1.62.3
4. ऋग्वेद 1.72.8

'सरमा ने कहा - मैं न तो तुम्हारी बहन बनना चाहती हूँ और न ही तुम्हारा धन चाहती हूँ, किन्तु जिन गायों को तुमने वहाँ छिपा रखा है, उनका दुग्धपान अवश्य करना चाहूँगी **(पिबेयं तु पयस्तासां गवां यास्त्वं निगूहथ)** ।'[1]

सरमा-पणि संवाद में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार का कोई सङ्केत नहीं है। निरुक्तकारों ने उसे 'माध्यमा वाक्' कहते हुए उसके साथ न्याय करने का प्रयास किया है।[2]

* * *

1. बृहद्देवता 8.30.36
2. देवशुनीत्यैतिहासिकपक्षेण माध्यमिका वाक् नैरुक्तपक्षेण सा हि सरणात् गमनात्।

17. जुहू ब्रह्मजाया

ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित 109 वें सूक्त की द्रष्टा जुहू ब्रह्मजाया हैं। यद्यपि वैकल्पिक रूप से ब्रह्मपुत्र ऊर्ध्वनाभा को भी इस सूक्त का ऋषि कहा गया है[1], तथापि शौनक द्वारा स्त्री ऋषियों की सूची में परिगणित होने के कारण जुहू को ही इस सूक्त की ऋषि मानना संमुचित प्रतीत होता है। सूक्त में कुल 7 मन्त्र हैं।

जुहू ब्रह्मजाया का यह सूक्त भारतीय समाज में मान्य विवाह संस्था की पवित्रता और नारी चरित की उदात्तता का एक अमूल्य दस्तावेज़ है।

भारतीय समाज-व्यवस्था में अनादि-काल से ही नारी को अपने सतीत्व या शुद्ध चरित्र की परीक्षा देनी पड़ी है। चरित्र दोष या पाप की आशङ्का मात्र से ही वह पति द्वारा परित्यक्त हुई है। तप और संयम की अग्नि में स्वयं को तपाकर वह शुद्ध स्वर्ण के समान अपने तेज से उद्भासित भी हुई है। अपने चरित्र की शुद्धता को प्रमाणित करने वाली पति द्वारा पुनः परिगृहीत ऐसी ही एक निष्कलङ्क नारी हैं - जुहू ब्रह्मजाया।

जुहू बृहस्पति की पत्नी हैं। बृहस्पति को वाचस्पति, ब्रह्म या ब्राह्मण भी कहा गया है। सम्पूर्ण सूक्त में जुहू का परिचय 'ब्रह्मजाया' के रूप में मिलता है। जुहू का विवाह विधिपूर्वक बृहस्पति से हुआ था। विश्वदेवों (सभी देवताओं) ने जुहू को वर के लिए समर्पित किया था। कदाचित् किसी दोष की आशङ्का से बृहस्पति ने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया। इस प्रकार अकारण परित्याग के कारण वे पाप (किल्विष) के भागी हुये। तब आदित्यादि देवों ने शुद्धचरित्रा जुहू को पुनः उनसे मिलवाया। जुहू की यह कथा अन्यपुरुष की शैली में स्वयं जुहू के ही मुख से इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है -

बृहस्पति द्वारा अपनी पत्नी के परित्याग किये जाने पर प्रमुख देवता ब्रह्म के इस पाप के सम्बन्ध में चर्चा करने लगे -

ते अवदन् प्रथमाः ब्रह्मकिल्विषे।

जुहू के इस दुर्भाग्य पर विचार करने वाले देवता थे - पृथिवी से बहुत दूर (अकूपार)द्युलोक में अपने तेज से चमकते हुये सूर्य, जल के अधिष्ठाता वरुण (सलिल), तीव्रगामी वायु (मातरिश्वा), अन्धकार को

---

1. तेऽवदन्निति सूक्तस्य ब्रह्मजाया जुहूर्मुनिः।
अथवोर्ध्वनाभा नाम ब्रह्मपुत्रः ऋषिः स्मृतः॥ आर्षानुक्रमणी 10.51

हर लेने वाले (वीडुहर) उग्रतेज से युक्त अग्नि, कल्याणकारी (मयोभू:) सोम तथा ऋत से सर्वप्रथम जन्म लेने वाले (प्रथमजा ऋतेन) दिव्य जल। इन देवों ने उपाय पर विचार कर ब्रह्म से प्रायश्चित् कराया ॥1॥

देवों के प्रमुख सोमराजा ने सभी के सम्मुख ब्रह्मजाया जुहू को पुनः बृहस्पति को प्रदान किया। वरुण और मित्र ने इस शुभ कर्म का अनुमोदन किया -

अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीत्।

देवों के आह्वाता एवं मनुष्यों के यज्ञ सम्पादक अग्नि ब्रह्मजाया को हाथ पकड़कर बृहस्पति के समीप लाये -

अग्नि: होता हस्तगृह्यानिनाय ॥2॥

सभी देवों ने अग्नि से कहा - 'इनके शरीर का हाथ से स्पर्श करें। ये ब्रह्मजाया (आपकी विवाहित पत्नी) हैं। इन्हें खोजने के लिए जो दूत भेजा गया था, उसके सम्मुख भी इन्होने आत्मप्रकाश नहीं किया। जैसे क्षत्रशक्ति से सम्पन्न क्षत्रिय का राष्ट्र सुरक्षित रहता है, वैसे ही आत्मशक्ति से युक्त इनका चरित्र सुरक्षित है।' ॥3॥

चतुर्थ मन्त्र में जुहू उग्र तप से सर्वथा निष्कलङ्क हुई ब्रह्मजाया की शुद्धता को प्रमाणित करते हुये कहती हैं -

'आदित्य आदि सनातन देवों ने इनकी शुद्धता के विषय में कहा है। तप-लीन सप्तर्षियों ने भी यही कहा है। बृहस्पति के समीप लाई गई यह जाया भीमा (तप के उग्र तेज से तेजस्विनी) हैं -

भीमा जाया ब्राह्मणस्य उपनीता।

तप और सत्य आचरण निम्न स्थान में पड़े हुये निकृष्ट को भी परम व्योम (उन्नत और उत्तम लोकों) में स्थापित करता है -

दुर्धां दधाति परमे व्योमन्' ॥4॥

अपने तप की शक्ति से भी पति को पुनः प्राप्त करने के पश्चात् ब्रह्मजाया जुहू देवताओं को सम्बोधित करते हुये कहती हैं -

'हे देवो! मेरे पति; पत्नी-परित्याग के कारण ब्रह्मचर्य का आचरण करते रहे हैं। वे सभी यज्ञों में एक ही अङ्ग के रूप में व्याप्त हुये हैं अर्थात् अकेले ही पहुँचे हैं। जैसे पूर्व में उन्होने सोम से अपनी पत्नी को पाया था, वैसे ही इस समय भी मुझ जुहू को पत्नी रूप में पुनः प्राप्त किया है।' ॥5॥

जुहू और ब्रह्म का पुनर्मिलन देवों की साक्षी में, राजाओं और गण्यमान्य जनों की समुपस्थिति में सम्पन्न हुआ। इस सामाजिक साक्ष्य का विवरण देते हुये जुहू कहती हैं -

देवों तथा मनुष्यों ने बृहस्पति के लिए उनकी पत्नी को पुनः प्रदान किया। राजाओं ने भी इस सम्प्रदान को सत्य करते हुये शपथ के साथ शुद्ध चरित्रा पत्नी को समर्पित किया -

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥6॥

इस प्रकार देवों ने तपःशुद्ध जाया को पुनः प्रदान करते हुये बृहस्पति को कलङ्कसे मुक्त कर निष्पाप बनाया। तत्पश्चात् पृथिवी के सर्वश्रेष्ठ अन्न (उपभोग्य वसुओं) को परस्पर बाँटकर उपभोग करते हुये वे प्रशंसनीय बार्हस्पत्य यज्ञ की उपासना करने लगे ॥7॥

जुहू की इस कथा को पढ़कर अनायास ही मानस-पटल पर जो एक अन्य कथा उभर कर आती है, वह है - श्रीराम द्वारा सीता के निर्वासन की कथा। रामायण के साक्ष्य के अनुसार लङ्का में स्वयं अग्नि देवता ने सीता की शुद्धता को प्रमाणित करते हुये उन्हें श्रीराम को समर्पित किया था -

अब्रवीत तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।

किन्तु अयोध्या आने के पश्चात् लोक-निन्दा के कारण सीता का निर्वासन हुआ। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये एकाकी राम; राजधर्म का पालन करते रहे। अयोध्या की राजसभा में भारी जनसम्मर्द में पुनः महर्षि वाल्मीकि द्वारा सीता की शुद्धता को प्रमाणित किया गया।

जुहू की कथा सुखान्त थी, सीता की दुःखान्त। ब्रह्म के कलङ्कके समान ही श्रीराम के इस किल्विष को दूर करने के लिए ही सम्भवतः भवभूति ने जनकनन्दिनी और श्रीराम का पुनर्मिलन कराया है।

* * *

18. वागाम्भृणी

वाक् या वाणी की महिमा को रेखाङ्कित करने वाले; ऋग्वेद के वाक् सूक्त (10.185) की ऋषि हैं- वागाम्भृणी।

मानवीय भावों की अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है - वाक् या वाणी। यही विधाता का वह दिव्य वरदान है, जिसके कारण मानव पशु जगत् से पृथक् होकर एक श्रेष्ठ संस्कृति का निर्माता बना। वाक् द्वारा ही यह नामरूपात्मक जगत् व्याख्यायित हुआ और ज्ञान की महान धरोहर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँची।

ऋग्वेद में कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति के समय जो मेघध्वनि हुई, वह प्रथम वाक् थी, जिससे चराचर विश्व और वाणी के सहस्रों रूपों का विस्तार हुआ ;[1] अतः ब्राह्मण ग्रन्थ वाक् को प्रजापति - वाग् वै प्रजापतिः कहते हैं, तो उपनिषद् ब्रह्म - वाग्वै ब्रह्म।[2]

अम्भृण ऋषि की पुत्री होने के कारण ऋषि 'वाक्' को वागाम्भृणी कहा गया है। सायण ने इन्हें 'ब्रह्मविदुषी' कहा है।[3] ब्रह्मविदुषी वाक् सच्चिदानन्द परमात्मा से तादात्म्य का अनुभव करते हुये स्वयं को सम्पूर्ण सृष्टि के आधार के रूप में निरूपित करती हैं। सूक्त के भाव इस प्रकार हैं -

'मैं रुद्र और वसुओं के साथ विचरण करती हूँ। मैं आदित्यों और विश्वेदेवों के साथ रहती हूँ। मैं मित्र और वरुण को धारण करती हूँ। मैं इन्द्र, अग्नि और अश्विद्वय का अवलम्बन करती हूँ।' ॥1॥

यहाँ सृष्टि के विभिन्न कार्यों को सम्पादित करने वाले रुद्र आदि देवों के साथ ऋषि अपना तादात्म्य स्थापित करते हुये स्वयं को उनका आधार बताती हैं।

'मैं सोम को धारण करती हूँ , वह सोम जो लता के रूप में अभिषुत होता है और वह सोम जो शत्रुओं को निष्प्रभ बनाता हुआ आकाश में प्रकाशमान होता है। उन दोनों को मैं ही धारण करती हूँ। त्वष्टा, पूषण

---

1. गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥ ऋग्वेद 1.164.41

2. बृहदारण्यक उपनिषद् 1.3.2

3. अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी स्वात्मानमस्तौत् अतः सा ऋषिः।
ऋग्वेद 10.125 पर सायणभाष्य

और भग का आधार मैं ही हूँ। देवों को उत्तम हवि से तृप्त करने वाले तथा सोमरस का अभिषव करने वाले हविसम्पन्न यजमान के लिए यज्ञफल रूप धन को मैं ही धारण करती हूँ।' ॥2॥

' मैं राष्ट्र की शक्ति (राष्ट्री) सम्पूर्ण जगत् की स्वामिनी और अधीश्वरी हूँ। मैं धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य को प्रदान करने वाली हूँ -

सङ्गमनी वसूनाम्।

मैं यज्ञ के योग्य देवों में प्रमुख हूँ। मैं (ब्रह्मसाक्षात्कार के) परम ज्ञान से युक्त हूँ (चिकितुषी)। नाना स्थानों में रहने वाली सर्वव्यापिनी (भूरिस्थात्रा), सभी प्राणियों में जीवात्मा के रूप में प्रविष्ट (भूरि आवेशयन्तीम्) मेरा ही देवगण नाना रूपों से निरूपण (वर्णन) करते हैं" -

देवाः पुरुत्रा वि अदधुः ॥3॥

'प्राणिशरीर के विभिन्न कार्य-भोजन, पाचन, श्वसन, श्रवण और अवलोकन मेरी ही शक्ति से सम्पन्न होते हैं। प्राणी जो अन्न का भक्षण करता है, वह मेरी ही भोक्तृत्व शक्ति से सम्पन्न होता है। जो अवलोकन करता है - चक्षुरिन्द्रियों से और इन्द्रियों से परे - शास्त्र रूपी चक्षु से (विपश्यति); वह दोनों ही प्रकार की निरीक्षण शक्ति मेरे द्वारा ही प्रदान की जाती है। जो प्राण धारण करता है (प्रणिति); जीवन के उस श्वासोच्छ्वास को मैं ही सञ्चालित करती हूँ। प्राणी जो सुनता है; उस शब्द और श्रवण शक्ति की नियामिका मैं ही हूँ। मुझे न मानने वाले या मुझे न जानने वाले (अज्ञानी) क्षीण हो जाते हैं -

अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति।

हे श्रुत ! (श्रुति, ज्ञान-सम्पन्न विद्वान् !) सुनो , मैं जो कुछ कह रही हूँ, वह श्रद्धेय है।' ॥4॥

'मैं ही उस महनीय ज्ञान का उपदेश करती हूँ - **अहमेव स्वयं.....वदामि।** जिसका मनन चिन्तन और सेवन देवता और मनुष्य दोनों करते हैं,

जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।

मैं जिसकी कामना करती हूँ, जो मेरी कृपा का पात्र होता है, उसे मैं श्रेष्ठ और बलवान् (उग्र) बनाती हूँ , मैं उसे उन्नति के शिखर पर ले जाती हूँ। उसे मैं सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, साक्षात्कृतधर्मा ऋषि, सुमेधा (शोभन कल्याणकारी बुद्धि से सम्पन्न) करती हूँ' -

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥5॥

'जब रुद्र ब्रह्मद्रोही शत्रु का वध करने के लिए उद्यत होते हैं, तब मैं ही रुद्र के लिए धनुष का विस्तार करती हूँ। मैं ही जनहित के लिए संग्राम करती हूँ -

अहं जनाय समदं कृणोमि ।

द्युलोक और पृथ्वीलोक को मैं ही व्याप्त करती हूँ।' ॥6॥

'प्राणिजगत् के पिता स्वरूप इस द्युलोक को मैने ही जन्म दिया है, जो संसार की मूर्धा (मस्तक) है। मेरी योनि (उत्पत्ति स्थान) समुद्र के जल में है। उसी स्थान से मैं सारे संसार को व्याप्त करती हूँ। मैं इस महान अन्तरिक्ष को अपनी उन्नत देह से स्पर्श करती हूँ।' ॥7॥

वाक् पुन: अपनी महिमा को स्थापित करते हुये कहती हैं -

'मैं ही समग्र भुवनों का सर्जन करते हुये वायु के समान निर्बाध गति से बहती हूँ। जैसे वायु अन्य किसी की प्रेरणा के बिना स्वयं प्रवाहित होती है, उसी प्रकार मैं भी किसी अन्य से अधिष्ठित हुये बिना स्वयं कार्य रूप सृष्टि को उत्पन्न करते हुये कारण रूप में प्रवृत्त होती हूँ। इस द्युलोक और पृथ्वीलोक से परे (सृष्टि के समस्त विकारों से परे ब्रह्म-चैतन्य रूप) मैं अपनी महिमा से सबको अतिक्रान्त करती हूँ'-

महिमा सं बभूव ॥8॥

इस प्रकार वाक् आत्मसाक्षात्कार की उस उच्चतम भावभूमि से अपनी अनुभूति को व्यक्त करती हैं, जिसे अद्वैत वेदान्त में 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य द्वारा व्यक्त किया गया है, जो उपनिषदों में नाना प्रकार से व्याख्यायित हुआ है, जिसमें आत्मा; परमात्मा से तादात्म्य का अनुभव करते हुये ब्रह्मरूप हो जाती है।

19. रात्री भारद्वाजी

इस अनन्त कालप्रवाह में, चिरन्तन काल से ही नियत समय पर उपस्थित होने वाली रात्रि के नैसर्गिक सौन्दर्य एवं महत्व को उद्‌घाटित करने वाली ऋषि हैं - रात्री भारद्वाजी।

इस सृष्टि के नियामक 'काल' के दो महत्वपूर्ण भौतिक पक्ष हैं-दिवस और रात्रि। प्रातःकाल सूर्योदय के साथ देवी उषा का आगमन और दिवस का प्रारम्भ होता है, तो सूर्यास्त के पश्चात् सायँकाल के साथ भगवती रात्रि का। ऋग्वेद में उषा और रात्रि की कल्पना विधाता के दो सुन्दर शिल्पों के रूप में की गई है -

सुशिल्पे बृहती मही पवमानो वृषण्यति। नक्तोषासा न दर्शते।[1]

फिर भी ऋग्वैदिक ऋषियों की वाणी उज्ज्वल स्वर्णिम उषा की स्तुति में ही अधिक मुखर हुई है, निशीथ की गहन निस्तब्धता और अन्धकार के अथाह विस्तार की ओर उनकी दृष्टि कम ही गई है। उषा की स्तुति में ऋग्वेद में 20 सूक्त प्राप्त होते हैं तथा 300 से अधिक बार उनका नामोल्लेख हुआ है। रात्रि का वर्णन उषा के साथ 'उषासानक्ता' या 'नक्तोषासा' के रूप में हुआ है। रात्रि के लिए केवल एक ही स्वतन्त्र सूक्त प्राप्त होता है। सभी जीवों को अपने-अपने आश्रयों में लौट आने के लिए प्रेरित करती हुई नक्षत्रों से ज्यातिष्मती रात्रि के स्निग्ध कोमल रूप को साकार किया है - ऋषि भरद्वाज की पुत्री भारद्वाजी ने।[2]

सुख-दुःख, आशा-निराशा, जीवन-मृत्यु से पूर्ण इस धूप-छाँही जीवन के द्वितीय पक्ष को एक नारी ऋषि की अन्तर्दृष्टि ही देख पाई है। सूक्त में केवल आठ मन्त्र हैं, जो गायत्री छन्द में निबद्ध हैं। सूक्त की देवता या स्तुति का विषय 'रात्रि' हैं।

मन्त्रों के भाव इस प्रकार हैं -

'आती हुई रात्रि देवी चारों ओर विस्तृत हुई हैं। प्रकाशमान नक्षत्रों से उन्होंने सम्पूर्ण शोभा पाई है।'॥1॥

'अमर्त्या (अविनाशिनी) देवी रात्रि प्रथम अन्तरिक्ष को तदनन्तर नीचे और ऊँचे प्रदेशों को आच्छादित करती हैं, फिर नक्षत्रों और चन्द्रमा के प्रकाश से अन्धकार को नष्ट करती हैं (ज्योतिषा तमः बाधते)।'॥2॥

---

1. ऋग्वेद 9.6.5
2. भारद्वाजस्य सुता रात्र्याख्या अस्य सूक्तस्य ऋषिका रात्रिदेवताकम्।
   ऋग्वेद 10.127 पर सायण भाष्य।

जैसे उषा प्रतिदिन आती हैं, चिरन्तन और सनातनी हैं, वैसे ही रात्रि देवी भी चिरन्तनी हैं ; अत: उन्हें 'अमर्त्या' कहा गया है। सन्ध्याकाल प्रारम्भ में चारों ओर अन्धकार फैल जाता है, फिर क्रमश: अभिव्यक्त होते हुये नक्षत्रों और उदित होते हुये चन्द्र के स्निग्ध प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है।

'आती हुई देवी रात्रि अपनी भगिनी उषा को कार्यमुक्त करती हैं (निष्करोति)। उन्होने अन्धकार को दूर किया है।' ॥3॥

'जिस रात्रि देवी के आगमन पर हम अपने-अपने गृहों में सुखपूर्वक शयन करते हैं; जैसे पक्षी वृक्षों पर अपने नीड़ में विश्राम करते हैं ; वह रात्रि देवी हमारे लिए मङ्गलमयी हों।' ॥4॥

सभी ग्राम (जनसमूह) नि:स्तब्ध हैं। पदचारी (गौ, अश्वादि पशु), पक्षी और तीव्रगामी श्येनादि प्राणी भी विस्रब्ध भाव से सो गये हैं (मानों एक अनन्त मौन विराजमान है)।'॥5॥

अगले मन्त्र में ऋषि, रात्रि के अन्धकार में क्रियाशील होने वाले असत् तत्वों से संसार की रक्षा के लिए रात्रि देवी से प्रार्थना करती हैं -

'हे उर्मि (रात्रि)! वृक और वृकी (हिंसक पशु) को हमसे अलग कर दो। चोर को दूर ले जाओ। हमारे लिए तुम विशेष रूप से कल्याण-कारिणी बनो।' ॥6॥

'कृष्णवर्ण का अन्धकार व्यक्त हो रहा है। मेरे पास तक सब कुछ अन्धकार में ढक गया है। उषा देवि ! आप जैसे (धन दान से) स्तोताओं के ऋण को नष्ट करती हैं, उसी प्रकार अन्धकार को नष्ट करें।'॥7॥

हे आकाश की कन्या (दिव: दुहिता)! दूध देने वाली गौ के समान तुमको; मैं स्तुतियों से प्राप्त करूँ। मेरे द्वारा अर्जित इस स्तोत्र को तुम ग्रहण करो ' -

स्तोमं वृणीष्व ॥8॥

आकाश में सूर्यास्त के पश्चात् रात्रि का आगमन होता है, अत: इन्हें 'द्युलोक की कन्या' अथवा 'देदीप्यमान सूर्य की कन्या' कहा गया है। ऋग्वेद में उषा और रात्रि सूर्य की कन्याओं के रूप में वर्णित हुई हैं। ऋग्वेद के उषस् सूक्तों के समान ही ऋषि रात्रि भारद्वाजी का 'रात्रि सूक्त' भी मनोज्ञ कल्पनाओं की काव्यात्मक अभिव्यक्ति के कारण महत्त्वपूर्ण है।

* * *

20. गोधा

वैदिक धर्म और यज्ञ संस्था के प्रति पूर्ण आस्था रखने वाली ऋषि गोधा के नाम से ऋग्वेद के दशम मण्डल के 134वें सूक्त में षष्ठ मन्त्र का उत्तरार्द्ध एवं सप्तम मन्त्र (अर्थात् कुल एक और आधा मन्त्र) सङ्कलित हुये हैं। इन्द्र को सम्बोधित इस सूक्त में सात मन्त्र हैं, जिनमें से प्रथम पाँच ऋचाओं और एक अर्द्ध ऋचा के ऋषि मान्धाता यौवनाश्व हैं।

षष्ठ मन्त्र के उत्तरार्द्ध में इन्द्रदेवता की स्तुति करते हुये गोधा कहती हैं -

'हे मघवन्[1](धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य से युक्त) इन्द्र! जैसे अज (बकरा) अपने अगले पैरों से वृक्ष की शाखा को खींचकर अपने वश में करता है, वैसे ही तुम अपने अंकुश ('शक्ति' नामक अस्त्र) से शत्रुओं को खींचकर अपने वश में करते हो। दिव्य गुणों से सम्पन्न माता ने तुम्हें जन्म दिया है। कल्याणमयी (भद्रा) जननी ने तुम्हें जन्म दिया है।'॥6॥

पराक्रमी और यशस्वी पुत्रों को जन्म देना ही नारी जीवन की सार्थकता है, अत: गोधा इन्द्र के साथ इन्द्र-जननी अदिति की भी प्रशंसा और स्तुति करती हैं। सातवें मन्त्र में श्रुतिप्रोक्त धर्म में पूर्ण विश्वास व्यक्त करते हुये ऋषि कहती हैं -

'इन्द्र आदि देवों के विषय में हम कोई भी त्रुटि नहीं करते (नकि: मिनीमसि)। हम किसी भी कर्म में शिथिलता या उदासीनता नहीं दिखाते। हम मन्त्र और श्रुति के अनुसार आचरण करते हैं (मन्त्रश्रुत्यं चरामसि)। स्तोत्रों और हवि से यज्ञकर्म को सम्पादित करते हैं।' ॥7॥

ब्रह्मवादिनी गोधा के ये डेढ़ मन्त्र ही भारतीय संस्कृति के महनीय आदर्शों को स्वयं में संजोय हुये हैं। प्रथम अर्द्ध ऋक् में इन्द्र जैसे पराक्रमी पुत्र को जन्म देने वाली महीयसी माता की प्रशस्ति एवं वन्दना है। भारतीय संस्कृति में मातृत्व में ही नारी जीवन की सार्थकता और मातृरूप को ही नारी का सर्वोत्तम रूप माना गया है।

द्वितीय मन्त्र वैदिक धर्म के स्वरूप को सूत्र रूप में निबद्ध करता है; जिसमें इन्द्र प्रधान देवता हैं। श्रुति प्रतिपादित धर्म, आचरण और व्यवहार में रचा-बसा है, वह ऊपर से आरोपित नहीं है, अपितु जीवन का सहज अङ्ग है। वैदिक मन्त्र सत्य धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों की दिव्य अन्तर्दृष्टि से उद्भूत हैं। ब्रह्मवादिनी गोधा धर्म के मूल स्रोत को अपने मन्त्रों के माध्यम से रेखाङ्कित करती हैं।

---

1. मघ धन का नाम है। मघमिति धननामधेयम्। निरुक्त 1.3
धनसम्पन्न होने और याचकों को दान देने के कारण इन्द्र का एक नाम 'मघवा' है।

21. इन्द्राणी -1

वैदिक संस्कृति एवं मानव-समाज में एक लम्बे समय तक प्रचलित रहने वाली बहुविवाह-प्रथा एवं सपत्नी की स्थिति पर सर्वप्रथम प्रकाश डालने वाली ऋषि हैं - इन्द्राणी।

इस संसार में एक पत्नी के लिए सबसे बड़ा दुःख, सम्भवतः सपत्नी या सौत का होता है। इन्द्र-पत्नी इन्द्राणी भी इस पीड़ा से व्यथित हैं। सपत्नियों को हीनबल कर स्वयं को पति का प्रिय पात्र बनाने के लिए प्रस्तुत हैं - 'सपत्नी बाधन सूक्त', जिसकी ऋषि इन्द्राणी हैं।[1] ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित इस सूक्त का विनियोग आपस्तम्ब ने सपत्नी-विनाश के लिए किया है। षड् ऋचाओं वाले इस सूक्त के भाव इस प्रकार हैं -

'अत्यन्त बलशाली (अपने कार्य में समर्थ) इस लता रूप ओषधि को मैं खोद कर निकालती हूँ; जिससे सपत्नी को बाधित (पीड़ित) किया जाता है, जिससे पति का प्रेम प्राप्त किया जाता है' -

यया संविन्दते पतिम् ॥1॥

'हे उत्तानपर्णे (ऊपर की ओर पत्तों वाली)! हे सुभगे (उत्तम सौभाग्य से युक्त)! देवजूते (देवों द्वारा निर्मित)! सहस्वति (अपने तेज से सबको अभिभूत करने वाली) ओषधि! मेरी सपत्नी को दूर कर दो। पति को केवल मेरा बना दो' -

पतिं मे केवलं कुरु ॥2॥

'हे उत्तरे (उत्कृष्टतर) ओषधि! मैं उत्तरा (उत्कृष्ट)होउँ। अन्य उत्कृष्ट स्त्रियों में भी उत्कृष्टतर बनूँ और मेरी सपत्नियाँ अधमों में अधमतर हो जाएँ।' ॥3॥

'मैं इस सपत्नी का नाम भी नहीं लेती। किसी को भी सपत्नी प्रिय नहीं होती। मैं उसे दूर से भी दूर भेज देती हूँ। (प्रत्येक पत्नी यह चाहती है कि उसकी सपत्नी उसकी नज़रों से बहुत दूर रहे)।' ॥4॥

'हे ओषधि! मैं (तुम्हारी कृपा से) सहमाना (सपत्नी का अभिभव करने वाली) हूँ। तुम्हारी शक्ति विलक्षण है। हम दोनों शक्ति-सम्पन्न होकर सपत्नी को बलहीन कर दें।' ॥5॥

---

1. इमां खनामीति सूक्तमिन्द्राणी स्वयं जगौ। बृहद्देवता 8.55

'हे पति ! इस शक्ति-सम्पन्न ओषधि को मैंने तुम्हारे सिरहाने रख दिया है। इस अभिभूत करने वाली ओषधि से युक्त उपधान (तकिया) तुम्हें दिया है। जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति व्याकुल होकर दौड़ती है, जैसे जल नीचे की ओर (तीव्र गति से)दौड़ता है, वैसे ही तुम्हारा मन मेरी ओर दौड़े।' ॥6॥

प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्राणी पति का अनन्य प्रेम प्राप्त करने की अभिलाषा रखती हुई दो दृष्टान्त प्रस्तुत करती हैं - प्रथम गौ का अपने बछड़े के प्रति प्रेम, जो सहज और नैसर्गिक है, जिसमें ममत्व और आकुलता है, कृत्रिमता या बनावटीपन नहीं है। द्वितीय वह दुर्निवार प्रेम जो निम्नगा (नदी की धारा) के समान तीव्रगति से बहता है, जिसे रोकना सम्भव नहीं होता। इन्द्राणी अपने पति के ऐसे ही दुर्निवार और अकृत्रिम प्रेम को पाना चाहती हैं।

'पतिं मे केवलं कुरु' (पति को केवल मेरा बना दो) 'न ह्यस्या नाम गृभ्णामि' (मैं उसका नाम तक नहीं लेना पसन्द नहीं करती) जैसे इन्द्राणी के वचन सपत्नी की मनोदशा की यथार्थ अभिव्यक्ति करते हैं।

इन्द्राणी -2 (शची पौलोमी)

पराक्रमी पति का सम्पूर्ण प्रेम और सौभाग्य प्राप्त करने वाली नारियों में इन्द्राणी अग्रगण्य हैं। पुलोम की पुत्री शची ही 'इन्द्राणी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अपने ही सौभाग्य और बुद्धि-कौशल की स्तुति करता हुआ प्रस्तुत सूक्त भी एक भाग्यशालिनी अभिमानिनी नारी की छबि प्रस्तुत करता है। इस सूक्त में शची आत्मश्लाघा की दम्भपूर्ण शैली में पति पर प्रभुत्व, सपत्नी-जय और स्वकीय श्रेष्ठता की उद्घोषणा करती हैं।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में निबद्ध 159 वें सूक्त की ऋषि पौलोमी हैं। शची स्वयं अपनी स्तुति करती हैं, अत: वे ही देवता हैं।[1] सूक्त के सभी मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में ग्रथित हैं। मन्त्र के भाव इस प्रकार हैं -

'द्युलोक में सूर्य उदित हुये हैं। सूर्य के समान ही मेरा भाग्य भी उदय को प्राप्त हुआ है -

अगादुदयं मामको भगः।

इस भाग्योदय को मैंने जान लिया है। सभी सपत्नियों को परास्त करते हुये मैंने पति को अपने वश में कर लिया है।' ॥1॥

'मैं ही सबकी ज्ञापक हूँ। सभी अवयवों में प्रधान मूर्धा (मस्तक) के समान मैं सर्वोपरि हूँ। मैं क्रोधाविष्ट पति को प्रिय वचन बोलने वाला बना देती हूँ। मुझे श्रेष्ठ जानकर मेरे पति मेरे कार्यों का अनुमोदन करते हैं तथा मेरे अभिमत के अनुसार ही चलते हैं।'॥2॥

---

1. पुलोमतनया शची स्वात्मानम् अस्तौत अत: सैव ऋषि: सैव देवता। ऋग्वेद 10.159 पर सायणभाष्य।

'मेरे पुत्र शत्रुओं का विनाश करने वाले (शत्रुघ्न) हैं। मेरी पुत्री सर्वोत्तम शोभा और सौन्दर्य से शोभित है -

मे दुहिता विराट्।

मैं सभी सपत्नियों को जीत लेती हूँ। पति के लिए मेरा ही नाम प्रशंसनीय और आदरणीय है[1]-

पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥3॥

'जिस हवि से इन्द्र उत्तम तेज से युक्त (द्युम्नी) और बली हुये हैं, हे देवो! मैने ही वह यज्ञ किया है।[2] उस यज्ञ में मैं असपत्न (शत्रुरहित) हुई हूँ। '॥4॥

'मैं सपत्नियों का हनन करने वाली अत: असपत्न (शत्रुहीन) शत्रुञ्जयी और शत्रुओं का अभिभव करने वाली हूँ। जैसे चञ्चल बुद्धि वालों का धन अनायस ही दूसरों के हाथ में चला जाता है, उसी प्रकार मैं अन्य नारियों का वर्चस्व हर लेती हूँ।' ॥5॥

'इन सभी सपत्नियों को मैंने जीत लिया है; इसलिए वीर इन्द्र और उनके परिजनों पर मेरा प्रभुत्व है।' ॥6॥

सम्पूर्ण सूक्त का मुख्य भाव सपत्नियों का अभिभव और पति के सम्मुख स्वयं को श्रेष्ठ प्रतिपादित करना है। इस दुःसाध्य कार्य में शची सफल हुई हैं। इस सफलता का बोध उन्हें है और अभिमान भी।

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वैदिक युग में प्रचलित बहुविवाह की प्रथा, सपत्नियों के परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, उनके प्रति पति एवं परिवार के अन्य सदस्यों के मनोभावों आदि पर प्रकाश डालने वाला एक महत्वपूर्ण सूक्त है।

सपत्नियों के प्रति ईर्ष्या संसार की प्राय: सभी नारियों में होती है। किसी एक का उत्कर्ष दूसरी सह नहीं पाती हैं। शची भी इसका अपवाद नहीं हैं। लौकिक साहित्य में संस्कृत नाटकों का ताना-बाना, नायक राजा की अन्त:पुरिकाओं के इन्हीं भावों की पृष्ठभूमि में बुना गया है।

इन्द्राणी-3

इन्द्राणी का ही एक अन्य सूक्त (10.86) समाज की प्रभुत्वसम्पन्न नारियों की स्थिति पर प्रकाश डालता है, जो अपनी महत्वाकांक्षा और सर्वाभिभावी व्यक्तित्व से न केवल अपने पति पर एकाधिकार रखती हैं, अपितु समाज में भी सामाजिक व्यवस्थाओं की नियामिका के रूप में मान्यता प्राप्त करती हैं। मरुत्सखा वीरिणी इन्द्रपत्नी अनेक सामाजिक विधानों की जननी हैं।

---

1. पौलोमी स्वान्गुणान् ....शंसति। बृहद्देवता 8.63
2. ऋग्वैदिक युग में स्त्रियों को भी यज्ञ करने का अधिकार था।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के सङ्कलित 86 वाँ सूक्त इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि के संवाद के रूप में निबद्ध है। इस सूक्त के 2 से 6, 9 से 10 एवं 15,16,18 मन्त्र की ऋषि इन्द्राणी हैं। इन मन्त्रों में अपने सौन्दर्य और सौभाग्य की श्लाघा (प्रशंसा) तथा वृषाकपि, जो सम्भवतः इन्द्र द्वारा पुत्रवत् पालित हरितवर्ण मृग है, के प्रति असूया-भाव अभिव्यक्त हुआ है।

इन्द्र को सम्बोधित करते हुये इन्द्राणी कहती हैं -

' हे इन्द्र ! तुम (अतिव्यथिः) व्यग्र भाव से विकलता के साथ वृषाकपि के पास जाते हो। (वृषाकपि के प्रति अति प्रेम के कारण) तुम सोमपान की भी उपेक्षा कर देते हो। सोमपान के लिए अन्यत्र नहीं जाते। यह स्मरण रखो कि सभी देवों में इन्द्र श्रेष्ठ हैं।' ॥2॥

'इस हरितवर्ण वृषाकपि ने तुम्हारे लिए ऐसा क्या किया है कि तुम्हें यह भी बोध नहीं है कि इन्द्र सभी से उच्चतर हैं।' ॥3॥

जब इन्द्र पर इन वचनों का कोई प्रभाव नहीं हुआ, तब इन्द्राणी ईर्ष्यावश वृषाकपि के अनिष्ट और अमङ्गल की कामना करते हुये कहती हैं -

'हे इन्द्र ! तुम जो अपने प्रिय पुत्र वृषाकपि की रक्षा करते हो, उसके कानों को वराह-अभिलाषी कुक्कुर काटें। इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं।' ॥4॥

'मेरे लिए यजमानों द्वारा कल्पित घृतयुक्त जो प्रिय भोज्य सामग्री रखी गई थी, उसे वृषाकपि ने दूषित कर दिया। मन में आता है कि इस दुष्टकर्मा का सिर ही काट डालूँ। मैं कभी भी इसको सुख देने वाली (इसके प्रति अच्छी भावनाओं से युक्त) नहीं हो सकती। मेरा पति इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है।'

'मुझसे बढ़कर कोई स्त्री सौभाग्यशाली नहीं, न ही पुत्रों वाली है। मुझसे बढ़कर कोई स्त्री समागम के समय रतिसुख नहीं दे सकती। मेरा पति इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है।' ॥6॥

इन्द्राणी की इस रोषपूर्ण उक्ति पर इन्द्र उनके क्रोध को शान्त करने के लिए उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुये अनुनय के स्वर में कहते हैं -

' हे शूरपत्नी इन्द्राणी ! तुम हमारे वृषाकपि पर क्रोध क्यों करती हो, जिसका पिता इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है।'

इसके उत्तर में इन्द्राणी कहती हैं -

'यह(शरारु) हिंसक वृषाकपि मुझे पति-पुत्र विहीना (अवीरा) के समान समझता है, किन्तु मैं वीरिणी इन्द्रपत्नी हूँ। मैं मरुत्सखा हूँ। पराक्रमी मरुत् गण मेरे सहायक और मित्र हैं। मेरा पति इन्द्र देवों में सर्वोपरि है।'॥9॥

आत्मश्लाघा से भरी हुई इन्द्राणी स्वयं ही अपनी महिमा का बखान करते हुये कहती हैं -

'जब होत्र (यज्ञ) और समन (संग्राम) होते हैं, उस समय वीरिणी इन्द्रपत्नी यज्ञों और युद्धों में पति के साथ जाती हैं।[1] ऋत का विधान करने वाली इन्द्रपत्नी स्तोत्रों से पूजित होती हैं (महीयते)। ऐसी इन्द्राणी का पति इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है।' ॥10॥

इन्द्राणी को प्रसन्न करने के लिए इन्द्र उनके सौभाग्य की प्रशंसा करते हुये कहते हैं -

'मैने नारियों में इन्द्राणी को सुभगा (सौभाग्यशालिनी) सुना है। अन्य पुरुषों के समान इन्द्राणी के पति जरा (वृद्धावस्था) से नहीं मरते। तुम धनशालिनी, उत्तम पुत्र और सुन्दर पुत्रवधुओं वाली हो।'

इन्द्र की इस स्तुति से इन्द्राणी का भाव परिवर्तन होता है। वे पति के चिरन्तन पौरुष और उनसे अभिगम की कामना करते हुये कहती हैं -

' हे इन्द्र ! जैसे तीक्ष्णशृङ्ग वृषभ गर्जन करता हुआ (रोरुवत्) गोयूथ में रमण करता है, वैसे ही तुम मेरे साथ रमण करो। दधिमन्थन का शब्द तुम्हारे हृदय के लिए (शङ्कर)कल्याण-कारी हो। तुम्हारे प्रेम की अभिलाषिणी इन्द्राणी जिस सोम का अभिषव करती है, वह भी कल्याणकर हो। मेरे पति इन्द्र सर्वोपरि हैं" -

विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥15॥

' हे इन्द्र ! पौरुष शक्ति से सम्पन्न पुरुष ही रमण करने में समर्थ होते हैं। इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं।'॥16॥

' दूसरों का धन चुराने वाले चोर के समान इस वृषाकपि का नाश हो, यह खड्ग सूना (वधस्थान) चरु और काठ का शकट प्राप्त करे। मेरे पति इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं।' ॥18॥

अपने पति की श्रेष्ठता के अभिमान से भरी हुई इन्द्राणी के इन मन्त्रों को शौनक ने आत्मश्लाघा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। नारी के अनेक रूपों में एक रूप यह भी है। यद्यपि इस सूक्त में वृषाकपि के प्रति असूया भाव मुख्य है, तथापि अन्य अनेक सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भों की दृष्टि से यह संवाद महत्त्वपूर्ण है।

* * *

---

1. युद्ध में पति का साथ देने का सौभाग्य वीरपत्नियों को ही प्राप्त होता था। परवर्ती युग में यह सौभाग्य कैकेयी को प्राप्त हुआ था। कैकेयी देवासुर संग्राम में महाराज दशरथ के साथ थीं। उन्होने अपने साहस और सेवा से मरणासन्न पति की प्राणरक्षा कर दो वर पाये थे, जिनका उपयोग उन्होने अपनी सपत्नी के पुत्र राम को वन भेजने में किया था। (रामायण - अयोध्याकाण्ड- 11.18-19)। इन्द्राणी के मन में भी इन्द्रपुत्र वृषाकपि के प्रति ईर्ष्या और असहिष्णुता की भावना है। इन्द्राणी और कैकेयी के चरित्र में अद्भुत साम्य है।

22. श्रद्धा कामायनी

ऋग्वेद के दशम मण्डल में सङ्कलित 'श्रद्धा सूक्त' (10.151) की ऋषि श्रद्धा कामायनी हैं। वैदिक संस्कृति में 'श्रद्धा' एक जीवनमूल्य के रूप में प्रतिष्ठित हुई है, क्योंकि श्रद्धा, आस्था या विश्वास मानव मन का वह भाव है, जिस पर सम्पूर्ण विश्व और विश्व का व्यवहार टिका हुआ है। श्रद्धा का आधार सत्य है। श्रद्धा सत्य के प्रति होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य और श्रद्धा की कल्पना पति-पत्नी के रूप में की गई है -

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः। श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्। श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाँल्लोकान् जयति।[1]

श्रद्धा निष्ठा और सङ्कल्प की जननी है। श्रद्धापूर्ण बुद्धि से ही संसार के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष विषयक सभी कर्म सम्पादित एवं फलवान् होते हैं। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं - **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।**

श्रुति भी इस श्रद्धाभाव की स्तुति करती है। कामगोत्र में उत्पन्न होने के कारण इनका एक नाम कामायनी है।[2] ब्राह्मणों में श्रद्धा को सूर्य अथवा प्रजापति की पुत्री कहा गया है।[3] ऋषि श्रद्धा कामायनी श्रद्धा की स्तुति करते हुये कहती हैं -

'श्रद्धा द्वारा ही अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, श्रद्धा द्वारा ही हविष्य की आहुति दी जाती है। भजनीय, सेव्य या प्राप्त करने योग्य धनों में श्रद्धा सर्वोपरि है -

श्रद्धा भगस्य मूर्धनि।

ऐसी श्रद्धा की मैं वाणी से स्तुति करती हूँ' -

वचसा वेदयामसि ॥1॥

' हे श्रद्धा! दाता को अभीष्ट फल प्रदान करो। दान की इच्छा रखने वाले (दिदासतः) का भी प्रिय करो। मेरे भक्तों और याज्ञिकों को प्रार्थित फल दो।'॥2॥

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण 7.10
2. कामगोत्रजा श्रद्धा नाम ऋषिका - ऋग्वेद 10.15 पर सायण भाष्य।
3. शतपथ ब्राह्मण - 12. 7.3.11, तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.3.10.1

'जिस प्रकार इन्द्रादि देवों ने उग्र बलशाली असुरों के लिए दृढ़ निश्चय, श्रद्धा या सङ्कल्प किया था कि उनका वध करना ही चाहिए; उसी प्रकार दृढ़ विश्वास या श्रद्धा से युक्त मेरे भक्तों और याज्ञिकों को अभिलषित फल प्रदान करो।' ॥3॥

'बलवान् वायु की सुरक्षा पाकर (वायुगोपा:) देव और मनुष्य श्रद्धा की उपासना करते हैं। वे अन्त:करण के सङ्कल्प से श्रद्धा की उपासना करते हें। श्रद्धा से ही धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य (वसु) प्राप्त होता है।' ॥4॥

'हम प्रात:काल श्रद्धा का आवाहन करते हैं। मध्याह्न के समय श्रद्धा को आमन्त्रित करते हैं। सूर्यास्त के समय (सायँकाल) भी श्रद्धा की उपासना करते हैं। हे श्रद्धा ! हमें इस संसार में श्रद्धावान् करो।' ॥5॥

इस प्रकार श्रद्धामयी श्रद्धा मनुष्यमात्र को श्रेष्ठ कार्यों के लिए श्रद्धावान् होने की प्रेरणा प्रदान करती हैं।

* * *

23. इन्द्रमातरः

प्रमुख ऋग्वैदिक देवता इन्द्र की स्तुति में ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'इन्द्रमातरः' के नाम से 153 वाँ सूक्त सङ्कलित किया गया है। सायण ने ऋषिकाओं का व्यक्तिशः नामोल्लेख न करते हुये सम्मिलित रूप से उन्हें -

देवानां स्वसृभूता इन्द्रमातरो नाम ऋषिकाः ।

अर्थात् 'देवों की भगिनीभूता इन्द्रमाता नाम की ऋषिकाएँ' कहा है। यह स्पष्ट नहीं है कि ये ऋषिकायें इन्द्र की माताएँ हैं अथवा 'इन्द्रमाता' केवल एक नाम है। प्रतीत होता है कि इन ऋषिकाओं ने देवसान्निध्य और देवों की आत्मीयता प्राप्त की थी। प्रथम मन्त्र में सूक्त की विषय-वस्तु का निर्देश करते हुये इन्द्रमातायें कहती हैं -

'इन्द्र के पास जाने वाली, स्तुति आदि से इन्द्र को प्राप्त करती हुई कर्मपरायणा इन्द्रमाताएँ जन्म लेने वाले (जातम्) इन्द्र की उपासना करती हैं और इन्द्र से उत्कृष्ट धन प्राप्त करती हैं।' ॥1॥

इन्द्रमाताएँ स्तुति करती हुई कहती हैं -

'हे इन्द्र !' तुम बल-वीर्य और तेज से जन्मे हो -

बलादधि सहसो जात ओजसः ।

- हे वृषन् ! तुम ही वृषा (सबकी कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ) हो।' ॥2॥

इन्द्र बल, वीर्य और पराक्रम के देवता हैं, अतः इन्हें सहस् और ओजस् से जन्म लेने वाला कहा गया है। सहस् से ही 'साहस' शब्द बना है। सायण के अनुसार हृदयगत धैर्य 'ओजस्' है, जो सहस् और बल का कारण है।

'हे इन्द्र ! तुम वृत्र का हनन करने वाले 'वृत्रहा' हो। तुम अन्तरिक्ष को विस्तीर्ण करते हो। तुमने ही द्युलोक को अपने बल और पराक्रम से स्थिर रखा है।' ॥3॥

'हे इन्द्र ! तुम अपने प्रिय और प्रशंसनीय वज्र को बलपूर्वक तीक्ष्ण करते हुये (वज्रं शिशान ओजसा), (शत्रुवध के लिए) हाथों में धारण करते हो।' ॥4॥

'हे इन्द्र ! तुम अपने (सर्वातिशायी) तेज से समग्र प्राणियों को अभिभूत करते हो। विश्वभुवन में तुम व्याप्त हो'-

सविश्वा भुव आभवः ॥5॥

यहाँ इन्द्र को 'सर्वव्यापी' कहते हुये सम्पूर्ण सृष्टि में निगूढ़ एक सर्वव्यापी सत्ता की पहचान की गई है। उपनिषदों में यह विचार पूर्ण विकसित रूप में प्राप्त होता है।

इन्द्र के समग्र पराक्रम को सूत्र रूप में निबद्ध करने वाला यह सूक्त वैदिक 'बहुदेववाद' की क्रमशः 'एकदेववाद' में परिणति के विकास-क्रम को भी सूचित करता है।

* * *

24. यमी वैवस्वती

मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा की सत्ता या अस्तित्व पर प्रकाश डालने वाले चिन्तकों में अग्रगण्य हैं - यमी वैवस्वती। मनुष्य मरणधर्मा है। इस पृथ्वी पर कितने ही देहधारी प्रतिक्षण जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। क्या देह का विनाश ही जीवन का अन्त है अथवा मृत्यु के पश्चात् भी जीवन का अस्तित्व है? यह एक गूढ़ प्रश्न है, जिस पर विश्व की सभी संस्कृतियों में विचार होता आया है। ऋग्वेद की स्त्री ऋषियों के लिए भी यह विषय अछूता नहीं है। 'मृत्युपरवर्ती जीवन ' या 'परलोक' जैसे जीवन के रहस्यमय पक्षों पर उन्होने विचार किया है।

प्रस्तुत है; यमी वैवस्वती के शब्दों में 'प्रेतात्मा के पितृलोक गमन और पितरों के साथ आनन्दमय जीवन' का एक जीवन्त चित्र, जिसमें मृत्यु, शोक या दु:ख का विषय नहीं है; अपितु मृत्यु के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 154 वें सूक्त की ऋषि यमी हैं। विस्वत की पुत्री होने के कारण इन्हें 'वैवस्वती' कहा गया है। अन्यत्र इन्हें यम की सहोदरा माना गया है। यम पितृलोक के अधिपति हैं, यम प्रथम मरणधर्मा मर्त्य हैं, जिन्होने मानवों के लिए पितृलोक जाने का मार्ग खोजा है।[1]

सम्पूर्ण ऋग्वेद में केवल चार सूक्त (10-14, 15, 135 और 154)ऐसे हैं, जो पारलौकिक जीवन पर विचार करते हैं । उनमें से एक; यमी का यह सूक्त है। सूक्त में पाँच मन्त्र हैं, जो अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध हैं। मृत देह की आत्मा या प्रेतात्मा को पितृलोक में जाने के लिए प्रेरित करते हुये यमी कहती हैं -

'पितृलोक में कुछ पितरों के लिए सोम रस क्षरित होता है, कुछ घृत का सेवन करते हैं और कुछ हैं, जिनके लिए मधु के स्रोत बह रहे हैं।[2]

---

1. यमो नो गातु प्रथमं विवेद। ऋग्वेद 10.14.2
2. तैत्तिरीय आरण्यक में पञ्चमहायज्ञों के सन्दर्भ में कहा गया है, जो गृहस्थ यजुष् का अध्ययन करता है, उसके पितरों के लिए घृत की कुल्यायें बहती हैं। जो साम का अध्ययन करता है, उसके पितरों के लिए सोम की तथा जो अथर्ववेद के मन्त्रों का अध्ययन करता है, उसके पितरों के लिए मधु की धाराएँ बहती हैं।

हे प्रेत ! तुम उनके पास जाओ ।' ॥1॥

प्रेत से अभिप्राय यहाँ मृत पुरुष की आत्मा से है, जो इस लोक का परित्याग कर परलोक की ओर गमन कर रही है । आत्मा नश्वर है और उसकी मृत्यु नहीं होती - यह भाव भी यमी के वचनों में स्पष्ट है ।

* * *

25. सार्पराज्ञी

सम्पूर्ण संसार को अपनी रश्मियों से आलोकित करने वाले प्रकाश-पुञ्ज सूर्य, ऊर्जा और प्राणशक्ति के अक्षय स्रोत के रूप में; मानवीय उपासना के केन्द्र रहे हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल का 189 वाँ सूक्त जगत् की आत्मा सूर्य को समर्पित है। गायत्री छन्द में निबद्ध तीन ऋचाओं वाले इस सूक्त की ऋषि सार्पराज्ञी हैं।[1] सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त की देवता स्वयं सार्पराज्ञी अथवा सूर्य हैं।[2]

प्रथम मन्त्र में उदित होते हुये सूर्य की कल्पना उस पुत्र के रूप में है, जो कर्मपथ पर जाने से पूर्व अपनी माता से मिलकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं -

'यह सदा गमनशील (गौः), उज्ज्वल वर्णों वाले (पृश्नि) सूर्य उदय को प्राप्त हुये हैं। ये पूर्व दिशा में माता पृथ्वी का आलिङ्गन करते हैं। इसके पश्चात् तीव्र गति से पिता द्युलोक की ओर जाते हुये शोभित होते हैं।' ॥1॥

गमनशील होने के कारण यहाँ सूर्य को 'गौः' कहा गया है।

पूर्व दिशा में उदित होता हुआ सूर्यमण्डल पृथ्वी के इतना निकट होता है कि ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह धरती माता का आलिङ्गन कर रहा हो। सार्पराज्ञी की इस मनोरम कल्पना ने सूर्योदय के इस पावन अभिराम दृश्य को माता-पुत्र के मिलन के रूप में चिरन्तन बना दिया है। सूर्यमण्डल का स्निग्ध लोहित वर्ण और पृथ्वी के निकट अवस्थिति अल्पकालीन होती है, तदनन्तर सूर्य बिम्ब तीव्र गति से आकाश में ऊपर की ओर आरोहण करता है।

'भास्कर दीप्ति (रोचना) इनके भीतर सञ्चरण करती है (अन्तश्चरति) अथवा द्युलोक और पृथ्वीलोक के मध्य सञ्चरण करती है। यह दीप्ति इनके प्राणों से निःसृत होती है। इसी दीप्ति से महान सूर्य अन्तरिक्ष को प्रकाशित करते हैं।' ॥2॥

सूर्य के तीस स्थान (महीने के तीस दिन) सूर्य के तेज और प्रकाश से शोभित होते हैं (विराजति)। आकाशगामी सूर्य के लिये वाणी से स्तुति की जाती है -

---

1. आयं गौरिति यत्सूक्तं सार्पराज्ञी स्वयं जगौ। बृहद्देवता 8.89
2. सार्पराज्ञी आत्मदैवतं सौर्यं वा। सर्वानुक्रमणी

पतङ्गाय वाक् धीयते ।

वे सूर्य प्रतिदिन अपनी रश्मियों से विभूषित होते हैं।

यहाँ सूर्य की कल्पना एक ऊँची उड़ान भरने वाले पक्षी (पतङ्ग) के रूप में की गई है। ऋग्वेद में अन्यत्र कहा गया है कि यह सूर्य पहले ऊँचाई के मार्ग से ऊपर चढ़ते हैं, फिर नीचे उतरते हैं-

याति देवः प्रवता यात्युद्वता ।

इस प्रकार सार्पराज्ञी का यह सूक्त मनोरम कल्पनाओं के साथ सूर्य देवको प्रणति निवेदित करता है।

* * *

.खिलसूक्त की ऋषिकाएँ

ऋग्वेद की इन स्वनामधन्या ऋषिकाओं के अतिरिक्त कतिपय स्त्री ऋषि ऐसी भी हैं, जिनके सूक्तों को यद्यपि 'खिलसूक्त' अर्थात् परिशिष्ट में स्थान मिला है; तथापि वैदिक संस्कृति के किसी महत्त्वपूर्ण आयाम को उन्मीलित करने अथवा भारतीय संस्कृति की संरचना की दृष्टि से एवं किसी सनातन तत्त्व को स्थापित करने की दृष्टि से ये सूक्त एवं उनकी द्रष्ट्री ऋषिकाओं का अवदान अत्यन्त मूल्यवान है।

ऋग्वेद की शाकल संहिता के अन्त में ऋक् परिशिष्ट के नाम से 36 सूक्त संगृहीत हैं, जिनमें स्त्री ऋषियों के सूक्त भी हैं। ये सूक्त ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों में प्राप्त होते हैं। शौनक ने अपनी बृहद्देवता में इनका उल्लेख 'खिल' के रूप में किया है। 'अखिल' का अर्थ है सम्पूर्ण या समग्र अत: 'खिल' अंश भाग या खण्ड के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

खिलसूक्त वे हैं, जिन्हें अन्य शाखाओं से ग्रहण किया गया है। खिलसूक्त के ऋषियों में पाँच नाम ऋषिकाओं के हैं -

श्री

लाक्षा

मेधा

उपनिषद् - निषद्।

1. श्री

ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल में 87 वें सूक्त के पश्चात् खिल के रूप में संकलित 'श्री सूक्त' की ऋषि 'श्री' हैं। श्री सूक्त में कुल 27 मंत्र हैं।

वैदिक संस्कृति में मानव जीवन के जो लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं, उनमें से एक है - 'श्री'। श्री अर्थात् - समृद्धि, ऐश्वर्य, वैभव, वसु, द्रविण, मघ, रयि या लक्ष्मी। सामान्यत: श्री का अर्थ धन या सम्पत्ति माना जाता है ; पर श्री का सम्बन्ध शोभा, लास्य, लालित्य, सौभाग्य और सौन्दर्य से भी है अत: स्त्री-पुरुष के नाम के पूर्व 'श्रीमती' या 'सुश्री' तथा 'श्रीमान' जोड़ने की परम्परा हमारी संस्कृति का वैशिष्ट्य है। हिन्दू धर्म में श्री या लक्ष्मी को धन-समृद्धि, सौन्दर्य और सौभाग्य की अधिष्ठात्री देवी माना गया है। ऋग्वेद का प्रस्तुत श्री सूक्त ही इस मान्यता का मूल है। सूक्त के भाव इस प्रकार हैं -

हे जातदेव ! सर्वज्ञ अग्नि ! मेरे लिये स्वर्ण के समान उज्ज्वल वर्णों वाली (हिरण्यवर्णाम्), मनोहारिणी, सुवर्ण और रजत के हारों से शोभित, आह्लादमयी (चन्द्राम्), धन-धान्य-स्वर्ण-रजत से समृद्ध (हिरण्यमयी) देवी लक्ष्मी का आह्वान करो ॥ 1॥

हे जातदेव ! मेरे लिये उस देवी लक्ष्मी का आह्वान करो, जो मुझसे कभी भी दूर न जाने वाली (अनपगामिनी) हों; जिनकी कृपा से मैं हिरण्य, गौ, अश्व और पुरुषों (मानवीय संसाधनों) को प्राप्त कर सकूँ -

तं म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम् ॥2॥

जो अग्रभाग में अश्वों से तथा मध्यभाग में रथों से परिवृत हैं, हस्ति-नाद से जो प्रबोधित (जागृत) होती हैं ; ऐसी श्रीदेवी को मैं आमंत्रित करती हूँ। मैं प्रार्थना करती हूँ कि श्रीदेवी मुझे प्राप्त हों -

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम् ।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम् ॥3॥

कासपुष्प के सदृश धवल स्मितवाली, हिरण्य से आवृत, जलमयी, तेज से प्रज्ज्वलित, स्वयं तृप्त एवं अन्य को भी तृप्त करने वाली, पद्मासना, पद्मवर्ण (स्निग्ध गौर वर्ण वाली) श्री देवी का मैं आवाहन करती हूँ ॥4॥

मैं पद्मिनी (पद्मगन्धा, पद्मवर्णा, पद्मावृता, पद्मालया) श्री देवी की शरण में जाती हूँ जो चन्द्रसदृश स्निग्ध आभा वाली, यश से दीप्त, देवों से सेवित और उदार हैं। हे श्रीदेवि ! मैं तुम्हारा वरण करती हूँ ; मेरे अशुभ और अलक्ष्मी नष्ट हों -

चन्द्रप्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम् ।
तां पद्मिनीमीं शरणं प्रपद्ये अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे ॥5॥

हे आदित्यवर्णा लक्ष्मी देवि ! तप से उत्पन्न बिल्व वृक्ष तुम्हारा अधिष्ठान है। उसका फल (बिल्वफल) मेरी सभी बाधाओं, विपदाओं और अलक्ष्मी को दूर करे ॥6॥

हे श्रीदेवि ! अनेक अनर्ह (अमूल्य) रत्नों के साथ देवों का सख्य और कीर्ति मुझे प्राप्त हो । इस सुराष्ट्र में हमें यश और ऋद्धि (समृद्धि) प्रदान करें ॥7॥

तुम्हारी सामर्थ्य से मैं भूख-प्यास, मालिन्य और अलक्ष्मी (दैन्य-दारिद्र्य) का विनाश करती हूँ। हे देवि ! सभी प्रकार की अभूति और असमृद्धि को ; मेरे घर से दूर कर दो ॥8॥

सुरभिमयी, दुराधर्ष, सर्वदा परिपूर्ण, करीषिणी समस्त भूत-जात (सृष्टि) की अधीश्वरी श्रीदेवी का मैं आवाहन करती हूँ ॥9॥

मेरे मन की कामनाएँ, मेरी चेष्टाएँ और वाणी सत्य हों। नाना प्रकार के पशु, अन्न, श्री और यश मुझे अपना आश्रय बनाएँ। पद्मों की माला धारण करने वाली माता 'श्री' मेरे कुल में सर्वदा वास करें ॥10॥

स्निग्ध स्वच्छ जल स्रोतों की सृष्टि हो। मेरा गृह इन जलस्रोतों से सम्पन्न हों। पद्ममालिनी श्री माता मेरे कुल में सर्वदा वास करें ॥12॥

हे अग्नि ! जलमयी (आर्द्रा) पुष्टि देने वाली, पिङ्गलवर्ण की, पद्मों की माला से शोभित, आह्लाद देने वाली, हिरण्यस्वरूपा श्री देवी का मेरे लिये आवाहन करें -

आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गलां पद्ममालिनीम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥13॥

हे अग्निदेव ! सूर्य सदृश उज्ज्वल (सूर्या) गजों से शोभित, पुष्टि रूप, सुन्दर वर्ण वाली, स्वर्णमाल्य से शोभित (हेममालिनी) लक्ष्मी का मेरे लिये आवाहन करो ॥14॥

हे जातदेव ! मेरे लिये उस लक्ष्मी देवी का आवाहन करो, जो कभी भी मुझसे दूर जनेवाली न हों ; जिनकी कृपा से मैं हिरण्य, बहुसंख्यक गौ, अश्व एवं पुरुषों को प्राप्त कर सकूँ ॥15॥

जो एकाग्रचित्त होकर पवित्र भाव से प्रतिदिन अग्नि में आहुति देता है, उसे श्री की कृपा प्राप्त होती है, अत: श्रीकाम व्यक्ति पञ्चदश ऋचाओं वाले इस श्रीसूक्त का सतत जाप करे ॥16॥

पुन: श्रीदेवी से प्रार्थना करते हुये ऋषिका कहती हैं -

हे पद्मसदृश मुखवाली, पद्मप्रिये, पद्मसदृश नेत्रों वाली, विश्व को अतिप्रिय, समग्र संसार के मन के अनुकूल हे श्रीदेवि ! अपने चरणकमलों को मुझमें स्थिर करें।

पद्मानने पद्मनिपद्मपत्रे पद्मप्रिये पद्मदलायताक्षि ।
विश्वप्रिये विश्वमनोनुकूले त्वत्पादपद्मं मयि सन्निधत्स्व ॥17॥

हे पद्मानने, पद्मसदृश ललित कोमल ऊरु वाली, पद्म सदृश सुन्दर नेत्रों वाली, पद्म से उत्पन्न देवि ! मुझ पर कृपा करो जिससे मैं सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकूँ ॥18॥

हे महान् ऐश्वर्य से सम्पन्न (महाधने), अश्व, गो एवं धन प्रदान करने वाली देवि ! धनसमृद्धि मुझ तक पहुँचे। हे देवि ! मेरी सब कामनाओं को पूर्ण करो ॥19॥

पुत्रपौत्रधनंधान्यं हस्त्यश्वादिगवे रथम् ।
प्रजानां भवसी माता अयुष्मन्तं करोतु मे ॥21॥

हे विनता के पुत्र वैनतेय ! सोमरस का पान करो, वृत्र का हनन करने वाले इन्द्र भी सोम का पान करें। सोमदेवता तथा सोमरस से सन्तुष्ट अन्य देवता भी मुझे धन प्रदान करें ॥22॥

श्री के भक्त जो श्री सूक्त का सतत जाप करते हैं, जो पुण्यकर्मा हैं; उन्हें क्रोध, लोभ, मात्सर्य (ईर्ष्या), द्वेष और अमङ्गल बुद्धि (अशुभमति) व्याप्त नहीं करती ॥23॥

हे कमलवासिनि, कमलों को हाथों में धारण करने वाली, शुभ्र उज्ज्वल अंशुक एवं गन्धमाल्य से शोभित, भगवती (ऐश्वर्यवती) हरिप्रिये (भगवान विष्णु की प्रिया) मनोज्ञा (मन को अच्छी लगने वाली) तीनों भुवनों का कल्याण (भूति) करने वली देवि ! मुझ पर प्रसन्न हों ॥24॥

विष्णु-पत्नी, क्षमाशील, दिव्यरूप वाली, माधवी, माधव-प्रिया, प्रियसखी, अच्युत-वल्लभा देवी लक्ष्मी को मैं नमस्कार करती हूँ ॥25॥

महादेवी लक्ष्मी की मैं वन्दना करती हूँ। विष्णुपत्नी लक्ष्मी की मैं धी और वाक् से स्तुति करती हूँ। वे लक्ष्मी देवी हमारी शुभ बुद्धि को अभिप्रेरित करें -

महादेव्यै च विदमहे विष्णुपत्न्यै च धीमहि ।
तन्नो लक्ष्मी: प्रचोदयात् ॥26॥

श्रीदेवी के अनुग्रह से श्री, वर्चस्व, आयुष्य, आरोग्य, धन-धान्य, पशु, अनेक पुत्र तथा शतसंवत्सर की पूर्ण-दीर्घ आयु को प्राप्त करने वाला मनुष्य इस पृथिवी पर शोभित होता हुआ महानता को प्राप्त करता है।

ब्रह्मवादिनी 'श्री' का प्रस्तुत 'श्रीसूक्त' हिन्दू धर्म, कला-दर्शन, नैतिक व्यवहार एवं जीवनमूल्यों का संस्थापक एक महत्वपूर्ण सूक्त है, जहाँ श्री और सौन्दर्य शुभ और मङ्गल के लिये हैं, अशुभ या अमङ्गल के लिये नहीं ।

* * *

2. लाक्षा

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के 51वें सूक्त के पश्चात् सङ्कलित 'भूमिर्माता नभः पिता अर्यमा ते पितामहः' से प्रारम्भ सात ऋचाओं वाले खिलसूक्त की ऋषि लाक्षा हैं। लाक्षा का जीवनवृत्त अज्ञात है। शौनक ने इन्हें आत्मा का गायन करने वाली ब्रह्मवादिनी कहा है।

अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में - 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' के रूप में जो राष्ट्रप्रेम एवं मातृभूमि के प्रति भक्तिभाव की अभिव्यक्ति हुई है, उसका मूल हम लाक्षा के इस सूक्त में पाते हैं। जन्मभूमि की जननी के रूप में सङ्कल्पना भी इस सूक्त में परिलक्षित होती है। यह धरती; जो हमें धारण करती है, अन्न-जल से पोषण देती है, प्राणवायु से जीवन देती है, जीवन-लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये सुख-सुविधायें जुटाती है, वह हमारी माँ है। यह नभ या आकाश जो धरती के ऊपर एक विशाल छत्र के रूप में तना हुआ है, हमारा संरक्षक पिता है, जो अपने रेतस् से धरती को उर्वरा बनाता है, जिससे बरसा हुआ जल धरती को 'इरावती' कर प्रजा को भोजन प्रदान करता है।

'अर्यमा' की गणना अदितिपुत्र आदित्यों में हुई है। देवमाता अदिति अर्यमा की माता हैं।[1] ऋग्वेद में अर्यमा देवता का नाम प्रायः मित्र, वरुण और सूर्य देवता के साथ आता है। वरुण और मित्र के साथ अर्यमा सूर्य के लिये पथ प्रशस्त करते हैं।[2] वरुण और मित्र के साथ अर्यमा भी वर्ष-माह, दिन-रात्रि, यज्ञ-मन्त्र आदि को धारण करते हैं अर्थात् काल और धर्म के धारक एवं नियामक हैं।[3] अदिति के ये पुत्र ऋत के वर्धक, अनृत के विनाशक[4] और मानव-जाति को सन्मार्ग में प्रवृत्त करने वाले हैं।[5]

लाक्षा के अनुसार अनुकरणीय श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न अर्य या आर्यों के पितामह अर्यमा हैं। भारत राष्ट्र की सांस्कृतिक साहित्यिक परम्परा में 'आर्य' शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ गुणसम्पन्न जन के लिये हुआ है। लाक्षा का यह सूक्त जीवनमूल्यों की स्थापना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। -0-0-

---

1. अदितिर्न उरुष्वयत्वदितिः शर्म यच्छतु।
   माता मित्रस्य रेवतोऽर्यम्णो वरुणस्य च॥ ऋग्वेद 8.47.9
2. ऋग्वेद 7.66.10
3. ऋग्वेद 7.66.11
4. ऋग्वेद 7.60.5
5. अर्यमा यातयज्जनः। ऋग्वेद 1.136.3

3. उपनिषद्-निषद्

उपनिषद् और निषद् नाम की दो ऋषिकाएँ 'प्रधारयन्तु मधुनो घृतस्य' से प्रारम्भ सात ऋचाओं वाले खिल सूक्त की ऋषि हैं। शौनक ने घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला आदि देवस्तुति करने वाली ब्रह्मवादिनियों के वर्ग में इनका भी परिगणन किया है।[1]

इन ऋषिकाओं के सम्बन्ध में अन्य विवरण अज्ञात हैं। राष्ट्र एवं जन-गण की समृद्धि के लिये देवताओं का आवाहन इनके सूक्त का मुख्य प्रतिपाद्य है।

'देश में मधु और घृत की धाराएँ प्रवाहित हों। यह देश और यहाँ के निवासी धन-धान्य से समृद्ध, पुष्ट, ओजस्वी और शुभ विचारों से सम्पन्न हों।' इसके लिये दिव्य शक्तियों से प्रार्थना की गई है।

उपनिषद् और निषद् का यह सूक्त वैदिक ऋषियों के जीवन और जगत् के प्रति एक स्वस्थ आशावादी दृष्टिकोण का साक्ष्य है।

* * *

---

1. बृहद्देवता 2.82, 85

4. मेधा

ऋग्वेद के दशम मण्डल में 151 सूक्त के पश्चात् खिल रूप में संगृहीत मेधा सूक्त की ऋषि मेधा हैं। 'मेधा' ऋषि भी हैं और देवता भी। इस सूक्त में दस ऋचाएँ हैं, जो वैदिक शिक्षा-पद्धति, ज्ञान-विज्ञान की सनातन परम्परा, ब्रह्मचारी के गुण और ब्रह्मचर्य की महिमा आदि अनेक पक्षों को उद्‌घाटित करता हुआ एक श्रेष्ठ मानव के निर्माण में स्त्रियों के अवदान को रेखाङ्कित करता है।

मेधा का सम्बन्ध 'धी' या 'बुद्धि' से है। मति, स्मृति, प्रज्ञा आदि बुद्धि के विविध रूपों में से एक है- मेधा। 'धारणावती बुद्धिः मेधा'[1] के अनुसार श्रुत, अधीत, अर्जित या प्राप्त ज्ञान को संधारित करने वाली बुद्धि 'मेधा' कही जाती है एवं मेधासम्पन्न व्यक्ति 'मेधावी'।[2] यह बुद्धि का वह गुण है, जिसके द्वारा 'ज्ञानं मतौ धीयते' इति।[3]

यह हमारे ऋषियों की अलौकिक मेधा का ही परिणाम है कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय और वेद मन्त्र सहस्रों वर्षों के बाद आज भी हमें सुरक्षित रूप में प्राप्त हैं। ज्ञान-विज्ञान की अनन्त शाखाओं के सतत संधारण का कार्य ऋषियों की इस दिव्य मेधा ने ही किया है। मानव को मानवेतर प्राणियों से पृथक् करने वाले भेदक तत्वों में से एक मेधा भी है। हमारी सभ्यता और संस्कृति मानवीय मेधा का ही प्रसाद है। इसी मेधा की प्राप्ति के लिये ऋषिका मेधा का यह 'मेधा सूक्त' है। सूक्त के भाव इस प्रकार हैं -

1. अङ्गिरस और सप्तर्षि मुझे मेधा प्रदान करें। इन्द्र, अग्नि और धाता (विधाता) तुम्हें मेधा प्रदान करें।

2. राजा वरुण, देवी सरस्वती, कमलों की माला (पुष्करस्रज) धारण करने वाले अश्विनी देव तुममें मेधा का आधान करें।

3. जो मेधा अप्सराओं और गन्धर्वों में सञ्चित है, जो दिव्य और मानुषी है, वह मुझमें प्रवेश करे।

4. हे मेधा देवि ! हम जो कुछ कहें, वह पूर्ण कर सकें। हम व्रत का पालन करते हुये प्रिय से संयुक्त होकर ज्ञान को प्राप्त करें -

---

1. अमरकोष 1.5.12
2. मेधा कस्मात् ? मतौ धीयते। मेधावी कस्मात् ? मेधया तद्वान भवति। निरुक्त - 3.4.19
3. मतिर्बुद्धिः। तस्यां या धारणाशक्तिः, धीयते अभिव्यज्यते धारणा नाम सैव मेधा इच्युच्यते। निरुक्त - वृत्ति।

ब्रह्मणा सङ्गमेमहि ।

5. मेरा शरीर विचक्षण - विशेष रूप से अभिव्यक्ति समर्थ हो। मेरी वाणी मधु युक्त अर्थात् मधुर और मधु को प्रवाहित करने वाली हो -

वाङ् मे मधुमद् दुहाम् ।

मुझ अवृद्ध या अज्ञानी के लिये वे सूर्य देवता ज्ञान रूप ब्रह्म को लाएँ। मेधा देवी की कृपा से अर्जित ज्ञान या श्रुत कभी मेरा परित्याग न करे -

असौ सूर्यो ब्रह्मणानी स्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः ।

6. हे देवो ! गन्धर्वों से सेवित, शोभायमान, मननीय मेधा देवी को हमारी ओर अभिप्रेरित करो, जिससे मैं मेधावी हो सकूँ, अजर और अमर हो सकूँ **मह्यं मेधां वद मह्यं श्रियं वद मेधावी भूयासमजरा जरिष्णु ।**

7. जो मेधा बृहस्पति के पास है, जो देवराज इन्द्र के द्वारा इष्ट है, वह मेधा मुझे प्राप्त हो।

8. हे मेधा देवि ! देवगण और पितर जिस मेधा की उपासना करते हैं, उस मेधा से मुझे मेधावी बनाएँ।

9. मेधादेवी की कृपा से मैं मेधावी, सुन्दर मन वाला (सुमनः) शोभन ज्ञान एवं चेतना से सम्पन्न, श्रद्धावान, सत्यबुद्धि, श्रेष्ठ ऐश्वर्य या ज्ञानकोश वाला बनूँ। इस विश्व में महायश से युक्त, ज्ञान-विज्ञान को धारण करने वाला मैं ज्ञान की सनातन धारा का प्रवक्ता बन सकूँ -

मेधाव्यं सुमनः सुप्रतीकः श्रद्धामनाः सत्यमतिः सुशेवः ।
महायशा धारयिष्णु प्रवक्ता भूयासमस्ये स्वधया प्रयोगे ॥9॥

10. ये मेधादेवी आसुरी प्रवृत्तियों की विनाशिका, अन्धकार को दूर करने वाली, सन्मार्ग पर चलाने वाली तथा यक्ष्मादि पापरोगों का नाश करने वाली हैं।

यह मेधासूक्त वैदिक नारी की मेधा का एक ऐसा प्राचीनतम साक्ष्य है, जिसमें शिव और सुन्दर के लिये सत्यमार्ग पर चलने के लिये, ज्ञान की चिरन्तन धारा को सतत प्रवाहशील बनाये रखने के लिये मेधाप्राप्ति हेतु मेधा देवी से प्रार्थना की गई है क्योंकि समस्त अशुभ, अमङ्गल, अन्धकार, अज्ञान और असत का विनाशक ज्ञान मेधा द्वारा ही धारण किया जाता है। यह धारणात्मिका शक्ति ही सृष्टि एवं मानवीय अस्तित्व का आधार है।

* * *

अन्य स्त्रियाँ

वैदिक संस्कृति की संरचना में प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध इन स्त्री ऋषियों के साथ ही कतिपय अन्य स्त्रियों के सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं ; जिन्होने इस सनातन संस्कृति की दिशा और स्वरूप निर्धारण में सहभागिता की है। इनमें से तीन नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये तीनों नाम ब्रह्मवादिनी घोषा के अश्विन-सूक्त (10.33) एवं ऋग्वेद के अन्य मन्त्रों में भी प्राप्त होते हैं।

1. शुन्ध्युव

शुन्ध्युव राजा पुरुमित्र की अत्यन्त रूपवती कन्या थीं।[1] ऋग्वेद के एक अन्य सन्दर्भ में इन्हें कामद्युव[2] अर्थात् कामभाव को दीप्त करने वाली कहा गया है। शुन्ध्युव ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध स्वयंवर में युवा ऋषि विमद का वरण किया था, जिसके कारण शुन्ध्युव और विमद को राजा पुरुमित्र एवं स्वयंवर में आये हुये अन्य राजाओं का कोपभाजन बनना पड़ा था। शुन्ध्युव की प्रार्थना पर अश्विनीदेवों ने शुन्ध्युव को अपने रथ पर बिठाकर शत्रुसेना से बचाते हुये ऋषि विमद के समीप सुरक्षित पहुँचाया था।[3]

राजकन्याओं के ऋषियों के साथ विवाह के अनेक सन्दर्भ ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं , जहाँ पिता स्वयं अपनी कन्या ऋषि को प्रदान करते हैं; किन्तु पिता की इच्छा के विरुद्ध पति के वरण का यह सन्दर्भ युवती कन्या के उस साहस और दृढ़निश्चय को अभिव्यक्त करता है, जो अपने प्रेम की प्राप्ति के लिये पिता और समाज का विरोध करने से पीछे नहीं हटती हैं।

* * *

---

1. ऋग्वेद 10.39.7
2. कामद्युवं कामस्य दीपनीं जायां विमदाय ऋषये उहथुः। ऋग्वेद 10.65.12 पर सायण भाष्य
3. (1) याभिः पत्नीर्विमदाय न्यूहथुः। ऋग्वेद 1.112.19

   (2) विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहथुः रथेन। ऋग्वेद 1.116.7, 1.117.20

2. वध्रिमती

ऋषिकन्या वध्रिमती अश्विदेवों के प्रति दृढ़ भक्ति रखने वाली एक विदुषी नारी थीं। उन्हें 'पुरंधी' इस विशेषण से मण्डित किया गया है। इनके पति नपुँसक थे। इन्होने अनेक स्तोत्रों से अश्विदेवों का आह्वान किया था। वध्रिमती के उस आह्वान को सुनकर अश्विदेवों ने कृपा करते हुये उन्हें हिरण्यहस्त नामक पुत्र प्रदान किया था।[1]

वध्रिमती स्त्रीत्व की सार्थकता मातृत्व में मानती थीं, अतः स्तोत्र रचनाओं और प्रार्थनाओं से अश्विदेवों को प्रसन्न कर उन्होने पुत्र-प्राप्ति द्वारा अपने नारीत्व को सार्थक बनाया।

* * *

3. विश्पला

खेल राजा की पत्नी विश्पला एक वीराङ्गना थीं। शत्रुपक्ष से वीरतापूर्वक युद्ध करते हुये उन्हें अपनी एक जाँघ खोनी पड़ी थी। खेल राजा के पुरोहित महर्षि अगस्त्य ने अनेकों स्तुतियों से अश्विदेवों का आह्वान किया था।[2] अश्विनों ने प्रसन्न होकर शीघ्र ही विश्पला को आयसी (लोहे की कृत्रिम जङ्घा) प्रदान कर पुनः युद्ध करने में समर्थ बनाया था।[3]

ऋग्वेद में विश्पला के इसी अतुल पराक्रम और अश्विदेवों की कृपा का अनेकशः उल्लेख हुआ है।[4]

* * *

---

1. (1) युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरन्धये। ऋग्वेद 10.39.7
   (2) श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्। ऋग्वेद 1.116.13
2. अगस्त्ये ब्रह्मणा वावृधाना सं विश्पलां नासत्यारिणीतम्। ऋग्वेद 1.117.11
3. सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्। ऋग्वेद 1.116.15
4. ऋग्वेद 1.112.10, 6.62.7, 10.65.12

4. मुद्गलानी

मुद्गल ऋषि की पत्नी मुद्गलानी एक अत्यन्त साहसी वीर महिला थीं। उन्होने रथ के सारथी का कार्य करते हुये सेना का नेतृत्व किया था तथा शत्रु असुरों को परास्त कर पति के गोधन को जीता था। ऋग्वेद में मुद्गलानी के इस अद्वितीय साहस और पराक्रम की भूरिशः प्रशंसा की गई है। जिस समय रथ पर चढ़कर मुद्गलानी ने सहस्रों गायों को जीता, उस समय उसके वस्त्र का सञ्चालन वायु ने किया, अर्थात् मुद्गलानी ने वायुवेग से शत्रुसेना पर आक्रमण किया। मुद्गलानी ने इन्द्रसेना को सारथ्य और नेतृत्व प्रदान कर विजयी बनाया -

उत् स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत् सहस्रम्।
रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना।[1]

जैसे पतिवियुक्ता स्त्री पति को पाकर प्रसन्न होती है, उसी प्रकार मुद्गलानी शत्रु को प्राप्त कर प्रसन्न हुई। जैसे मेघ पृथिवी पर जलधारा की वर्षा करते हैं, उसी प्रकार मुद्गलानी ने शत्रुसेना पर वाणों की वर्षा की-

परिवृक्तेव पतिविद्यमानट् पीप्याना कूचक्रेणेव सिञ्चन्।[2]

ऋषि कामना करते हैं कि हम सर्वदा ऐसे कुशल सारथी के नेतृत्व में विजयी हों तथा मङ्गल को प्राप्त करते रहें -

एषैष्या चिद्रथ्या जयेम सुमङ्गलं सिनवदस्तु सातम्।[3]

ऐसी तेजस्वी वीराङ्गनाओं से ही भारतराष्ट्र और इस देश की संस्कृति महान बनी है।

* * *

---

1. ऋग्वेद 10.102.2
2. ऋग्वेद 10.102.3
3. ऋग्वेद 10.102.3

उपनिषद् युग की स्त्रियाँ

उपनिषदों का युग वैदिक ज्ञान की पराकाष्ठा का युग है; इसी सन्दर्भ में उपनिषदों को 'वेदान्त' कहा गया है। उपनिषदों के ऋषियों ने जीवन के उन सत्यों और सृष्टि के उन रहस्यों का अन्वेषण एवं दर्शन किया था, जिनकी जिज्ञासा चिरन्तनकाल से ही मानवीय मनीषा करती रही है और जिनके समाधान के लिये ही 'दर्शन' जैसी ज्ञान की एक पृथक् शाखा का प्रवर्तन हुआ है। वेद के कवि ऋषियों ने इस सृष्टि में प्रत्यक्षगोचर उन अनेक दिव्य शक्तियों की स्तुति की, जो एक परम ज्योति के सन्देशवाहक हैं, जिनमें सर्वोच्च सत्ता या ब्रह्म का तेज विभक्त है; जो ऋत या सृष्टि-व्यवस्था के सञ्चालक एवं नियामक हैं।

उपनिषदों के तत्त्वद्रष्टा दार्शनिकों ने उस एक सत्य का साक्षात्कार किया, जो इस सृष्टिप्रवाह के पीछे और स्वयं इस सृष्टि में विद्यमान है। उस एक परम सत्य को जान लेने वाले ब्रह्मवादी ऋषियों में दो नाम ब्रह्मवादिनियों के भी हैं, जिन्होने वैदिक संस्कृति को आध्यात्मिक ऊँचाइयों के शिखर पर पहुँचाया; ये स्वनामधन्य नाम हैं - मैत्रेयी एवं गार्गी।

किन्तु इन ब्रह्मवादिनियों के परिचय से पूर्व उन स्त्रियों का अभिज्ञान भी आवश्यक है, जिन्होने वैदिक संस्कृति के किसी एक पक्ष को अथवा सामाजिक संरचना के किसी एक अङ्ग को अपने आचरण या विचारों से प्रभावित किया है; भले ही ये सामान्य अज्ञातनामा स्त्रियाँ रही हों।

इनमें से कतिपय का विवरण प्रस्तुत है।

आटिकी

छान्दोग्य उपनिषद् में ऋषि उषस्ति चाक्रायण की पत्नी आटिकी की कथा आती है; जिन्होने भयङ्कर दुर्भिक्ष के समय व्याकुल होकर धैर्य खो देने की अपेक्षा अपनी धीरता, गम्भीरता, बुद्धिमत्ता और सहनशीलता का परिचय देते हुये एक सहधर्मिणी का आदर्श प्रस्तुत करते हुये अपने पति का साथ दिया तथा समयोचित कर्तव्य और परामर्श द्वारा अपने पति को इस विपत्ति से उबारा था।

एक बार कुरुदेश में ओलावृष्टि से कृषि नष्ट हो गई। उस भयङ्कर अकाल की स्थिति में एक निर्धन ऋषि उषस्ति चाक्रायण अपनी पत्नी आटिकी के साथ हाथीवानों के ग्राम में जाकर बस गये।[1] भूख से व्याकुल होकर ऋषि भिक्षा माँगने निकले। उन्हें हाथीवानों से कुछ कुल्माष (उड़द के समान अन्न) प्राप्त हुये। ऋषि कुछ कुल्माष खाकर शेष अपनी पत्नी के लिये ले आये। आटिकी भी भिक्षा प्राप्त कर चुकी थीं। एक सुगृहिणी होने के नाते उन्होने कुल्माष स्वयं न खाकर; दूसरे दिन के लिये सँभाल कर रख लिये -

तान्प्रतिगृह्य निदधौ।

दूसरे दिन प्रातःकाल जागने पर ऋषि ने पत्नी से कहा, 'यदि कुछ अन्न मिल जाये, तो शक्ति प्राप्त कर किसी यज्ञ करने वाले राजा के पास जाकर कुछ धन प्राप्त करुँ।' तब आटिकी ने वही कुल्माष लाकर ऋषि के सम्मुख प्रस्तुत किये -

तं जायोवाच, हन्त पत इम एव कुल्माषा इति।
तान्खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय।[2]

ऋषि चाक्रायण उन्हीं कुल्माषों को खाकर राजा के यज्ञ में पहुँचे और अपने श्रौतज्ञान से; राजा द्वारा यज्ञकर्म सम्पादन हेतु प्रमुख ऋत्विज् के रूप में चुने गये।

इस प्रकार एक पत्नी के रूप में आटिकी ने न केवल विपत्ति में उनका साथ दिया, अपितु एक सहधर्मचारिणी के धर्म का निर्वाह करते हुये अपनी सूझ-बूझ से पति के प्राणों की रक्षा की, उन्हें गौरवमय पद का अधिकारी एवं धनादि दक्षिणा प्राप्ति के योग्य बनाया।

* * *

---

1. मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जायं योषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास। छान्दोग्योपनिषद् 1.10.1
2. छान्दोग्योपनिषद् 1.10.7

जबाला

उपनिषद् युग के सुप्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता ऋषि सत्यकाम जाबाल की जननी जबाला की कथा छान्दोग्योपनिषद् के चतुर्थ प्रपाठक में प्राप्त होती है।

बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य की इच्छा से सत्यकाम ने अपनी माता जबाला से अपने पिता का नाम एवं गोत्र पूछा। तब जबाला ने बिना किसी भय एवं सङ्कोच के पुत्र को सत्य से अवगत कराते हुये कहा -

'तात! मैं नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो अथवा तुम्हारे पिता कौन हैं ? युवावस्था में अनेक व्यक्तियों की सेवा करते हुये मैंने तुम्हें पाया, अत: मैं नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है। मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा नाम सत्यकाम। गुरु द्वारा गोत्र पूछने पर कहना कि तुम सत्यकाम जाबाल हो।'[1]

तब सत्यकाम ने गुरु के समीप जाकर माता द्वारा कहे गये वचनों को उसी प्रकार दोहरा दिया। गुरु हारिद्रुमत सत्यकाम की इस सत्यनिष्ठा से अत्यन्त प्रभावित हुये और उन्होने सत्यकाम को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी।[2]

एक सामान्य परिचारिणी (सेविका)जबाला के पुत्र सत्यकाम महान ब्रह्मवादी ऋषि हुये। जाबालदर्शनोपनिषद्, जाबालोपनिषद् तथा जाबाल्युपनिषद् जैसे उपनिषद् जाबाल ऋषि की ज्ञानपरम्परा के वाहक हैं। अपने पुत्र के निर्माण में जबाला की भूमिका एवं उनकी सत्यनिष्ठा अविस्मरणीय है। उन्होने वैदिक संस्कृति में 'सत्य' रूपी जीवनमूल्य को अपने और अपने पुत्र के आचरण से प्रतिष्ठित किया।

* * *

1. सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामालभे। साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति। छान्दोग्योपनिषद् 4.4.2
2. तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्यऽऽहरोप त्वा नेष्ये। न सत्यादगा इति। छान्दोग्य.4.4.5

यम-पत्नी

मृत्यु के देवता 'यम' की पत्नी; वैदिक युग की उन नारियों का आदर्श हैं, जो विभिन्न अवसरों पर अपने पति को उचित परामर्श देते हुये कर्तव्य का निर्देश करती थीं। सन्दर्भ कठोपनिषद् का है - जब वाजश्रवस् नामक ऋषि ने क्रोधवश अपने पुत्र नचिकेता को यम के लिये दान कर दिया; तब बालक नचिकेता पिता के वचनों को सत्य करने के लिये यम-सदन पहुँचा। यमराज के प्रवास पर होने के कारण वह ब्राह्मण-बालक तीन दिन, तीन रात तक बिना अन्न-जल ग्रहण किये बाहर ही बैठा रहा। यमराज के प्रवास से लौटने पर उनकी पत्नी ने तत्काल पति को इसकी सूचना दी तथा समुचित कर्तव्य का निर्देश करते हुये कहा -

'ब्राह्मण अतिथि बनकर अग्नि ही गृहों में प्रवेश करते हैं, अतः साधु पुरुष अर्घ्य-पाद्य आदि द्वारा उस अतिथि रूप अग्नि को शान्त करते हैं। हे वैवस्वत ! उस ब्राह्मण अतिथि के लिये पाद्य-जल लेकर जाइये।'[1]

इस गृहस्थधर्म का पालन न करने पर होने वाले अनिष्ट के प्रति सजग करते हुये उन्होने कहा -

'जिस घर में ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये रहता है, उस अल्पमति व्यक्ति के समस्त सुकृत, इष्टापूर्त का फल, पुत्र और पशु आदि नष्ट हो जाते हैं।'[2]

इस प्रकार पत्नी द्वारा उद्बोधित किये जाने पर यमराज ने नचिकेता का पूजन-अर्चन एवं समुचित आतिथ्य करते हुये तीन रात्रियों के लिये तीन वर प्रदान किये।

सनातन काल से ही भारतीय नारी; परिवार, धर्म-कर्म, सदाचर और नैतिक मर्यादाओं की धुरी रही हैं ; जो स्वयं धार्मिक, सामाजिक व्यवस्थाओं का कड़ाई से पालन करते हुये अपने पति को भी कर्तव्य-पालन के लिये प्रेरित करती थीं ; इसका एक उज्ज्वल निदर्शन यम-पत्नी हैं।

* * *

---

1. वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
   तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्। कठोपनिषद् 1.7
2. कठोपनिषद् 1.8

उमा हैमवती

जब-जब पुरुष को अपने पौरुष और शक्ति का मद या अहङ्कार होता है, तब-तब स्त्री ही उसके इस मिथ्या अहं को दूर कर यथार्थ का बोध कराने में अग्रणी बनती हैं। इसी सन्दर्भ में है - केनोपनिषद् में उमा-हैमवती की कथा। इस आधिदैविक उपाख्यान के द्वारा परमेश्वर या ब्रह्म की शक्ति का बोध कराया गया है।

सर्वशक्तिमान ब्रह्म ने दवों के लिये विजय प्राप्त की किन्तु देवता उसे अपनी विजय और अपनी ही महिमा समझते हुये अहङ्कारी हो गये। तब ब्रह्म ने देवताओं से अपनी शक्ति को खींच लिया तथा एक यक्ष को देवों के शक्ति-परीक्षण के लिये भेजा।

सर्वप्रथम अग्नि देवता उस यक्ष का रहस्य जानने के लिये पहुँचे, तब यक्ष ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रखते हुये उसे जलाने के लिये कहा किन्तु सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भी अग्नि उसे जला न सके। तत्पश्चात् वायु देवता यक्ष का रहस्य ज्ञात करने पहुँचे किन्तु वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भी यक्ष द्वारा रखे गये तिनके को न उड़ा पाये। वायु के विफल होने पर इन्द्र उस यक्ष का रहस्य जानने पहुँचे किन्तु यक्ष उस स्थान से तिरोहित हो गये। यक्ष का अन्वेषण करते हुये इन्द्र ने एक अत्यन्त शोभमान, सुवर्णालङ्कारों से अलङ्कृत स्त्री को देखा। वे उमा हैमवती थीं। इन्द्र ने उनसे यक्ष के विषय में जानना चाहा कि 'वह यक्ष कौन है?'

तब उमा ने उन्हें यथार्थ का ज्ञान कराते हुये कहा - 'वह यक्ष ब्रह्म है। यह विजय और महिमा ब्रह्म की है, देवों की नहीं।'

स ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीध्वमिति
ततो हैव विदां चकार ब्रह्मेति।[1]

उपनिषद् की ये 'उमा हैमवती' ही पौराणिक युग में हिमवत् की पुत्री (पार्वती) के रूप में प्रसिद्ध हुईं एवं शिव की शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुईं।

उमा हैमवती की यह प्रतीकात्मक कथा स्त्रियों की प्रज्ञा और आध्यात्मिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालने में अलम् है। ब्रह्म की शक्ति और महिमा को स्वयं जानकर देवों को उस पराशक्ति का बोध कराने में ; एक आध्यात्मिक गुरु के रूप में उमा की भूमिका निश्चय ही उल्लेखनीय है।

---

1. केनोपनिषद् 4.1

मैत्रेयी

महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी वैदिक संस्कृति का वह उल्ल्वलतम रत्न हैं, जिन्होने पति की अकूत सम्पत्ति और भौतिक सुख-सुविधाओं को तुच्छ मानते हुये आत्म-ज्ञान के द्वारा अमरत्व की कामना की थी।

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद बृहदारण्यक उपनिषद् का एक अति महत्त्वपूर्ण संवाद है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह संवाद द्वितीय एवं चतुर्थ अध्याय में निबद्ध है।[1] सहस्रों वर्ष बाद आज भी यह संवाद; भौतिक समृद्धि और भोग-विलास के पीछे भागने वाली स्त्रियों की मृगतृष्णा को भङ्ग करने वाला एक प्रेरक प्रसङ्ग है।

उपनिषद् युग के स्वनामधन्य ब्रह्मवेत्ताओं में महर्षि याज्ञवल्क्य का नाम अग्रगण्य है। यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता (शुक्ल यजुषों) के प्रणयन का श्रेय महर्षि याज्ञवल्क्य को दिया जाता है। कहा जाता है कि सूर्य ने वाजि (अश्व) का रूप धारण कर महर्षि को शुक्ल यजुषों का उपदेश किया था।[2]

महर्षि याज्ञवल्क्य मिथिला जनपद के प्रौढ़ दार्शनिक थे। विदेहराज जनक को भी इन्होने ब्रह्मज्ञान दिया था। प्रसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ उद्दालक आरुणि इनके गुरु थे। महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं - मैत्रेयी एवं कात्यायनी। गृहस्थाश्रम पूर्ण करने के पश्चात् आत्मिक उत्थान के लिये सन्यास लेने का निर्णय करते हुये महर्षि ने अपनी सम्पत्ति को दोनों पत्नियों में बाँटना चाहा। तब मैत्रेयी ने एक प्रश्न पूछा -

'भगवन्! यदि धन-धान्य से परिपूर्ण सारी पृथिवी मुझे मिल जाये, तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी?'-

सा होवाच मैत्रेयी, यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा
स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति ?

महर्षि ने उत्तर दिया, - 'नहीं, वित्त से जीवन सुख-सुविधा पूर्ण हो सकता है, किन्तु इससे अमृत की आशा नहीं है।'

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4-5, 4.5
2. आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते। शतपथ ब्राह्मण 4.9.5.33

तब मैत्रेयी ने जो उत्तर दिया, वह समग्र विश्व के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। मैत्रेयी ने कहा -

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां, यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ।[1]

'जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी, आप आत्मविद्या के विषय में जो कुछ जानते हैं, उसका उपदेश करें।'

ब्रह्मविद्या या आध्यात्म के विषय में मैत्रेयी की उत्कट जिज्ञासा को जानकर महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या का उपदेश दिया। उन्होने कहा -

आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे
दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।[2]

'आत्मा ही वह तत्व है, जिसके दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से सब कुछ विदित हो जाता है' -

यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो यश्चायमध्यात्मं
शारीरस्तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषोऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।[3]

'पृथिवी में व्याप्त जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वह समष्टिरूप ब्रह्माण्ड की आत्मा है ; शरीर में व्याप्त तेजोमय, अमृतमय पुरुष व्यष्टिरूप पिण्ड की आत्मा है। यह आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही सब-कुछ है।'

मैत्रेयी महर्षि याज्ञवल्क्य से प्राप्त आत्मज्ञान से अमृतत्व को प्राप्त हुईं। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि ब्रह्मसूत्र में निर्दिष्ट ब्रह्मविद्या का बोध कराने वाली 32 विद्याओं में एक नाम 'मैत्रेयीविद्या' भी है। 108 उपनिषदों में परिगणित 'मैत्रेयोपनिषद्' ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी के प्रज्ञा-प्रकर्ष एवं वैदिक संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष को प्रख्यापित करने वाला प्रबलतम साक्ष्य है।

* * *

---

1 बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.2

2. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.5

3. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.5.1

गार्गी वाचक्नवी

उपनिषद् युग की ब्रह्मवादिनियों में वचक्नु की पुत्री वाचक्नवी गार्गी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होंने विदेहराज जनक की ; अनेक ब्रह्मवेत्ता से भरी हुई सभा में याज्ञवल्क्य जैसे श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता से शास्त्रार्थ किया था।

जनक वैदेह ने एक बार 'बहुदक्षिण' नामक (बहुत अधिक दक्षिणा वाला) यज्ञ किया। कुरु पाञ्चाल के अनेक ब्रह्मवेत्ता इसमें सम्मिलित हुये। जनक स्वयं भी ब्रह्मज्ञानी थे। श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता या 'अनूचानतम' की खोज करने के लिये जनक ने स्वर्णमण्डित सींगों वाली एक सहस्र गौओं को प्रस्तुत करते हुये घोषणा करवाई-

'जो ब्राह्मण सर्वाधिक ज्ञानी या ब्रह्मिष्ठ हो, वह उन गौओं को अपने घर ले जा सकता है।'[1]

जब कोई भी ब्राह्मण उन गौओं की दक्षिणा लेने का साहस न कर सका, तब याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा -

'सोम्य सोमश्रवा, इन गौओं को हाँक ले जाओ।'

अन्य विद्वानों ने इसे अपनी विद्वता का अपमान समझकर याज्ञवल्क्य को चुनौति देते हुये उनसे प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया। अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु, उषस्ति चाक्रायण, कहोल आदि विद्वानों के प्रश्न पूछकर श्रान्त हो जाने पर, गार्गी वाचक्नवी याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ के लिये प्रस्तुत हुईं।

गार्गी ने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ निर्भीक भाव से याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया -

गार्गी	-	यह पृथिवी जल में ओतप्रोत है, फिर यह जल किस में ओतप्रोत है ?
याज्ञवल्क्य	-	वायु में।
गार्गी	-	वायु किस में ओतप्रोत है ?
याज्ञवल्क्य	-	अन्तरिक्षलोक में।

1. तस्य हि जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्रह्मणानामनूचानतम् इति। ....
भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति। बृहदारण्यकोपनिषद् 3.2.1

गार्गी - अन्तरिक्षलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य - गन्धर्वलोक में।

गार्गी - गन्धर्वलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य - चन्द्रलोक में।

गार्गी - चन्द्रलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य - देवलोक में।

गार्गी - देवलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य - इन्द्रलोक में।

गार्गी - इन्द्रलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य - प्रजापतिलोक में।

गार्गी - प्रजापतिलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य - ब्रह्मलोक में।

गार्गी - ब्रह्मलोक किस में ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य - हे गार्गि ! अतिप्रश्न अर्थात् प्रश्नों से जो परे है, उसके विषय में मत पूछ।[1]

तब गार्गी याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को समझकर शान्त हो गईं। गार्गी के विरत हो जाने पर उद्दालक आरुणि ने याज्ञवल्क्य से कई गम्भीर प्रश्न पूछे। इसके पश्चात् गार्गी पुन: प्रश्न करने के लिये उठ खड़ी हुईं। उन्होने कहा -

'आदरणीय ब्राह्मणो ! आपकी अनुमति हो, तो मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न और पूछना चाहूँगी। यदि इन्होने इन प्रश्नों का उचित समाधान कर दिया, तो इन श्रेष्ठ ब्रह्मोद्य (ब्रह्मवक्ता) को कोई जीत नहीं सकेगा।'

ब्राह्मणसभा से अनुमति प्राप्त कर गार्गी ने याज्ञवल्क्य को सम्बोधित करते हुए कहा -

'जैसे काशी या विदेह का उग्र वीर धनुष चढ़ाकर, शत्रु को बेधने वाले तीक्ष्ण वाणों को लेकर खड़ा हो जाये, उसी प्रकार मैं दो प्रश्नों के साथ तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। मेरे दोनों प्रश्नों का उत्तर दो।'

---

1. अथ हैनं गार्गी वाचकनवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्चप्रोताश्चेति ..... कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च। बृहदारण्यकोपनिषद् 3.6.1

याज्ञवल्क्य ने कहा - 'पृच्छ गार्गी (हे गार्गि ! पूछो)।'

गार्गी ने कहा - 'द्यु से जो ऊपर है, पृथिवी से जो नीचे है, द्यु और पृथिवी के जो बीच में है, वह सब किस में ओतप्रोत है ?'

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया - 'आकाश में।'

तब गार्गी ने पूछा - 'यह आकाश किसमें ओतप्रोत है ? '

याज्ञवल्क्य ने कहा - 'यह आकाश जिसमें ओतप्रोत है, उसे ब्रह्मवेत्ता 'अक्षर' कहते हैं। इसी अक्षर के शासनसूत्र में बँधकर 'ब्रह्माण्ड' के तत्व स्थिर हैं अथवा गति प्राप्त करते हैं। यह अक्षर अदृष्ट होते हुये भी द्रष्टा, अश्रुत होते हुये भी श्रोता, स्वयं अविज्ञात होने पर भी विज्ञाता है। हे गार्गि ! इसी अक्षर में आकाश ओतप्रोत है।'[1]

तब गार्गी ने विनम्रतापूर्वक याज्ञवल्क्य को नमस्कार करते हुये उन्हें श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता स्वीकार कर लिया।

वस्तुतः गार्गी ने याज्ञवल्क्य से जो प्रश्न पूछे थे, उनका उत्तर वह स्वयं जानती थीं। उनके प्रश्न इस सृष्टि के आधारभूत मूल स्रोत या कारण से सम्बद्ध थे, जिनके कारण यह जगत् दृष्टिगोचर होता है या एक सूत्र में निबद्ध होकर मनकों की माला के समान अस्तित्व प्राप्त करता है।

गार्गी ने अपनी मेधा और तपस्या से ब्रह्मविद्या के गूढ़तम रहस्यों को अधिगत किया था और अनेक ब्रह्मिष्ठों के मध्य अपनी पहचान बनाई थी।

* * *

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 3.8.1-12

खण्ड - 3

वैदिकं संस्कृति के विविध आयाम

1. प्राकृतिक संरचना - देश एवं काल
2. राजनैतिक - ऐतिहासिक वैशिष्ट्य
3. सामाजिक संरचना
4. अर्थव्यवस्था
5. धर्मदर्शन
6. शिक्षा
7. विज्ञान
8. भाषा
9. काव्य
10. जीवनमूल्य

* * *

1. प्राकृतिक संरचना - देश एवं काल

मानवीय जीवन के विकास के साथ ही मानवीय संस्कृति का निर्माण भी प्रकृति के उत्सङ्ग में ही होता है। इतिहास साक्षी है कि विश्व की वे सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ, जो निसर्ग से सामञ्जस्य और सन्तुलन बनाकर चली हैं, जिन्होने प्रकृति के विविध अङ्गों - जल, वायु, अग्नि, आकाश, वनस्पति आदि के प्रति दिव्य भाव रखते हुये; श्रद्धापूर्वक मन-वचन और कर्म से उनके लिये कृतज्ञता ज्ञापित की है, वे सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ ही सनातनता को प्राप्त कर अमर हुई हैं।

वैदिक संस्कृति भी निसर्ग के प्रति श्रद्धाभाव रखने वाली एक ऐसी ही प्रकृतिपूजक संस्कृति है, जहाँ ये सभी तत्व, जो दिव्य आभा से समन्वित, दिव्य का सन्देश देने वाले, सूनृत अर्थात् सुन्दर बुद्धि और वाणी को प्रेरित करने वाले, प्राणिमात्र को जीवन देने वाले और इस सृष्टिव्यवस्था के सञ्चालन में सहयोग देने वाले देवता हैं।

जिस आकाश रूपी छत के नीचे; उदार धरा पर ; नदियों के सङ्गमों और गिरि-प्रान्तों के नैसर्गिक दिव्य परिवेश में तप करते हुये वैदिक ऋषि धी-सम्पन्न हुये [1], एक लोकमङ्गल-कारी विश्व-संस्कृति के विविध सङ्घटकों के द्रष्टा और निर्माता बने, वह प्रकृति, स्तुति, प्रशंसा, श्रद्धा और विस्मय आदि भावों से समन्वित होकर सहज ही इन ऋषियों के मन्त्रों में प्रतिबिम्बित हुई है। प्रस्तुत है, वैदिक संस्कृति की निर्मात्री स्त्रियों के वाचिक साक्ष्य में प्रस्तुत नैसर्गिक परिदृश्य।

भुवन

प्रकृति के विविध रूप जिस फलक को आधार बनाकर अपनी बहुवर्णी आभा को बिखेरते हैं, उसकी संज्ञा है - भुवन। विश्वभुवन ही वह विशाल पट है, जिस पर प्रकृति नाना रूपों और नाना रङ्गों के चित्र बनाती है। अत: ऋग्वेद की ऋषिका देवी अदिति को इस धरती को जीवनदान देने वाले मेघों का सञ्चरण 'यति' के सदृश सम्पूर्ण भुवनों में दृष्टिगत होता है -

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।[2]

---

1. उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनां धिया विप्रो अजायत। ऋग्वेद 8.6.28
2. ऋग्वेद 10.72.7

तो सूर्या के अनुसार सूर्य अपनी रश्मियों से ऊर्जा और आलोक देते हुये विश्व-भुवन का अवलोकन करते हैं -

विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ।[1]

क्योंकि मेघ और सूर्य जैसे प्राकृतिक उपहार किसी एक राष्ट्र या जाति की सम्पत्ति नहीं हैं।

ये भुवन तीन हैं - पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ अथवा द्युलोक ।[2]

पृथिवी

संस्कृति का भव्य भवन जिस आधारशिला पर निर्मित होता है, उसका अभिधान है -पृथिवी। पृथु अर्थात् विस्तृत या फैली हुई होने के कारण यह पृथिवी कही जाती है। वैदिक कोश 'निघण्टु' में पृथिवी के 21 नाम (1.1) प्राप्त होते हैं। वैदिक ऋषिकाओं ने 'भू' (ऋग्वेद 10.72.4) भूमि (10.85.1) क्षमा (10.10.1) मही (10.85.2) आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया है। 'भू' और 'भूमि' पृथिवी पर जीवन की सत्ता या अस्तित्व के परिचायक हैं, तो 'क्षमा' पृथिवी की जीवनसन्धारण सम्बन्धी क्षमता या सामर्थ्य के। 'मही' इस धरती माता की महानता उदारता और पोषण क्षमता का अभिधायक है। वैदिक ऋषि सूर्या के अनुसार पृथिवी में जो सोमतत्त्व - ओषधियों का जीवनदायी रस है, उसीसे यह धरती 'मही' बनी है।[3]

यह पृथिवी श्रेष्ठ रसों एवं अन्न से परिपूर्ण है। वह रस सभी में विभाजनपूर्वक उपभोग योग्य है -

ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वा ..... उपासते । [4]

यह भूमि सभी प्राणियों को माता के समान पोषण देती है, अतः ऋग्वैदिक ऋषिका लाक्षा के अनुसार यह जगज्जननी जगद्धात्री विश्वमाता है -

भूमिर्माता नभः पिता । [5]

यह पृथिवी चारों ओर जल से घिरी हुई है।[6]

---

1. ऋग्वेद 10.85.18
2. ऋग्वेद 9.86.14
3. ऋग्वेद 10.85.2
4. ऋग्वेद 10.109.7
5. ऋग्वेद 8.51 के बाद खिलसूक्त।
6. यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च। बृहदारण्यकोपनिषद् 3.2

इस पृथिवी पर प्राणी जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं, अतः यह धरती मृत्युलोक कही जाती है।[1]

नदियाँ

पृथिवी पर अनेक जीवन-दायिनी नदियाँ प्रवाहित होती हैं। विशाल जलराशि और सतत प्रवाह नदियों का भौतिक स्वरूप है और जीवन भी। इन्द्र जल को आवृत करने वाले वृत्र रूपी मेघ को बेधकर आकाश से जल बरसाकर इन नदियों को प्रवाहित करते हैं। सूर्य देवता अपनी किरणों से जल सोख कर मेघों की सृष्टि करते हैं।

समुद्र इनकी योनि है और लयस्थान भी, अतः पर्वतों से निकलने वाली नदियाँ सर्वदा समुद्र की ओर बहती हैं -

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनुयोनिं देवकृतं चरन्तीः।
देवोऽनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः।[2]

ये नदियाँ सृष्टिव्यवस्था का, ऋत का पालन करती हैं, अतः 'ऋतावरी'[3] कही जाती हैं। स्यन्दनशील होने के कारण इनका एक नाम 'सिन्धु'[4] है। इनका पवित्र जल 'आपः'[5] है; क्योंकि इन्हें प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया गया है। ये नदियाँ अ-ल-ला ध्वनि करती हुई बहती हैं, मानों अपने सृष्टिकर्ता के गुणों का ही गान कर रही हों।[6]

नदियाँ मानवीय आवश्यकताओं और सुख-दुःख के प्रति गहन संवेदना रखती हैं; उनकी स्तुतियों से प्रसन्न होकर उनका हितसाधन करती हैं।

विपाशा और शुतुद्री

सप्तसिन्धु प्रदेश की ये प्रसिद्ध नदियाँ हैं, जिन्हें वर्तमान में व्यास और सतलज कहा जाता है। किसी बन्धन या पाश को स्वीकार न करने वाले तीव्र जलप्रवाह के कारण व्यास नदी की संज्ञा 'विपाश' है।

---

1. ऋग्वेद 10.95.16
2. ऋग्वेद 3.33.4,6
3. ऋग्वेद 4.18.6
4. ऋग्वेद 4.18.7
5. ऋग्वेद 4.18.7
6. ऋग्वेद 4.18.7

शिलाखण्डों को तोड़कर तथा भूखण्डों को भेद कर बहने के कारण यह 'विपाट्' भी कही जाती थी।[1]

तीव्र गति से प्रवाहित होने के कारण द्वितीय नदी का अभिधान 'शुतुद्री' है।[2]

विपाश और शुतुद्री के तीव्र प्रवाह का वर्णन ऋग्वेद के विश्वामित्र-नदी संवाद में हुआ है -

प्रपर्वतानामुशती उपस्थाद....विपाद्छुतुद्री पयसा जवेते।[3]

पर्वत

यह पृथिवी अनेक उन्नत पर्वतों को अपने उत्सङ्ग में धारण करती है। पर्वत का एक नाम 'अद्रि' भी है, क्योंकि इनको विदीर्ण करना कठिन है।[4]

ये पर्वत नदियों के उद्भवस्थान हैं, किन्तु अदरणीय शिलाखण्ड जलस्रोत को प्रवाहित होने से रोकते हैं। इन्द्र अपने वज्र से परिधिभूत पर्वतों को तोड़कर नदियों के लिये मार्ग बनाते हैं।[5] वस्तुतः पर्वतों की शोभा और महिमा झरनों और नदियों से है। हिममय श्वेत धवल पर्वत भी अनेक स्रोतस्विनियों के प्रभवस्थल हैं। इन पर्वतों से पूर्व और पश्चिम की ओर अनेक नदियाँ प्रवाहित होती हैं -

प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या।[6]

वनस्पतियाँ

यह पृथिवी नाना प्रकार की वनस्पतियों और ओषधियों से परिपूर्ण है। वनस्पतियों या ओषधियों में श्रेष्ठ है - 'सोम'। सोम से ही यह पृथिवी 'मही' संज्ञा और महानता को प्राप्त करती है -

सोमेन पृथिवी मही।[7]

हरितवर्ण सोमरस ऊर्जा और जीवन का अक्षय स्रोत है। सोमरस देवों, विशेष रूप से इन्द्र को अतिप्रिय है। सोमरस की आहुति से प्रसन्न होकर देवता वृष्टि द्वारा धरती को शस्य-सम्पन्न करते हैं।

---

1. विपाट् ? विपाटनाद्वा। विपाशनाद् वा। निरुक्त 3.9.5
2. शुतुद्री - शुद्राविणी - क्षिप्रद्राविण्याशु तुन्नेव द्रवतीति वा। निरुक्त 3.9.5
3. ऋग्वेद 3.33.1
4. यदद्रयः ....अदरणीयाः। निरुक्त 3.9.9
5. ऋग्वेद 4.18.6
6. बृहदारण्यक उपनिषद् 3.9
7. ऋग्वेद 10.85.2

वनस्पतियों की एक संज्ञा 'उत्तानपाद' है, क्योंकि इसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ ऊपर की ओर फैलती हैं एवं ऊपर की ओर फैली हुई पत्र-पंक्तियों से ही वनस्पतियां सूर्यप्रकाश में अपना भोजन तैयार करती हैं। देवी अदिति के अनुसार देवसृष्टि के अन्तर्गत वनस्पतियों से भूमि की उत्पत्ति हुई है -

भूर्जज्ञ उत्तानपदो ।[1]

यह सन्दर्भ धरती की ऊपरी सतह या मृदा के निर्माण एवं भूमि को उर्वरा बनाने में वनस्पतियों की भूमिका को रेखाङ्कित करता है। मृदासंरक्षण का कार्य भी वनस्पतियाँ करती हैं।

अनेक प्रकार की लिबुजा (लताएँ) और वृक्ष वनस्पतिजगत् के अङ्ग हैं। लताएँ अपने बाहुपाश से वृक्षों का आलिङ्गन करते हुये मानवीय चेतना, गुण और धर्म से संयुक्त प्रतीत होती हैं -

परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।[2]

किंशुक और शाल्मली के वृक्ष प्रकृति के सौन्दर्य को बढ़ाने के साथ ही सुन्दर और दृढ़ रथ-निर्माण में भी प्रयुक्त होते हैं।[3]

यह धरती वीर्य, बल और सौभाग्य की वृद्धि करने वाली अनेक ओषधियों को धारण करती है, जिनमें से एक उत्तानपर्णा नामक ओषधि भी है। इन ओषधियों को; धरती को खोदकर प्राप्त किया जाता है-

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम् ।
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।[4]

अन्तरिक्ष

पृथिवी और द्युलोक का मध्यवर्ती लोक अन्तरिक्ष है। यह वायु और वृष्टि सम्बन्धी गतिविधियों का केन्द्र है। इस लोक के देवता इन्द्र हैं। इन्द्र ने ही इस लोक का विस्तार किया है।[5]

द्युलोक

इस पृथिवी के ऊपर द्युलोक एक छत की भाँति स्थित है।[6] यह इस जगत् की मूर्धा (मस्तक)

1. ऋग्वेद 10.72.4
2. ऋग्वेद 10.10.13
3. ऋग्वेद 10.85.20
4. ऋग्वेद 10.145.1
5. त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्यन्तरिक्षमतिरः। ऋग्वेद 10.53.3
6. द्यौरासीदुतच्छदिः। ऋग्वेद 10.85.10

है।[1] परमव्योम[2] और स्व:[3] इस लोक की अन्य संज्ञाएँ हैं।

वैदिक ऋषिकाओं ने वैदिक परम्परा के अनुसार द्युलोक का वर्णन प्रायः पृथिवी के साथ संयुक्त रूप में द्यावा-पृथिवी के रूप में किया है। पृथिवी और द्युलोक स्त्री-पुरुष के शाश्वत मिथुन हैं, जो जगत् को जन्म देते और धारण करते हैं -

दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू।[4]
ये जगत् के माता-पिता हैं।[5]

द्यावा पृथिवी की एक अन्य संज्ञा 'रोदसी' है।

प्रकाश[6] और वाक्[7] की व्याप्ति सम्पूर्ण द्यावा-पृथिवी में है। पृथिवी और द्युलोक दो कोशों के समान हैं, जिनका उपयोग चिरन्तन काल से ही मानव-जाति करती रही है -

द्यौ भूमिः कोश आसीद्।[8]

इस द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य ही मानव-जीवन नियन्त्रित और परिचालित होता है।[9]

चन्द्र

द्युलोक में नक्षत्रों के समीप चन्द्र की अवस्थिति है।[10] 'इन्दु' और 'सोम' चन्द्र की अन्य संज्ञाएँ हैं। सूर्य और चन्द्र दो ऐसे तेजस्वी शिशु हैं, जो क्रीड़ा करते हुये पूर्व से पश्चिम तक; आकाश को मापते हैं।[11]

---

1. ऋग्वेद 10.125.7
2. ऋग्वेद 9.86.15
3. ऋग्वेद 10.189.1
4. ऋग्वेद 10.10.9
5. ऋग्वेद 10.189.1
6. ऋग्वेद 4.18.5
7. ऋग्वेद 10.125.6
8. ऋग्वेद 10.85.7
9. ऋग्वेद 10.10.5
10. नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः। ऋग्वेद 10.85.2
11. ऋग्वेद 10.85.19

सूर्य सम्पूर्ण भुवनों का निरीक्षण करते हैं, तो चन्द्रमा अपनी अमृतमयी रश्मियों से मर्त्यों को दीर्घायुष्य प्रदान करते हैं -

प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ।[1]

चन्द्रमा का क्षय होता है, किन्तु वह पुनः परिपूर्णता को प्राप्त कर लेता है ।[2]

नक्षत्र

द्युलोक में शोभायमान नक्षत्र ऐसे प्रकाशपुञ्ज हैं, जिनसे रात्रि का अन्धकार दूर होता है -

ज्योतिषा बाधते तमः ।[3]

यास्क के अनुसार गत्यर्थक 'नक्ष्' धातु से नक्षत्र शब्द निष्पन्न होता है ।[4] नक्षत्र गतिशील ब्रह्माण्डीय तत्व है । नक्षत्रों में 'अघा' और 'अर्जुनी' का उल्लेख सूर्या ने किया है, इन्हें ही अथर्ववेद में 'मघा' एवं 'फल्गुनी' कहा गया है ।[5]

नक्षत्रों की गति के अध्ययन ने परवर्ती युग में 'वेदाङ्ग ज्योतिष्' जैसी विद्या को विकसित किया है ।

काल

यद्यपि काल अखण्ड और एक है, तथापि इसे लोकव्यवहार के लिये अनेक खण्डों में विभक्त किया गया है । कालरूपी रथ को गति देने वाले दो चक्र हैं, सूर्य और चन्द्रमा-

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।[6]

इनके रहस्य को विद्वान ही जान पाते हैं ।

दिन-रात

इन दोनों तेजःपुञ्जों के उदयास्त के साथ नियमित होने वाले काल को 'उभे अह्नी'[7] या 'दिवारात्रि' कहा

---

1. ऋग्वेद 10.85.19
2. ऋग्वेद 10.85.5
3. ऋग्वेद 10.127.2
4. नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः । निरुक्त- 3.4.20
5. ऋग्वेद 10.85.13, अथर्ववेद 14.1.13
6. ऋग्वेद 10.85.16
7. उभे अहनी सुदिने विवस्वतः । ऋग्वेद 10.151.5

गया है। वेदों में दोनों का सम्मिलित अभिधान 'दोषावस्त:'[1] है। उषा या प्रात:काल, मध्याह्न, सूर्यास्त और रात्रि इसके अंश या विभाग हैं।[2]

उषा

सूर्योदय का समय 'उष:काल' या 'प्रात:काल' कहा जाता है, जब अरुणिम आभा के साथ देवी उषा अपने स्वर्णिम रथ पर प्रकट होती हैं। उषा प्रकाशमान द्युलोक की कन्या 'दिवो दुहिता' हैं।[3] उषा के आगमन के साथ ही घर-घर में यज्ञाग्नि समिद्ध हो उठती है। पूर्वदिशा से अवतरित होती हुई उषा के सम्मुख अग्नि की लपटें विशेष शोभा पाती हैं -

प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया विभाति।[4]

सूर्योदय के साथ उषा के आगमन पर दिवस का प्रारम्भ होता है, तो सूर्यास्त के साथ दिवस का अन्त एवं रात्रि का प्रारम्भ।

रात्रि

रात्रि उषा से प्रारम्भ हुये दिवस रूपी अपनी भगिनी के कार्यभार को ग्रहण करती हैं। क्रमश: आकाश में उदित होते हुये नक्षत्रों और चन्द्रमा से रात्रि का तमस दूर होता है। पक्षी अपने-अपने नीड में शयन करते हैं। रात्रि की प्रगाढ़ता के साथ शनै:-शनै: सभी गतिविधियाँ समाप्त हो जाती हैं।

अपने अन्धकार से कई दोषों को जन्म देने के कारण 'दोषा' इस अभिधान को प्राप्त करने वाली 'रात्रि सभी के लिये मङ्गलमयी हो', ऐसी प्रार्थना वैदिक ऋषि करती हैं।[5]

मास- ऋतु- संवत्सर- युग

ये काल के क्रमश: बड़े विभाग हैं। सूर्या के अनुसार मास या माह 'समा' अर्थात् वर्ष को आकार देते हैं -

समानां मास आकृति:।[6]

---

1. ऋग्वेद 1.279.1
2. ऋग्वेद 10.151.5
3. ऋग्वेद 10.39.12
4. ऋग्वेद 5.28.1
5. ऋग्वेद 10.127.6
6. ऋग्वेद 10.85.5

चन्द्रमा की गति के अनुसार क्रमशः ऋतुएँ जन्म लेती हैं -

ऋतूँरन्यो विदधत् ।[1]

संवत्सर या वर्ष को 'शरद्' कहा गया है ।[2]

ऋग्वैदिक संस्कृति के स्रष्टा ऐसे भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते थे, जहाँ मौसम ठण्डा रहता था ।

अनेक संवत्सरों से मिलकर 'युग' बनता था । ब्रह्मवादिनी ऋषिकाएँ प्रायः 'पूर्व युग' और 'उत्तरा युग' की बात करती हैं । इससे भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीन कालों की अवधारणा स्पष्ट होती है ।

मातृभूमि के दिव्य परिवेश, रम्य नैसर्गिक सौन्दर्य, उदात्त ऐश्वर्य और अपने कोश को निःस्वार्थ भाव से चराचर के लिये लुटा देने की प्रवृत्ति ने वैदिक संस्कृति को महनीय जीवनमूल्यों से संबलित करते हुये एक सनातन संस्कृति की संरचना में महनीय योगदान दिया है ।

श्रेष्ठ रचनाएँ एक निश्चित देश, जाति और काल से संबंधित होते हुये भी सार्वजनीन, सार्वदेशीय और सार्वकालिक होती हैं । उनमें प्रतिबिम्बित देश कोई एक सीमित भूखण्ड न होकर समग्र भुवन या विश्व होता है, अतः वैदिक संस्कृति की निर्मात्री ऋषिकाओं के सूक्तों में भी एक विशाल भौगोलिक प्राकृतिक परिदृश्य परिलक्षित होता है ।

* * *

1. ऋग्वेद 10.85.18
2. ऋग्वेद 10.179.1
3. (1)देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत् । ऋग्वेद 10.72.2

   (2) उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे । ऋग्वेद 10.72.1

2. राजनैतिक-ऐतिहासिक वैशिष्ट्य

अब प्रश्न यह है कि इस उदार धरा पर वह आदि देश अथवा भूखण्ड कौन-सा था, जहाँ से वैदिक संस्कृति का सूर्योदय हुआ था। देश काल और निसर्ग का सामान्य वर्णन करने वाली ब्रह्मवादिनियों के सूक्तों में क्या ऐसा कोई विशेष सन्दर्भ है; जिससे इसके देश काल, भौगोलिक पृष्ठभूमि एवं राजनैतिक परिदृश्य का ज्ञान हो सके ? सौभाग्य से वेदों और उपनिषदों के कतिपय उल्लेख ऐसे हैं, जो वैदिक संस्कृति के उद्भव और विकास की आधार भूमि को रेखाङ्कित करने में अन्त:साक्ष्य का कार्य करते हैं।

वैदिक संस्कृति की उद्गमभूमि

वैदिक संस्कृति के आदि देश को जानने की दृष्टि से ऋग्वैदिक ऋषिकाओं के दो सन्दर्भ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं - प्रथम ब्रह्मवादिनी रोमशा का मन्त्र एवं द्वितीय विश्वामित्र-नदी संवाद का सन्दर्भ।

रोमशा स्वयं को 'गन्धारीणाम् इवाविका' गन्धार देश के अवि-शावक के समान कहती हैं।[1]

ऋग्वेद का यह एकमात्र सन्दर्भ है, जिसमें गान्धारों का उल्लेख है। 'गन्धारि जन' और 'गन्धार देश' की भौगोलिक-ऐतिहासिक स्थिति प्रमाणित है।

मैक्डोनल और कीथ के अनुसार यह भारत के उत्तर-पश्चिम में बसी एक जाति का नाम है।[2] अथर्ववेद में गन्धारियों का मूजवन्तों, अङ्गों और मगधों के साथ उल्लेख हुआ है।[3] इनमें से पूर्व की दो गन्धारि और मूजवन्त भारत की पश्चिमोत्तर सीमा और बाद की दो अङ्ग और मगध पूर्वी सीमा को व्यक्त करती हैं।

त्सिमर का विचार है कि गन्धारि लोग कुभा नदी के दक्षिण तट से सिन्धु नदी के पूर्वी तट तक फैले हुये थे। बाद में ये लोग पर्शियन साम्राज्य का एक अङ्ग हो गये।[4]

---

1. ऋग्वेद 1.126.7
2. वैदिक इण्डैक्स, भाग 1, पृष्ठ 243
3. अथर्ववेद 5.2.14
4. ऑन्टिनडिशे लेबेल 30. 31

गन्धार देश की भेड़ें अपने कोमल और श्रेष्ठ ऊन के लिये प्रसिद्ध थीं। इस ऊन का प्रयोग सोम रस को छानने के लिए छन्नी बनाने में भी किया जाता था।[1]

गान्धारियों से आर्यों के वैवाहिक और व्यापारिक सम्बन्ध थे। सिन्धुतटवासी राजा स्वनय भावयव्य का विवाह रोमशा से हुआ था, जो सम्भवतः गन्धारदेश की कन्या थीं। डॉक्टर अविनाशचन्द्र दास के मत में -

'ऋग्वेद संहिता के निर्माणकाल में आर्यगण पञ्चनद, काश्मीर, बाह्लीक, गन्धार (अफ़गानिस्तान), उत्तरी बिलोचिस्तान और पश्चिम हिमालय प्रदेशों में पूर्णतया बस चुके थे और यही भूखण्ड आर्यों का आदिनिवास था। इन्हीं आर्यों की एक शाखा धार्मिक मतभेद के कारण ईरान में जाकर बस गई थी।'

'मेरे विचार मे ऐसा जँचता है कि पञ्जाब और गन्धार में ही आर्यों की उत्पत्ति हुई थी। वही प्रदेश उनका आदि उत्पत्ति स्थल था। सृष्टिकाल में आर्यजाति यहीं बसती थी, तदुपरान्त भिन्न-भिन्न प्रदेशों, क्षेत्रों और भूखण्डों में फैली।'[2]

उपनिषदों के रचनाकाल में जब आर्य सभ्यता का विस्तार मध्य-पूर्व की ओर हुआ, तब गन्धार देश कुछ दूर हो गया, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् के सन्दर्भ से ज्ञात होता है -

स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् ....गन्धारानेवोपसंपद्येत् ।[3]

(गाँव-गाँव पूछता हुआ वह गन्धार देश पहुँचेगा।)

एक दूसरा महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ, जो आर्यों के आदि देश निर्धारण में सहयोगी होता है, वह है 'विश्वामित्र-नदी-संवाद'। इसके अन्तर्गत विपाशा (व्यास) और शुतुद्री (सतलज) नदी का उल्लेख - जो पर्वत के उत्सङ्ग से निकलकर समुद्र की ओर दौड़ती हैं -

प्रपर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥[4]

यद्यपि यह मन्त्र विश्वामित्र का है, किन्तु उन नदियों के सन्दर्भ में कहा गया है जो इस संवाद की ऋषि हैं, अतः सन्दर्भों के आधार पर अनेक विद्वानों ने आर्यों का आदि देश 'सप्तसिन्धु प्रदेश' माना है।

---

1. अव्ये ससार पवमान ऊर्मिणा। ऋग्वेद 9.86.12
2. ऋग्वेदोक्त आर्यनिवास का भौगोलिक विवरण 'गङ्गा' - पुरातत्त्व अङ्क, जनवरी 1993
3. छान्दोग्योपनिषद् 6.14.1
4. ऋग्वेद 3.33.1

डॉ. सम्पूर्णानन्द के मत में 'सिन्धु नदी से सरस्वती नदी के मध्य का भाग, जिसमें काबुल, गान्धार, काश्मीर और पञ्जाब सम्मिलित हैं ; सप्तसिन्धु (सात नदियों) का प्रदेश है और यही आर्यों का आदि देश है।'[1]

इस सप्तसिन्धु देश की सात नदियों के नाम थे - सिन्धु, विपाशा, शुतुद्री, वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाव), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इनके अतिरिक्त और भी नदियों- दृषद्वती, तृष्टामा, ससर्तू, रसा, श्वेती, कुभा, गोमती, मेहत्नू, क्रमू आदि उस प्रदेश में बहती थीं। 'रसा' का उल्लेख सरमा-पणि संवाद में हुआ है। रसा को पार कर सरमा पणियों के देश में पहुँची थी। ये सभी नदियाँ उक्त सात महानदियों में विलयित हो जाती थीं। अत: प्रधानता सात नदियों की ही थी, जिनके कारण वह प्रदेश 'सप्तसिन्धु' कहा गया। ऋग्वेद का यह सप्तसिन्धु प्रदेश अवेस्ता में 'हप्तहिन्द' के नाम से जाना गया है।

वैदिक संस्कृति का विस्तार

ऋग्वैदिक युग से प्रारम्भ हुई भारतीय वैदिक संस्कृति उत्तरोत्तर विस्तार को प्राप्त होती हुई सप्तसिन्धु, ब्रह्मर्षि देश, ब्रह्मावर्त, मध्यदेश, आर्यावर्त एवं जम्बूद्वीप अर्थात् भारतवर्ष नामक भूभाग पर फैली। यहाँ तक कि अपनी महान् जीवनीशक्ति के कारण इसने भारत की सीमाओं को पार कर 'बृहत्तर भारत' का निर्माण किया।

वैदिक संस्कृति के प्रथम निर्माता - आर्य

सभी पाश्चात्य और भारतीय विद्वान यह मानते हैं कि ऋग्वैदिक सभ्यता और संस्कृति के निर्माता आर्य थे। ऋग्वेद में 'आर्य' और 'अर्य' शब्द का प्रयोग अनेकशः हुआ है। 'विजीनीह्यार्यान् ये च दस्यवो'[2] में आर्य और आर्यविरोधी दस्युओं का स्पष्ट उल्लेख है। ऋषिकाओं के मन्त्रों में 'आर्य' शब्द का प्रयोग न होकर 'अरि' एवं 'अर्य' शब्द आता है, जो देव, श्रेष्ठ, उदार, ईश्वर आदि अर्थों में प्रयुक्त है -

1 **विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम**। (सभी देवता हमारे यज्ञ में आये।)[3]

2. **इरस्यति.... अर्यो वा पुष्टिमद्वसु**। (उदार के समान पुष्टि युक्त धन प्रदान करते हो।)[4]

3. **सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि**। (हे स्वामी, तुम श्रेष्ठ उपभोग योग्य धन को धारण करते हो।)[5]

---

1. आर्यों का आदि देश, डॉ सम्पूर्णानन्द, पृष्ठ 33-38
2. ऋग्वेद 1.50.8
3. ऋग्वेद 10.28.1
4. ऋग्वेद 10.86.3
5. ऋग्वेद 8.1.34

पत्नियाँ अपने पति के लिये 'आर्य' या 'अर्य' सम्बोधन का प्रयोग करती थीं। इस प्रकार आर्य श्रेष्ठता या गुणों का वाचक शब्द था, जो बाद में विशिष्ट प्रजाति (NORDIC) के लिए प्रयुक्त होने लगा।

आर्यविरोधी दस्यु, पणि और रक्षस्

इन्द्रादि देवों की स्तुति करने वाले आर्यों से मतवैभिन्न्य रखने वाले आर्य विरोधी जातियों का वर्णन भी स्त्री ऋषियों के मन्त्रों में हुआ है। ऐसे कुछ आर्यविरोधी वर्गों के नाम हैं - पणि, दस्यु एवं रक्षस् या राक्षस।

पणि

ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त (सरमा-पणि संवाद - 10.108) पणियों का विवरण देता है। इसके अतिरिक्त ऋषि अगस्त्यस्वसा का मन्त्र भी पणियों के लिए अभिव्यक्त हुआ है। ऋषि अपने मन्त्र में पणियों के लिए 'अराधस्' विशेषण का प्रयोग करती हैं। वेदों में 'रा' धातु दानार्थक है। अराधस् का अर्थ है - दान न देने वाले या यज्ञ न करने वाले। ऋषिका रथप्रोष्ठ परिवार के राजा असमाति को अराधस् पणियों पर आक्रमण कर उन्हें परास्त करने के लिए प्रेरित करती हैं।[1]

सरमा-पणि संवाद से पणियों के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि पणियों के नगर रसा नदी के दूसरे किनारे पर गिरि दुर्गों में बसे हुये थे। पणियों ने ऋषि अङ्गिरस की गायें चुराकर पर्वतों की गुफाओं में छिपा दिया था, जिनका पता लगानेके लिए इन्द्र ने सरमा को दूती बनाकर भेजा था। पणियों के पास अपार निधि थी। पणि इन्द्र को मान्यता नहीं देते थे अथवा उनके पराक्रम को जानते नहीं थे। पणि युद्धकौशल में निपुण थे, उनके पास अनेक तीक्ष्ण आयुध थे। शक्ति और धन के दर्प में पणि सर्वदा आर्यों से युद्ध करने के लिए तत्पर रहते थे -

कस्त एना अवसृजादयुध्व्यु तास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा।[2]

'पणि' शब्द व्यवहारार्थक 'पण्' धातु से निष्पन्न है , जिसका अर्थ है वणिक् या व्यापारी। यास्क इसी अर्थ में पणि शब्द का निर्वचन करते हैं - पणिर्वणिग् भवति।[3] ये स्थल एवं जल मार्ग से व्यापार करते थे। अनुचित साधनों से धन प्राप्त करने में भी इन्हें सङ्कोच नहीं था। अर्जित धन का स्वयं ही उपभोग करने वाले, देवों को हवि और पुरोहितों को दक्षिणा न देने वाले, मायावी शक्तियों से युक्त ये कृपण व्यापारी आर्यों की घृणा के पात्र थे।

---

1. ऋग्वेद 10.60.6
2. ऋग्वेद 10.108.5
3. निरुक्त 2.17

दस्यु

आर्य और दस्युओं में विरोध का मूल कारण धार्मिक विश्वास, नैतिक व्यवस्थायें और जीवनशैली थीं। दस्यु देवविरोधी एवं यज्ञविरोधी थे। उर्वशी के सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि आर्य शासक; दस्युओं के साथ चलने वाले युद्धों में देवों के सहायक होते थे। ऐसे पराक्रमी राजाओं को देवता दस्युवध के लिए अभिप्रेरित और संवर्धित करते थे -

महे यत् त्वा पुरूरवो रणाया अवर्धयन् दस्युहत्याय देवाः ।[1]

यास्क ने दस्यु शब्द का निर्वचन 'दस्' (उपक्षये) धातु से किया है, जिसका अर्थ है हानि पहुँचाना या क्षति करना -

दस्यतेः क्षयार्थात् उपदस्यन्ति अस्मिन् रसा, उपदासयति कर्माणि वा ।[2]

(जिनके कारण रस अथवा कृषि आदि कर्मों की क्षति होती है।)

वस्तुतः दस्यु जन-धन की क्षति करने वाले उपघातक तत्त्व हैं।

रक्षस्

देवविरोधी रक्षसों या राक्षसों का उल्लेख भी वेदों में हुआ है। रामायण और पुराणों में इन्हें अतीव शक्तिशाली, ऋषि विरोधी, मायावी जाति माना गया है। शिखण्डिनीद्वय सोम देव से राक्षसों को दूर करने की प्रार्थना करती हैं। यहाँ राक्षसों को देवों को न मानने वाला (अदेवं), अत्यधिक भक्षण करने वाला, पेटू (अत्रिणम्), सत्य और असत्य से युक्त मायावी, दोहरे व्यक्तित्व वाला कपटी (द्वयुम्) कहा गया है।[3]

इस प्रकार देव-संस्कृति और राक्षस-संस्कृति के विरोध का सूत्रपात ऋग्वैदिक काल से ही हो जाता है, जो रामायण आदि परवर्ती महाकाव्यों का मुख्य विषय है।

राष्ट्र-राज्य-ग्राम

राजनैतिक व्यवस्था से सम्बद्ध राष्ट्र शब्द का प्रयोग एक सुसंगठित, स्वतन्त्र, प्रभुशक्ति सम्पन्न देश के लिये हुआ है।

'राष्ट्र' शब्द 'राज्' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है - चमकना,

---

1. ऋग्वेद 10.95.7
2. निरुक्त 7.23
3. ऋग्वेद 9.104.6

शोभित होना, दीप्तिमान होना, प्रकाशित होना या आलोक बिखेरना। अनेक के मध्य प्रकाशित या शोभित वही होता है, जो सामान्य से अलग कुछ विशेष या सर्वातिशायी होता है अर्थात् राष्ट्र ; अपनी भौगोलिक, जातीय, नैतिक, सांस्कृतिक विशेषताओं से व्यक्त होकर उद्भासित या शोभित होता है।

ऋग्वेद की ऋषि जूहु ब्रह्मजाया के अनुसार राष्ट्र के नेतृत्व और रक्षा का दायित्व, बल-वीर्यसम्पन्न क्षत्रियों पर था -

राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ।[1]

वैदिक राष्ट्र का जन्म क्षत्रिय के ओज और पराक्रम से हुआ, किन्तु लोकमङ्गल-कारी राष्ट्र की संकल्पना तपोबल से ऋतसाप ऋषियों के अन्तःकरण में ही मूर्त हुई। यही वैदिक राष्ट्र का अन्य राष्ट्रों से वैशिष्ट्य था, अतः अथर्ववेद में कहा गया है -

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥[2]

ऐसा राष्ट्र देवों के लिये भी वन्दनीय हुआ। यद्यपि वेदों में इस राष्ट्र का कोई नाम नहीं दिया गया है ; तथापि इस देश के परवर्ती नामकरण - आर्यावर्त, भारतवर्ष एवं हिन्दुस्तान वेदों में प्राप्त सूत्रों के आधार पर ही हुये हैं।

वैदिक राष्ट्र का प्रथम अङ्ग भूमि या देश था, तो द्वितीय जन या प्रजा। जनता की आवाज़ 'वाणी या वाक्' राष्ट्र की शक्ति, अभिव्यक्ति और समृद्धि का हेतु मानी जाती थी ; जैसाकि ब्रह्मवादिनी वागाम्भृणी (वाक् के रूप में) कहती हैं -

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनाम् ।[3]

राष्ट्र की भूमि 'माता' के महिमामय पद से मण्डित होती थी, तो आकाश 'पिता' के गौरवमय अभिधान से।[4]

जन एवं जनपद

राष्ट्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण अङ्ग है - 'जन', जो इस धरती को जन्मभूमि या मातृभूमि की गरिमा देता

1. ऋग्वेद 10.109.3
2. अथर्ववेद 9.41.1
3. ऋग्वेद 10.125.3
4. 'भूमिर्माता पिता नभः।' लाक्षा का खिलसूक्त, ऋग्वेद 8.51 के पश्चात्।

है, जो एक विशिष्ट भूखण्ड या भौगोलिक इकाई को राष्ट्र की महिमा से मण्डित करता है। वस्तुत: शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप के समान ये अविभाज्य होते हैं। राष्ट्र की पहचान जन से होती है और जन की पहचान राष्ट्र से ; अत: ऐतरेय ब्रह्मण में कहा गया है -

राष्ट्राणि वै विशः ।

विश अर्थात् प्रजा या जन ही राष्ट्र है।[1] ऋग्वेद एवं परवर्ती वेदों में पाँच मानव-समूहों या जनों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। इन्हें पञ्चजना:[2], पञ्चमानवा:[3], पञ्चमानुषा:[4] आदि कहा गया है। सम्भवत: ये अनु, द्रुह्यु, तुर्वशु, पुरु और भरत हैं। सरस्वती, आपया और दृषद्वती नदियों के तट पर बसे हुये पराक्रमी भरतवंशियों के नाम पर ही परवर्ती युग में इस राष्ट्र को 'भारतवर्ष' कहा गया है।

इन्हीं जनों के निवास 'जनपद' कहे जाते थे। काशिकाकार ने ग्रामों के समूह को जनपद कहा है -

ग्रामसमुदायो जनपदः ।[5]

वैदिक साहित्य में निम्न जनपदों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं -

गन्धार या गन्धारि, केकय, मद्र, उशीनर, मत्स्य, कुरु, पाञ्चाल, काशी, कोशल, विदेह, मगध, अङ्ग एवं वङ्ग। गार्गी वाचक्नवी और याज्ञवल्क्य का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ विदेह में हुआ था। इस शास्त्रार्थ में काशी और पाञ्चाल के अनेक ब्रह्मवेत्ता सम्मिलित हुये थे। गार्गी ने अपने प्रश्नों की उपमा काशी और विदेह के वीरों द्वारा धारण किये गये तीक्ष्ण बाणों से दी है। इससे स्पष्ट है कि उपनिषदों के युग में काशी और विदेह के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे।

ग्राम एवं ग्रामणी

राज्य या राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई ग्राम थे। कई परिवार या कुल मिलकर 'ग्राम' कहे जाते थे। ग्राम कृषिक्षेत्र और गोधन से परिपूर्ण होते थे। ग्राम के विपरीत अरण्य या वन थे, जो वन्य पशुओं से परिपूर्ण होते थे। ग्राम के मुखिया की संज्ञा 'ग्रामणी' थी। वैदिक शासकों या राजाओं की भाँति ग्रामणी भी उदार ग्रामपालक हेते थे। प्रभूत दक्षिणा से ग्राम के जनों का भरण-पोषण करने वाले दक्षिणावान ग्रामणी ग्राम में प्रशंसनीय और आदर्श माने जाते थे -

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण 8.2.3
2. ऋग्वेद 3.37.9
3. तवेमे पृथिवी पञ्चमानवा:। अथर्ववेद 12.1.15
4. ऋग्वेद 8.9.2
5. काशिका 4.2.1

दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति ।[1]

ऋग्वैदिक सभ्यता का विकास ग्राम सभ्यता के रूप में हुआ, जो ग्राम और ग्रामप्रधान के महत्त्व को सूचित करता है।

राजा

राष्ट्र के संरक्षक नेता या शासक का अभिधान 'राजा' था। राष्ट्र की भाँति 'राजा' शब्द भी शोभनार्थक 'राज्' धातु से निष्पन्न है। ऋग्वेद में राजन् या राजा शब्द प्रभु या स्वामी [2], शोभायमान, प्रकाशमान आदि कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

वैदिक युग में राज्य संस्था या राजा का उदय राष्ट्र और जन की सुरक्षा, सह-अस्तित्व एवं सुख-शान्ति पूर्ण समृद्ध जीवन के लिये हुआ। ऋग्वेद में राजा या नेता के अभाव में राष्ट्र की दुर्दशा का वर्णन भी हुआ है।[4]

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवासुर संग्राम में असुरों से परास्त होने पर देवों ने निर्णय किया - 'हमारे पास राजा न होने के कारण, असुर विजयी होते हैं ; हम भी राजा का चुनाव करें।' सब इस निर्णय से सहमत हुये।[5]

ऋग्वेद के एक सन्दर्भ के अनुसार, सत्य और असत्य का विवेक करते हुये राष्ट्र के पालन हेतु राजा को राष्ट्र का अधिपति बनाया गया -

ऋतेन राजननृतं विविञ्चन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि ।[6]

अतः पराक्रम, वीर्य, युद्धकौशल, कर्तव्यनिष्ठा और सत्य के साथ ही लोकमङ्गल या प्रजारञ्जन की भावना राजा के मुख्य गुण थे। ऋग्वेद में वृत्र का वध करने वाले पराक्रमी योद्धा इन्द्र, प्रजा को नैतिक मर्यादाओं में बाँधने वाले कठोर शासक वरुण, ओषधियों के अधिपति सोम, लोकमङ्गलकारी कार्यों में निरत अश्विद्वय 'राजा' की पदवी से मण्डित हुये हैं। देवचरित एवं देवस्तुति की भाँति राजचरित एवं राजस्तुति भी ऋग्वेद का एक मुख्य विषय है।

---

1. ऋग्वेद 10.107.5
2. राजा मे वीर तन्वस्तदासीः। ऋग्वेद 10.95.5
3. समिद्धमानो अमृतस्य राजसि। ऋग्वेद 5.28.2
4. ऋग्वेद 10.124.4
5. राजानं कर्वामहा इति तथेति। ऐतरेय ब्राह्मण 1.1.14
6. ऋग्वेद 10.124.5

राजा के कर्तव्य

स्त्री ऋषियों के सूक्तों में वैदिक राजतन्त्र, शासन-व्यवस्था एवं राजा के कर्तव्यों के सम्बन्ध में कतिपय महत्त्वपूर्ण बिन्दु प्राप्त होते हैं।

राजा के निम्नलिखित मुख्य कर्तव्य माने गये थे -

(1) शत्रुओं और राष्ट्रविरोधी तत्वों का दमन करना -

इसके लिये पराक्रम का प्रदर्शन करते हुये शत्रु पर आक्रमण और उन्हें जीतना आवश्यक माना गया था। जैसा कि अगस्त्यस्वसा के निम्न मन्त्र से ज्ञात होता है -

अगस्त्यस्य नद्भ्यः सप्ती युनक्षि रोहिता।
पणीन् न्यक्रमीरभि विश्वान् राजन्नराधसः ॥[1]

'हे राजन्! लोहितवर्ण वाले तीव्रगामी अश्वों को रथ में जोतो। कभी दान न देने वाले कृपण (अराधस्) पणियों पर आक्रमण कर उन्हें परास्त करो।'

(2) राष्ट्र की रक्षा -

राष्ट्र की रक्षा राजा का मुख्य कर्तव्य था। यह क्षात्रतेज से ही सम्भव था। वैदिक युग में राष्ट्र का समस्त क्षत्रिय वर्ग निष्ठापूर्वक अपने इस कर्तव्य का पालन करता था।[2]

(3) प्रजा को धर्म के मार्ग पर चलाते हुये उनके योगक्षेम को सम्पादित करना -

राजा स्वयं धर्म-मार्ग पर चलते हुये अपनी प्रजा को भी उसी पथ पर चलने की प्रेरणा देते थे। 'यज्ञ' उस युग का प्रथम एवं मुख्य धर्म था। घर-घर में वेदियों में अग्नि प्रज्ज्वलित कर देवों के लिये हवि दी जाती थी -

प्रजा ते देवान हविषा यजाति ।[3]

(4) प्रजा का भरण-पोषण -

प्रजा के लिये सुख-समृद्धि एवं जीवन-यापन के साधनजुटाना राजा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण दायित्व

---

1. ऋग्वेद 10.60.6
2. ऋग्वेद 10.109.3
3. ऋग्वेद 10.95.18

था। असमर्थ-निर्धन वर्ग को प्रभूत दान-दक्षिणा के द्वारा जीवन-निर्वाह के योग्य बनाया जाता था। ऋषिका दक्षिणा की दृष्टि में राजा के इस कर्तव्य से ही उनकी 'नृपति' संज्ञा सार्थक होती थी -

तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय।[1]

(5) न्याय-व्यवस्था -

प्रजा को समुचित न्याय देना, जनविवादों को हल कर परस्पर समझौता कराना भी राजा का निर्धारित कर्तव्य था, जैसाकि जुहू ब्रह्मजाया के सन्दर्भ से ज्ञात होता है। बृहस्पति (ब्रह्म) द्वारा बिना किसी दोष के त्यागी गई पत्नी जुहू को शपथपूर्वक पुनः बृहस्पति को प्रदान किया गया तथा बृहस्पति के उस कार्य की निन्दा की गई -

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषे ....।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥[2]

(6) प्रजा को शिक्षा देकर अनुशासित करना -

पिता की भाँति प्रजा का पालन राजा का कर्तव्य माना गया था। इसके लिये व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करने वाली शिक्षा एवं अनुशासन आवश्यक था। स्वयं प्रजा भी यह अपेक्षा करती थी कि उनका शासक उन्हें अनुशासित करे। ब्रह्मवादिनी घोषा के वचनों से इसकी अभिव्यक्ति होती है -

पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्।[3]

शुक्ल यजुर्वेद में राजा के अधिकार और कर्तव्यों का निर्देश करते हुये कहा गया है -

'हे राजन्! यह तुम्हारा राष्ट्र है। तुम इस के नियंत्रक, पालक और धारक हो। तुम्हें यह राष्ट्र कृषि की वृद्धि, कल्याण, सम्पन्नता और प्रजा के पोषण के लिये दिया जाता है -

इयं ते राड् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।[4]

राष्ट्र के अभ्युदय और सर्वाङ्गीण विकास की कामना से ही राजा के कर्तव्यों का निर्धारण वैदिक साहित्य में सर्वत्र परिलक्षित होता है।

---

1. ऋग्वेद 10.107.18
2. ऋग्वेद 10.109.1,6
3. ऋग्वेद 10.39.6
4. शुक्ल यजुर्वेद 9.22

(7) दूत प्रणिधि

परराष्ट्र के सम्पर्क, शत्रुराष्ट्र एवं स्वराष्ट्र की गतिविधियों के ज्ञान के लिये दूतों और गुप्तचरों की नियुक्ति भी राजा का एक आवश्यक कर्तव्य माना गया था। वैदिक युग में स्त्रियाँ भी राजदूत जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त की जाती थीं।[1] स्वराष्ट्र में भी दूत सन्देशवहन का कार्य करते थे।[2]

(8) श्रेष्ठ विद्वानों की खोज एवं उनका सम्मान -

ऋग्वैदिक युग से ही राजाओं में यह कर्तव्यबोध का भाव परिलक्षित होता है। मन्त्रद्रष्टा, 'ऋतसाप' ऋषियों को प्रभूत दक्षिणा दिये जाने का वर्णन ऋग्वेद में अनेकशः हुआ है। उपनिषद् साहित्य में भी ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनमें राजाओं द्वारा श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता का वरण करते हुये उन्हें सम्मानित किया गया है। यह सम्मान ब्रह्मज्ञान, अध्यात्मविद्या और प्रज्ञाप्रकर्ष का था। ब्रह्मविदों की सभा में शास्त्रार्थ द्वारा श्रेष्ठ विद्वान का वरण किया जाता था। महर्षि याज्ञवल्क्य राजा जनक की सभा के श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता थे।[3]

पुरोहित

ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न, ऋत के ज्ञाता ऋषि राजा के पुरोहित हेते थे। 'पुरः हितः' अर्थात् मार्गदर्शक के रूप में आगे रखे गये पुरोहित[4] नीतिनिर्देशक होने के साथ ही समय-समय पर राजा को उचित परामर्श देते हुये राजा पर नियंत्रण भी रखते थे। योग्य पुरोहित का वरण या चयन राजा द्वारा किया जाता था। वैदिक अवधारणा के अनुसार वही राष्ट्र पावन एवं लोकमङ्गलकारी होता है, जहाँ क्षत्रिय का बल और ब्राह्मण की मेधा मिलकर कार्य करते हैं -

> **यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।**
> **तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषम् ...... ॥**[5]

शिक्षक, पथप्रदर्शक, ऋषि एवं धर्मगुरु के रूप में पुरोहित या पुरोधा राष्ट्र के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माने गये थे। ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरोहितों में वशिष्ठ और विश्वामित्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये भरत राजा सुदास के पुरोहित थे।[6]

---

1. ऋग्वेद 10.108.1
2. ऋग्वेद 10.109.3
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 3.20.1
4. ऋग्वेद 1.1.1
5. शुक्ल यजुर्वेद 20.25
6. ऋग्वेद 3.33

युद्ध में पुरोहित राजा के साथ जाते थे तथा उनकी रक्षा और विजय के लिये देवों की स्तुति करते थे।[1]

प्राकृतिक आपदाओं के समय पुरोहित स्तोत्रों से देवताओं को प्रसन्न कर राष्ट्र के विपत्-प्रतिकार में सहायक होते थे। राजा शान्तनु के पुरोहित देवापि ने भयङ्कर सूखे के समय यज्ञ द्वारा देवों को प्रसन्न कर वर्षा कराई थी तथा राष्ट्र को अकाल से बचाया था।[2]

पुरोहितों से राजा के विवाद एवं असहमति के सन्दर्भ भी ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। इक्ष्ववाकु वंश के रथप्रोष्ठ परिवार के राजा असमाति ने विवाद के कारण अपने पुरोहित गौपायनों को पद से पृथक् करते हुये किरात और आकुलि नामक मायावी असुरों को अपना पुरोहित बना लिया था, बाद में अगस्त्यस्वसा की प्रेरणा से राजा इनके मायावी प्रभाव से मुक्त हुये एवं उन्होने गौपायनों का पुनः पुरोहित पद पर वरण किया था।[3]

वैदिक युग से लेकर अद्यतन युग तक समग्र विश्व में पुरोहितों या धर्मगुरुओं का प्रभाव एवं महत्त्व अक्षुण्ण है। वैदिक विश्वास के अनुसार ही महाकवि कालिदास ने महर्षि वशिष्ठ के ब्रह्मतेज को रघुवंशी राजाओं के शासनकाल में प्रजा की सुख-शान्ति का कारण माना है।[4]

इस प्रकार वैदिक युग का राजतन्त्र निरङ्कुश राजतन्त्र या अधिनायकतन्त्र नहीं था। लोककल्याणकारी लोकतन्त्र ही राजतन्त्र का आदर्श था। परवर्ती संस्कृत वाङ्मय - महाभारत, रामायण एवं स्मृतिग्रन्थों में वर्णित राजधर्म का आदर्श वैदिक राजधर्म ही है।

राजा के वरण में स्त्रियों की भूमिका : महिषी, वावाता एवं परिवृक्ति

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाज के अर्द्धाङ्ग - स्त्रियों को सर्वाधिक महत्त्व और सम्मान वैदिक युग में ही प्राप्त हुआ है। राष्ट्र-नायक के वरण या चयन में स्त्रियों की भूमिका इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। ऋग्वेद से यह स्पष्ट है कि विश या प्रजा द्वारा राजा का वरण किया जाता था एवं राजा को राज्य एक 'निक्षेप' या 'धरोहर' के रूप में सौंपा जाता था।[5]

---

1. ऋग्वेद 7.18.13
2. यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्। ऋग्वेद 10.98.7
3. ऋग्वेद 10.60
4. पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः।
   यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद् ब्रह्मवर्चसम्॥ रघुवंश 1.63
5. आ त्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
   विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥ ऋग्वेद 10.173.1

अथर्ववेद[1] और ब्राह्मणग्रन्थों[2] में 'राजकर्तृ' और 'राजकृत' पदों का प्रयोग हुआ है, जो स्वयं राजा न होते हुये भी राजा के अभिषेक या वरण में सहायक होते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ये राजकर्ता ही राजा के सिंहासन पर अधिष्ठित होने की विधिवत् घोषणा जन के सम्मुख करते थे।[3]

तैत्तिरीय संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन 12 राजकर्ताओं या रत्नियों की सूची में तीन नाम राज-परिवार की स्त्रियों के हैं -

महिषी (पटरानी), वावाता (प्रिय रानी) एवं परिवृक्ति (निराकृत या उपेक्षित पत्नी)।[4] निश्चय ही इन्हें राजकार्य में भी अभिमत देने एवं सहयोग करने का अधिकार था।

जन संस्थाएँ : विदथ - सभा - समिति

वैदिक राष्ट्र में जन-वाणी को प्रतिनिधित्व देने के लिये जो संस्थाएँ थीं, उनके नाम थे - विदथ, सभा एवं समिति।

विदथ -

ऋग्वैदिक युग में; शासन-व्यवस्था में जन- भागीदारी के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था थी - 'विदथ'। ऋग्वेद में 'विदथ' का 122 बार उल्लेख हुआ है। 'विद्' धातु से 'अथ्' प्रत्यय लगाकर 'विदथ' शब्द निष्पन्न होता है। विद् धातु ज्ञान, विचार, लाभ और सत्ता आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है।[5] अर्थात् 'विदथ' वह स्थान था, जहाँ बैठकर लोग विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करते थे, जहाँ गम्भीर विषयों या समस्याओं पर विचार-विमर्श एवं निर्णय लिये जाते थे, जहाँ सामूहिक उत्पादन या लाभ (कृषि, मृगया, पशुपालन एवं युद्ध से प्राप्त) का वितरण होता था[6] तथा अस्तित्व की रक्षा के लिये सामरिक युद्ध, आक्रमण, परराष्ट्र नीति आदि से सम्बन्धित निर्णय लिये जाते थे। समाज या राष्ट्र-हित में कार्य करने वाले लोकनायकों की प्रशंसा और सम्मान भी विदथ में होता था।[7]

---

1. अथर्ववेद 3.5.7
2. शतपथ ब्राह्मण 3.4.1.7
3. ऐतरेय ब्राह्मण 8.17.5
4. तैत्तिरीय संहिता 1.8.9.1, तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.7.3.1
5. विद् ज्ञाने (अदादि 57), विद् सत्तायाम् (दिवादि 60), विद् विचारणे (रुधादि 13), विद्लृ लाभे (तुदादि 141)
6. त्वमंशो विदथे देवभाजयु:। ऋग्वेद 2.1.4
7. प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि। ऋग्वेद 1.162.1

बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ।[1]

(वीरपुत्रों से सम्पन्न हम विदथ में उच्चस्वर में दृढ़ता से अपनी बात कहें या बोलें।)

यह कामना ऋग्वेद के लगभग 21 मन्त्रों में प्राप्त होती है। विदथ धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं वैधानिक महत्त्व की संस्था थी। सामूहिक यज्ञ एवं धार्मिक उत्सवों का आयोजन विदथ में होता था।

विदथ के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि स्त्रियाँ भी विदथ की सदस्य होती थीं। विदथ में स्पष्ट शब्दों में अपना पक्ष या अभिमत प्रस्तुत करने की अभिलाषा वैदिक युग की स्त्रियों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। ब्रह्मवादिनी घोषा विदथ में लोगों के सम्मुख अश्विन देवों के लोकमङ्गलकारी कार्यों और पराक्रमों का वर्णन करती हैं।[2]

विवाह के पश्चात् भी स्त्रियाँ विदथ में भाग लेती थीं तथा उन्हें पति और परिवार का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता था -

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥[3]

वस्तुतः 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' की वैदिक भावना 'विदथ' के माध्यम से ही साकार होती थी।

सभा-समिति

'सभा' और 'समिति' नामक जन-संस्थाओं का उदय ऋग्वैदिक काल में ही हो चुका था, किन्तु इन्हें विशेष महत्त्व परवर्ती संहिताओं के काल में प्राप्त हुआ। अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति की कन्यायें कहा गया है अर्थात् ऐसी संस्थाएँ जो प्रजापालन या लोककल्याण के लिये राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत जन्मी थीं -

सभा च सा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।[4]

---

1. ऋग्वेद 2.20.9
2. पुराणा वां वीर्या प्रब्रवा जने। ऋग्वेद 10.39.5
3. ऋग्वेद 10.85. 26,27.
4. अथर्ववेद 7.12.1

समिति राष्ट्र के जनसमूह या विश का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था थीं, तो सभा चुने हुये अनुभवी ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्धों की संस्था -

सभेयो विप्रो भरते मतीधना ।[1]

राजा समिति में उपस्थित रहकर स्वयं जन-प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श करते थे तथा जन समस्याओं को सुनते थे ।[2]

समिति की सफलता का सूत्र साम्मनस्य और सद्भाव माना जाता था -

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।[3]

ऋग्वेद के एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ - मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सवाक्[4] के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ भी सभा में भाग लेती थीं।

शची पौलोमी के गर्वपूर्ण वचन - **अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी**[5] से उनकी नेतृत्वशक्ति और प्रखर वक्तृत्व कला पर प्रकाश पड़ता है, जो सभा अथवा समिति के सदस्यों का प्रमुख गुण माना जाता था।

सभा और समिति राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण रखने का कार्य भी करती थीं।

युद्ध : स्त्रियों का नेतृत्त्व - वीराङ्गनाएँ

भूमि, पशुधन, जीवन के साधन, प्रभुत्व और आर्यधर्म की रक्षा के लिये राजाओं में युद्ध होते थे। इन्द्र और वृत्र का प्रतीकात्मक युद्ध जल जैसी प्राकृतिक सम्पदा के लिये था[6], तो इन्द्र और पणियों का युद्ध गोधन के लिये।[7] वैदिक देवता इन्द्र का चित्रण ; सर्वत्र ओजस्वी, साहसी एवं महावीर के रूप में हुआ है।[8]

प्रधन (10.154.3), रण (10.95.7), समद (10.125.6) आदि युद्ध के अभिधान थे। अपने

---

1. ऋग्वेद 2.24.13
2. राजनः समिताविव। ऋग्वेद 10.97.6
3. ऋग्वेद 10.191.3
4. ऋग्वेद 1.167.3
5. ऋग्वेद 10.159.2
6. ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद्विसिन्धून्। ऋग्वेद 4.18.7
7. मह इच्छन्ती पणयो निधीन् वः। ऋग्वेद 10.108.2
8. त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। ऋग्वेद 10.153.2

राष्ट्र के लिये युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ते हुये प्राण त्यागना स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला पुण्य कार्य था।[1]

वैदिक विश्वास के अनुसार अपने पुरोहितों को दक्षिणा देने वाले राजा देवकृपा से युद्ध में शत्रुसेना को जीत लेते थे -

भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता ।[2]

वीराङ्गनाएँ

यह आर्यभूमि पुरातनकाल से ही अनेक वीराङ्गनाओं की जननी रही है। इतिहास साक्षी है कि वैदिक युग से लेकर अद्यतन युग तक अनेक वीर नारियों ने 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की उक्ति को सार्थक करते हुये अपने साहस ओर पराक्रम से न केवल शत्रु को परास्त किया है, अपितु इस पृथिवी पर शासन भी किया है। भारतराष्ट्र के स्वतन्त्रता संग्राम में भी वे पुरुषों से पीछे नहीं रही हैं।

वैदिक युग की स्त्रियाँ जिस प्रकार यज्ञ आदि कार्यों में पति की सहधर्मचारिणी होती थीं, उसी प्रकार एक वीराङ्गना के रूप में संग्राम में भी पति की सहगामिनी बनती थीं -

सहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।[3]

वीर स्त्रियाँ युद्ध में सेना का नेतृत्व भी करती थीं। ऐसी एक वीर नारी थीं खेल राजा की पत्नी विश्पला। युद्ध में एक पैर खो देने वाली विश्पला को अश्विनों ने कृत्रिम जङ्घा से युक्त कर चलने योग्य बनाया था।[4]

इसी प्रकार मुद्गलानी ने असुरों से युद्ध कर सहस्रों गौओं को मुक्त कराया था -

रथीरभूद् मुद्गलानी गविष्टौ अजयत् सहस्रम् ।[5]

ऋग्वेद में इन्द्रपत्नी इन्द्राणी अपने पराक्रम का उद्घोष स्वयं करते हुये कहती हैं -

वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते ।[6]

---

1. ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ...,ताँश्चिदेवापि गच्छतात्। ऋग्वेद 10.154.3
2. ऋग्वेद 10.107.11
3. ऋग्वेद 10.86.12
4. ऋग्वेद 10.39.8
5. ऋग्वेद 10.102.2
6. ऋग्वेद 10.86.10

तैत्तिरीय संहिता में इन्द्राणी को सेना की देवता कहा गया है -

इन्द्राणी वै सेनायै देवता ।[1]

तो अथर्ववेद में अजेया और अधृष्या -

इन्दाण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता ।[2]

वीर स्त्रियाँ जनहित के लिये युद्ध करती थीं और पराक्रमी वीरों का सहयोग भी। जैसा कि वागाम्भृणी कहती हैं -

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोमि ...... ।[3]

भारतीय हिन्दू धर्म में असुरों का संहार करने वाली देवी दुर्गा की अवधारणा वैदिक युग की इन्हीं वीराङ्गनाओं की देन है।

सेना के अङ्ग

वैदिक युग में सेना के तीन मुख्य अङ्ग थे - रथी, अश्वारोही एवं पदाति। राजा, सेनापति आदि रथ पर आरोहण कर युद्ध करते थे। रथ में अनेक तीव्रगामी अश्व युक्त किये जाते थे। वीर योद्धा के लिये 'रथी' 'महारथी' आदि संज्ञाएँ सेना के इसी अङ्ग से विकसित हुई हैं। उपनिषद् युग में वैदिक संस्कृति का विस्तार पूर्व की ओर होने पर 'गज' भी सेना का अङ्ग बन गये। वज्र[4], धनुष-वाण[5], पाश[6] आदि अस्त्रों का प्रयोग युद्ध में होता था। युद्ध के देवता इन्द्र का शस्त्र वज्र था। सामान्य रूप से वध का साधन होने के कारण शस्त्र को ही 'वध'[7] कहा जाता था।

ऐतिहासिक सन्दर्भ

वैदिक राष्ट्र का एक गौरवशाली इतिहास रहा है; भले ही तिथिक्रमवार उसका विवरण; आज प्राप्त न होता हो। वस्तुतः राजनीति और राज्यव्यवस्था इतिहास रूपी वृक्ष के ही फल हैं। सभ्यता और संस्कृति

---

1. तैत्तिरीय संहिता 2.2.8.1
2. अथर्ववेद 18.3.1
3. ऋग्वेद 10.125.6
4. ऋग्वेद 3.33.6
5. ऋग्वेद 10.125.6
6. ऋग्वेद 10.85.24
7. ऋग्वेद 4.18.7

की सनातन परम्परा भी इतिहास के गर्भ से ही जन्म ले कर निरन्तर विकसित एवं परिवर्धित होती है। वैदिक इतिहास की संरचना में नारियों का योगदान दो रूपों में परिलक्षित होता है -

प्रथम - वे स्वयं इतिहास का अङ्ग बनीं एवं

द्वितीय - उनके सूक्त अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सन्दर्भों को संजोए हुये हैं।

ऋग्वेदकालीन शासकों में सुदास, पुरुमीढ, त्रसदस्यु आदि प्रसिद्ध नाम हैं। यद्यपि इन स्वनामधन्य पराक्रमी शासकों के सन्दर्भ स्त्री ऋषियों के सूक्तों में नहीं हैं, तथापि अन्य राजाओं से सम्बद्ध प्रसिद्ध घटनाओं के उल्लेख की दृष्टि से ब्रह्मवादिनी घोषा के दोनों सूक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये सूक्त अश्विन् देवों के लोकोपकारी कार्यों के प्रसङ्ग में अनेक ऐतिहासिक नामों का विवरण देते हैं। अन्य सूक्तों में भी कुछ नाम आते हैं -

1. पुरुमित्र - राजा पुरुमित्र की कन्या शुन्ध्युव को अश्विन् देवों ने अपने रथ पर बैठाकर, सुरक्षित रूप से उसके पति विमद के समीप पहुँचाया था।[1]

2. पेदु - अश्विन् देवों ने राजा पेदु को 99 अश्वों के साथ एक शुभ्रवर्ण का उत्तम अश्व प्रदान किया था, जिससे वे शत्रुओं के लिए अजेय हुये थे -

युवं श्वेते पेदवेश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम्।[2]

3. कुत्स - पराक्रमी राजा कुत्स ने इन्द्र का सख्यप्राप्त किया था। दस्युओं और असुरों के विरुद्ध अभियान में इन्द्र और कुत्स एक ही रथ पर आरोहण करते थे।[3]

4. वश - शत्रुओं से पराजित होते हुये वश नामक राजा की अश्विन् देवों ने सहायता की थी।[4]

5. वध्रिमती - राजपुत्री वध्रिमती के पति नपुँसक थे । इन्होने पुत्र-प्राप्ति की आकाँक्षा से अश्विन् देवों की स्तुति की, अश्विनों की कृपा से इनके पति को पुँसत्व और वध्रीमती को हिरण्यहस्त नामक पुत्र प्राप्त हुआ था -

युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरन्धये।[5]

---

1. ऋग्वेद 10.39.7
2. ऋग्वेद 10.39.10
3. ऋग्वेद 10.40.6
4. ऋग्वेद 10.40.7
5. ऋग्वेद 10.39.7

6. स्वनय भावयव्य - स्वनय भावयव्य का राज्य सिन्धु तट पर स्थित था। ये अत्यन्त दानशील शासक थे। बृहस्पति-पुत्री रोमशा का इनसे विवाह हुआ था।[1]

7. असङ्ग प्लायोगि - देवशाप से पुँसत्वहीन हुये थे। पत्नी शश्वती की सेवा और तप से पुनः पौरुष प्राप्त किया था।[2]

8. असमाति - रथप्रोष्ठ परिवार के राजा असमाति का सम्बन्ध उस प्रसिद्ध इक्ष्ववाकु वंश से था[3], जिसमें दिलीप, दशरथ एवं श्रीराम जैसे प्रसिद्ध शासक हुये थे।

9. पुरूरवा - इडा या इला के पुत्र पुरूरवा अपने समय के अत्यन्त पराक्रमी शासक थे। मातृ-नाम से इन्हें 'ऐल' कहा गया है।[4] अप्सरा उर्वशी से इनका प्रेम एवं वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध आख्यान के रूप में विकसित हुआ है। पुरूरवा देवासुर संग्राम में देवों के सहयोगी एवं मर्त्य होते हुये भी अपने श्रेष्ठ कर्मों से मृत्युबन्धु (अमृत) हुये थे।[5]

10. विदेहराज जनक - उत्तर वैदिक युग के इतिहास पुरुषों में एक प्रख्यात नाम है - विदेह जनपद के राजा जनक का। इनका उल्लेख शतपथब्राह्मण[6], जैमिनीय ब्राह्मण[7], कौषीतकि उपनिषद्[8] एवं बृहदारण्यक उपनिषद्[9] में विशेष रूप से हुआ है। जनक महर्षि याज्ञवल्क्य, श्वेतकेतु आरुणेय एवं काशिराज अजातशत्रु के समकालीन थे। ब्राह्मण युग में कुरु-पाञ्चाल आर्षधर्म और संस्कृति के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित था, किन्तु उपनिषद् युग में राजा जनक के समय विदेह आध्यात्मविद्या का केन्द्र बना। उपनिषद् युग की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी गार्गी का महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ विदेहराज जनक की सभा में बहुदक्षिण यज्ञ के अवसर पर हुआ था।

इस प्रकार आज से सहस्रों वर्ष पूर्व के राजनैतिक-ऐतिहासिक दुर्लभ प्रसङ्गों को संजोने का महनीय कार्य समाज के अर्द्धाङ्ग अर्थात् स्त्रीजाति ने किया है।

---

1. ऋग्वेद 10.126
2. ऋग्वेद 10.1.34
3. ऋग्वेद 10.60.1
4. ऋग्वेद10.95.18
5. ऋग्वेद 10.95.7.18
6. शतपथ ब्राह्मण 11.3,1,2
7. जैमिनीय ब्राह्मण 1.19
8. कौषीतकि उपनिषद् 4.1
9. बृहदारण्यक उपनिषद् 3.1.1

3. सामाजिक संरचना

- वर्ण
- आश्रम
- पुरुषार्थ
- परिवार एवं पारिवारिक सम्बन्ध
- विवाह
- स्त्री के नाना रूप एवं सामाजिक स्थिति
- स्त्री के अधिकार एवं कर्तव्य

3. सामाजिक संरचना

वैदिक युग के समाजनिर्माता स्त्री-पुरुषों ने जिस सामाजिक संरचना का सूत्रपात किया था, वही किञ्चित् परिवर्तन के साथ आज भी इस भारत राष्ट्र में विद्यमान है।

समाज की प्रथम इकाई मानव है। जिस प्रकार व्यष्टि का समन्वित रूप समष्टि है, उसी प्रकार व्यक्ति का समन्वित रूप समाज है। 'समम् अजन्ति जना अस्मिन् इति' - इस व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ के अनुसार 'समाज' वह संस्था है; जिसमें सभी मनुष्य समवेत भाव से; एक साथ मिलकर समान लक्ष्यों की ओर अग्रसर होते हैं या गति करते हैं।

यज्ञसंस्कृति पर आधारित वैदिक समाज परस्पर सख्य, सौहार्द और साम्मनस्य पर बल देने वाला, मर्यादाओं और नैतिक नियमों में बँधा हुआ, सभी के लिए सुख-समृद्धि और अभ्युदय की कामना करने वाला समाज था; जिसमें समाज के प्रति सामूहिक एवं व्यक्तिगत कर्तव्यबोध की भावना भी निहित थी।

भारतीय समाज के सङ्घटक तत्वों और संस्थागत आधारों का स्वरूप निर्धारण ऋग्वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो चुका था। सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति और समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए गुण और योग्यता के आधार पर कार्यविभाजन अर्थात् वर्ण-व्यवस्था, मानवजीवन के लक्ष्यों का निर्धारण अर्थात् पुरुषार्थ, आयु और देहावस्थाओं के अनुरूप व्यक्तिगत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए क्रमिक प्रयास अर्थात् आश्रम-व्यवस्था, व्यक्ति की शुद्धि, परिष्कार एवं गुणाधान अर्थात् संस्कार, मानवीय सम्बन्धों की पहचान एवं परस्पर सहयोग की भावना अर्थात् परिवार, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति एवं सृष्टिचक्र का अनुवर्तन अर्थात् विवाह आदि सामाजिक उपादान; बीजरूप में ऋग्वेद में ही प्राप्त होते हैं। भले ही 'वर्ण', 'आश्रम', 'पुरुषार्थ', 'संस्कार' आदि शब्द यहाँ अपने रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त नहीं हैं; तथापि इनका परवर्ती विकास ऋग्वैदिक आधार पर हुआ है।

वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित सामाजिक संरचना के सूत्रों को निम्न रूपों में देखा जा सकता है·

वर्णव्यवस्था

'वर्ण' शब्द 'वृञ्' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है - वरण करना या चुनना - वर्णो वृणोतेः ।[1] व्यक्तिगत योग्यता या अभिरुचि के अनुसार कर्म या वृत्ति का वरण वर्ण शब्द का प्रारम्भिक अर्थ था। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में स्पष्ट रूप से वर्णचतुष्टय की उत्पत्ति का उल्लेख है -

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत ।।[2]

विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय), उरू से वैश्य एवं पाद से शूद्र उत्पन्न हुये। वस्तुतः विराट् पुरुष के चार अङ्गों से क्रमशः उत्पन्न ये चार वर्ण भारतीय समाज रूपी शरीर के चार अङ्ग थे, जिनसे यह समाज-पुरुष जीवन्त, सार्थक एवं जीवनलक्ष्यों की प्राप्ति में समर्थ हुआ है। ये चारों वर्ण क्रमशः ज्ञान या विद्या, रक्षा, श्रम एवं सेवा के प्रतीक थे। 'सहस्रशीर्षा, सहस्रपात्' वह विराट् पुरुष विराट मानव-समाज का भी प्रतिनिधि था।

परवर्ती श्रुतियों यथा यजुर्वेद -

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ।।[3]

एवं अथर्ववेद [4] ने भी इस वर्णव्यवस्था का समर्थन किया है।

स्त्री ऋषियों के सूक्तों में निम्नलिखित तीन वर्णों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं -

1. ब्राह्मण -

यह समाज-पुरुष का उत्तमाङ्ग माना गया है। 'ब्रह्म' अर्थात् मन्त्रों के द्रष्टा एवं प्रवक्ता होने के कारण इस वर्ण की संज्ञा 'ब्रह्म' 'ब्रह्मा' या 'ब्राह्मण' थी। वाग्देवी की असीम कृपा से ऋत को अधिगत कर समाज का यह ज्ञानसम्पन्न वर्ग 'ब्रह्म' पद का अधिकारी हुआ था, जैसा कि ब्रह्मवादिनी वागाम्भृणी कहती हैं -

---

1. निरुक्त 3.2
2. ऋग्वेद 10.90.12
3. यजुर्वेद 18.48
4. अथर्ववेद 19.62.1

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।[1]

सूर्या के अनुसार दिव्य शक्तियों के ऐसे रहस्य जिन्हें सामान्य मनुष्य नहीं जान सकते; इस वर्ग को परिज्ञात थे -

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ।[2]

सृष्टि के रहस्यों, काल की गति और ऋतुचक्र के भी ये ज्ञाता थे -

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।[3]

ऋग्वैदिक युग से ही विवाह जैसे पवित्र संस्कार को सम्पन्न कराने में इस वर्ण की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। तदनुसार नववधू के वस्त्रों को शुद्ध करने का कार्य ब्राह्मण का था -

सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति ।[4]

ये नववधू को परिवार के हित के लिये उपदेश या शिक्षा भी देते थे -

सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात् स इद्वाधूयमर्हति ।[5]

विवाह के अवसर पर वधू द्वारा ब्राह्मणों को दान दिया जाता था।

ब्रह्मभ्यो विभजा वसु ।[6]

इस वर्ग में से ऐसे कुछ ब्राह्मण जो तपोबल से मन्त्रों का साक्षात्कार करते थे; 'ऋषि' कहे जाते थे किन्तु ऋषित्व ब्राह्मण वर्ग तक ही सीमित नहीं था। क्षत्रिय यहाँ तक कि शूद्र भी ऋषि पद को प्राप्त कर सकते थे। दीर्घतमस् ऋषि के पुत्र कक्षीवान दासी के पुत्र होते हुये भी ऋक्मन्त्रों के द्रष्टा एवं राजा थे।[7]

---

1. ऋग्वेद 10.125.5
2. ऋग्वेद 10.85.3
3. ऋग्वेद 10.85.16
4. ऋग्वेद 10.85.35
5. ऋग्वेद 10.85.34
6. ऋग्वेद 10.85.29
7. बृहद्देवता 4.11

उनकी पुत्री राजकन्या घोषा ब्रह्मवादिनी थीं।[1] तथा घोषा के पुत्र सुहस्त्य घौषेय भी ऋक्मन्त्रों के द्रष्टा होने के कारण ऋषित्व एवं ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुये थे।[2]

ऐतरेय ब्राह्मण के स्रष्टा महीदास ऐतरेय भी इतरा नामक दासी के पुत्र थे। इसी ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के द्रष्टा शूद्र ऋषि कवष ऐलूष को ब्रह्मवित् के रूप में मान्यता प्राप्त हुई थी।

ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन् दास्याः पुत्रःकितबोऽब्राह्मणः कथं नो मध्य दीक्षिष्टेति ... ते वा ऋषयोऽब्रवन् विदुर्वा इमादेवाः।[3]

एक बार ऋषि सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे। उस समय कवष ऐलूष उनके मध्य आकर बैठ गये। उन्हें देखकर ऋषियों ने कहा - यह दासी का पुत्र अब्राह्मण हमारे मध्य कैसे बैठ सकता है ? किन्तु जब उनकी विद्वत्ता का ज्ञान हुआ, तब ऋषिगण विस्मय के साथ बोले, 'यह तो महान् विद्वान् है, देवता भी इसे जानते हैं।' तब कवष ऐलूष को ऋषि के रूप में समुचित सम्मान दिया गया।

छान्दोग्योपनिषद् में निबद्ध 'सत्यकाम जाबाल' प्रसङ्ग भी इसी तथ्य का प्रमाण है। यौवनकाल में अनेक पुरुषों की परिचर्या करने वाली परिचारिका (गणिका) जबाला के पुत्र सत्यकाम न केवल बहुत बड़े ब्रह्मिष्ठ बने, अपितु अपनी माता के नाम से 'जाबाल' के रूप में विश्रुत भी हुये थे।

अभिप्राय यह है कि वैदिक युग में वर्णव्यवस्था कर्मगत थी, जन्मगत नहीं। परिवार के सभी सदस्यों को योग्यता एवं अभिरुचि के अनुसार वृत्ति (कर्म) के वरण या चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इसका सर्वाधिक प्रबल साक्ष्य ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में प्राप्त होता है -

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना
नानाधियो वसूयवो.....।[4]

ऋषि अङ्गिरस कहते हैं 'मैं मन्त्रद्रष्टा कवि हूँ। मेरे पिता भिषक् (वैद्य) एवं मेरी माता चक्की पीसने वाली हैं। अलग-अलग अभिरुचि और योग्यता वाले (नानाधियो) हम धनप्राप्ति के लिये (वसूयवो) पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं।'

इस प्रकार एक ही परिवार के सदस्य कर्मणा ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र हो सकते थे।

---

1. ऋग्वेद 10.39.40
2. ऋग्वेद 10.41
3. ऐतरेय ब्राह्मण 2.3.11.
4. ऋग्वेद 9.112.3

स्त्री ऋषियों की दृष्टि में ऋषि या ब्राह्मण का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य था - उनका ऋतविषयक ज्ञान, ऋत के संरक्षण और संवर्धन का प्रयास -

ये चिद्धि पूर्वं ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि ।[1]

देवों और मनुष्यों के मध्य सम्पर्क के सूत्र ये ऋषि ही थे। ऋषि तपोबल से दिव्य शक्तियों से सख्य प्राप्त कर दैवी अनुभाव और कृपा को मर्त्यो तक पहुँचाते थे।

उपनिषद् युग में सत्यनिष्ठा को ब्राह्मण का विशेष गुण माना गया था। हारिद्रुमत गौतम ने सत्यकाम के पिता का नाम ज्ञात न होने पर भी उनकी सत्यनिष्ठा से उन्हें ब्राह्मण मानते हुये ब्रह्मचर्य की दीक्षा एवं ब्रह्मविद्या प्रदान की थी।[2] इस सत्यनिष्ठा की शिक्षा और संस्कार उन्हें उनकी माता जबाला ने दिये थे।

यज्ञीय कर्मकाण्डों का अनुष्ठाता ब्राह्मणवर्ग ही होता था। पुरोहित या ऋत्विजों के रूप में यजमान (यज्ञकर्ता) द्वारा इनका वरण किया जाता था। उषस्तिचाक्रायण की कथा से ज्ञात होता है कि कुरुदेश के राजा द्वारा अपने यज्ञ में; मुख्य ऋत्विज के रूप में उनका वरण किया गया था एवं उन्हें प्रभूत दक्षिणा दी गई थी।[3]

केवल दक्षिणा लेना ही नहीं, अपितु दक्षिणा देना भी इनका धर्म माना गया था जैसाकि 'दक्षिणासूक्त' की द्रष्ट्री ऋषिका कहती हैं -

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहु:.....यः प्रथमो दक्षिणया रराध ।[4]

ब्रह्मविद्या सम्बन्धी शास्त्रार्थों में विजयी होकर भी ब्रह्मवेत्ता ऋषि प्रभूत धन-सम्पत्ति के स्वामी बनते थे। प्रसिद्ध ब्रह्मविद् याज्ञवल्क्य ने शास्त्रार्थ में विदेह तथा कुरु-पाञ्चाल आदि जनपदों से समागत अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु, उषस्त चाक्रायण, कहोल और गार्गी आदि ब्रह्मिष्ठों को शास्त्रार्थ में परास्त कर ऐसी एक सहस्र गौयें प्राप्त की थीं ; जिनके श्रृङ्ग स्वर्ण से मढ़े हुये थे।[5]

अध्यापन या शिक्षणकार्य भी ब्राह्मणवर्ग का ही दायित्व था। गुरुओं के आश्रम में; दूर-दूर से ब्रह्मचारी पहुँचते थे और शिक्षा प्राप्त करते थे। अध्यात्मविषयक शङ्काओं के समाधान के लिये अनेक प्रौढ़

---

1. ऋग्वेद 1.179.2
2. नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये। छान्दोग्योपनिषद् 4.4.4
3. छान्दोग्योपनिषद् 1.11.3
4. ऋग्वेद 10.107.6
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 3.1.1-3.9.28

शिष्य तथा समाज के प्रतिष्ठित वर्ग भी इनके पास पहुँचते थे। राजर्षि प्रवाहण जैवलि, अश्वपति कैकेय, काश्यराज अजातशत्रु आदि अन्तेवासी बनकर महर्षियों से ब्रह्मविद्या के रहस्यों को अधिगत करते थे।

परवर्ती स्मृतिग्रन्थों में ब्राह्मणवर्ण के जो कर्तव्य या धर्म निर्धारित किये गये हैं-

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥[1]

अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह अर्थात् दान देना और लेना; इनका निर्धारण वैदिक युग में हो चुका था।

2. क्षत्रिय

वर्णचतुष्टय के अन्तर्गत दूसरा महत्त्वपूर्ण वर्ण - क्षत्रिय था। यदि ब्राह्मणवर्ण की श्रेष्ठता ज्ञान के कारण थी[2], तो क्षत्रिय की शक्ति, साहस, शौर्य और वीर्य के कारण।[3] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि प्रारम्भ में ब्रह्म अकेला था, अत: कोई भी विभूतियुक्त कार्य करने में असमर्थ था, अत: उसने श्रेयरूप अर्थात् श्रेष्ठरूप की रचना की। यह ब्रह्म का प्रशस्तरूप 'क्षत्र' था। देवों के अधिपति इन्द्र, जलचरों के स्वामी वरुण, ब्राह्मणों के राजा सोम एवं पशुपति रुद्र अधिपति होने के कारण 'क्षत्र' हैं ; अत: क्षत्र से श्रेष्ठ कोई नहीं है।[4]

क्षत्र अथवा क्षत्रिय के धर्म एवं कर्तव्य का निर्धारण स्त्री ऋषियों के सूक्तों में स्पष्ट परिलक्षित होता है। क्षत्रिय का कर्म शासन, समाज और राष्ट्र का रक्षण था। ब्रह्मजाया जुहू क्षत्रियों के इस महनीय कर्तव्य को रेखाङ्कित करते हुये कहती हैं -

राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य।[5]

क्षत्रियों के वीर्य एवं राष्ट्रप्रेम से ही राष्ट्र सुरक्षित होता है। युद्ध में शत्रुओं को जीतना[6], प्रजा को

---

1. मनुस्मृति 1.88
2. विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठम्। मनुस्मृति 2.115
3. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम्॥ भगवद्गीता 18.43
4. तच्छ्रेयोरूपमसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवता क्षत्राणीन्द्रोवरुण: सोमो रुद्र:...। तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति...। बृह. 1.4.11
5. ऋग्वेद 10.109.3
6. ऋग्वेद 10.107.11

धर्मकार्य में प्रवृत्त करना[1], प्रजा को न्याय देना[2], यज्ञ करना और दान देना इनका धर्म माना गया था। क्षत्रिय की एक संज्ञा 'राजन्य' भी थी।[3]

उपनिषद्युगीन समाज में क्षत्रिय राजा शस्त्रविद्या में पारङ्गत एवं प्रजारक्षक होने के साथ ही ब्रह्मविद्या जैसे शास्त्रों के भी मर्मज्ञ होते थे। महर्षि उद्दालक आरुणि और श्वेतकेतु ने पाञ्चालनरेश प्रवाहण जैवलि से पञ्चाग्निविद्या का ज्ञान प्राप्त किया था।[4] इसी प्रकार काश्यराज अजातशत्रु ने आचार्य दृप्तबालाकि गार्ग्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था।[5] अपने ब्रह्मविषयक ज्ञान एवं तप से जनक जैसे क्षत्रिय राजा ऋषि पद को प्राप्त हुये थे।

3. वैश्य

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वैश्य वर्ग का स्पष्ट उल्लेख होते हुये भी अन्यत्र 'वैश्य' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। वैश्य के स्थान पर यहाँ 'विश' शब्द प्राप्त होता है, जो सामान्य मानव-समूह, जन या जनता का वाचक है। इसी अभिप्राय से घोषा ने 'विश' पद का प्रयोग किया है।[6]

शतपथ ब्राह्मण[7] एवं बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार पृथ्वी की रक्षा करने वाले 'क्षत्र' की उत्पत्ति के पश्चात् भी ब्रह्म धनोपार्जन करने वाले वर्ग के अभाव में विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुये; तब उन्होने वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेवा, मरुत आदि देवताओं की सृष्टि की -

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति।[8]

कृषि जिसे परवर्ती युग में वैश्य का कर्म माना गया, वह ऋग्वैदिक युग में सभी वर्गों या सामान्य जन का कार्य था। अत्रि ऋषि की पुत्री ब्रह्मवादिनी अपाला का साक्ष्य इसका प्रमाण है। अपाला अपने पिता के खेत को उर्वर बनाने के लिये इन्द्र से प्रार्थना करती हैं।[9]

---

1. ऋग्वेद 10.95.18
2. ऋग्वेद 10.109.6
3. अथर्ववेद 5.17.9
4. छान्दोग्योपनिषद् 5.3.7
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.1.1- 2.1.15
6. विशो न कुत्सो। ऋग्वेद 10.40.6
7. शतपथ ब्राह्मण 14.4.2
8. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.12
9. ऋग्वेद 8.80.5

वैदिक युग में कृषि, पशुपालन, वाणिज्य-व्यवसाय आदि कार्यों अर्थात् समाज की अर्थव्यवस्था से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुये गण, वर्ग या समूह को 'विश' या 'वैश्य' कहा गया।

4. शूद्र

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में शूद्र की उत्पत्ति का उल्लेख होते हुये भी शूद्र का अन्यत्र उल्लेख नहीं है। दास, दस्यु, अनार्य आदि वर्गों के सन्दर्भ अवश्य प्राप्त होते हैं, किन्तु यह वर्ग आर्येतर होते हुये भी कर्मणा शूद्र नहीं था। वस्तुतः श्रमसाध्य, कष्टकर शिल्प, सेवा आदि कार्यों में संलग्न वर्ग की संज्ञा 'शूद्र' थी।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार 'क्षत्र' और 'विश' की उत्पत्ति के बाद भी जब ब्रह्म विभूतियुक्त कार्य करने में असमर्थ हुये, तब उन्होंने शूद्र की उत्पत्ति की -

> **स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच।**[1]

'पूषा देवता'; या सेवा, शिल्प एवं श्रमिक के कार्यों में संलग्न वर्ग 'शूद्र' कहा गया। कृषि एवं उत्पादन के कार्य में यह वर्ग विश का सहयोगी होता था।

इन चारों वर्णों के माध्यम से अपनी योग्यतानुसार कर्म का वरण करते हुये वैदिक समाज सर्वाङ्गीण उन्नति एवं जीवनलक्ष्यों तथा पुरुषार्थों को प्राप्त करने में समर्थ हुआ था। यह एक लचीली व्यवस्था थी, जिसमें एक वर्ण से दूसरे वर्ण में प्रवेश या वर्णान्तरण सम्भव था।

स्मृतियों के युग में यह वर्णव्यवस्था रूढ़ होकर 'जाति' में परिवर्तित हो गई, जिसने सामाजिक प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करते हुये कई विकृतियों को जन्म दिया।

वर्तमान युग में बीसवीं शताब्दी में एवं इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में रूढ़ जाति-व्यवस्था में परिवर्तन के साथ योग्यतानुसार कर्म एवं वृत्ति में परिवर्तन सम्भव हुआ है। इसके साथ ही भारतीय समाज पुनः वैदिक व्यवस्था का अनुसरण कर रहा है, जिसमें प्रकृति के अनुरूप कर्तव्यपथ का निर्धारण एवं कर्मनिष्ठ जीवन ही मानवजीवन का लक्ष्य रहा है।

* * *

---

1. बृहदकारण्योपनिषद् 1.4.13

आश्रमव्यवस्था

'आ' उपसर्गपूर्वक श्रम् धातु से घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न आश्रम शब्द का अर्थ है - वह आश्रय जहाँ ठहरकर; मनुष्य श्रम करता हुआ अपने जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के साथ ही जीवनयात्रा के लक्ष्यों को प्राप्त करता है। भारतीय संस्कृति में मानव की आदर्श आयु सौ वर्ष मानकर जीवन को चार भागों में विभक्त करते हुये; ब्रह्मचर्यादि जिन चार आश्रमों की व्यवस्था स्मृतिग्रन्थों में देखी जाती है, उनमें से कुछ के बीज ऋग्वेद में एवं अन्य के स्रोत परवर्ती वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं।

पूर्ण आयु प्राप्त करने की या 100 वर्ष तक जीने की कामना ऋग्वेद में अनेकशः अभिव्यक्त हुई है, यथा - सूर्या के विवाह सूक्त में -

'दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ।'[1]

यह शतायु ही आज तक भारत में दीर्घायु का आदर्श है। ऋगवेद में; चार आश्रमों में जीवनकाल का विभाजन नहीं है। ब्रह्मचर्य आश्रम का अप्रत्यक्ष सङ्केत एवं गृहस्थ आश्रम का विशद विवरण प्राप्त होता है। इस प्रकार ऋग्वैदिक समाज बहुत कुछ आज के समाज के सदृश ही है, जिसमें वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम नहीं हैं।

1. ब्रह्मचर्य

'ब्रह्म' या ज्ञान की चर्या (उपासना) अर्थात् विद्याध्ययन का काल ब्रह्मचर्य आश्रम है। ब्रह्मचर्य संयमपूर्ण जीवन एवं स्त्रीसंसर्ग के परित्याग का समय है। इसी अवधारणा के साथ 'ब्रह्मचारी' शब्द का प्रयोग ब्रह्मजाया जुहू द्वारा किया गया है -

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।

यहाँ बृहस्पति को पत्नी परित्याग के पश्चात् संयमपूर्ण जीवन बिंताने के कारण 'ब्रह्मचारी' कहा गया है अर्थात् ब्रह्मचर्य पवित्र जीवन और दिव्य अनुभाव के अर्जन या देवताओं के साथ सादृश्य को प्राप्त करने का काल है।

सामान्य युवक-युवती विवाह से पूर्व तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये विद्या, आयुष्य और वर्चस् (तेज) का अर्जन करते थे। विवाह सूक्त में युवती कन्या को वरुण के जिस पाश से मुक्त करने की बात कही

---

1. ऋग्वेद 10.85.39

गई है, वह ब्रह्मचर्य का ही पाश है।[1] इस प्रकार ब्रह्मचर्य जो ऋग्वेद में एक नैतिक मर्यादा के अर्थ में प्रयुक्त है, परवर्ती युग में एक विशिष्ट आश्रम बन गया है।

वेदचतुष्टय के अन्तर्गत सर्वप्रथम अथर्ववेद में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्याश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा परिलक्षित होती है। आचार्य उपनयन संस्कार के माध्यम से शिष्य को अपने ज्ञानरूपी गर्भ में धारण करता हुआ ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान करता था -

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।[2]

कन्यायें भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये विद्या अर्जन करती थीं तथा विद्या-अध्ययन के पश्चात् युवा पति को प्राप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं -

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।[3]

ब्रह्मचर्याश्रम की यह ब्रह्मचर्या और इससे उपार्जित ज्ञान, तेज और तप ही मानव व्यक्तित्व को सशक्त बनाता हुआ परवर्ती जीवन को सफल, सहिष्णु, संघर्षक्षम और सार्थक करता था। यही वह पूँजी थी, जिससे समाज और राष्ट्र का निर्माण होता था -

1. ब्रह्मचारी लोकांस्तपसा पिपर्ति ।[4]
2. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।[5]
3. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।[6]

वैदिक वाङ्मय का अन्तिम भाग उपनिषद् इसी ब्रह्मचर्य की पृष्ठभूमि में संग्रथित है। सत्यकाम जाबाल कथा से ज्ञात होता है कि शिष्य ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करने की इच्छा से स्वयं गुरु के समीप पहुँचते थे। अपने गोत्र का परिचय देते हुये समिधा हाथ में लेकर इस आश्रम में दीक्षित होते थे -

---

1. ऋग्वेद 10.85.24
2. अथर्ववेद 11.5.3
3. अथर्ववेद 11.5.18
4. अथर्ववेद 11.5.4
5. अथर्ववेद 11.5.17
6. अथर्ववेद 11.5.19

'स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्चर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति।' ....'समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये।'[1]

गुरु के समीप रहने के कारण शिष्य की संज्ञा 'अन्तेवासी' थी। विद्याध्ययन के साथ ही गोपालन, अग्निचर्या, गुरु की सेवा-सुश्रूषा, आश्रम के कार्यों में सहयोग तथा तप शिष्य या ब्रह्मचारी के कर्तव्य माने गये थे - जैसाकि सत्यकाम[2] एवं उनके शिष्य उपकोसल के सन्दर्भ में ज्ञात होता है -

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार।..तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलानग्नीन्परिचचारीन् ..।[3]

तपोवनों में विकसित आश्रमों ने ही गुरुशिष्य परम्परा के माध्यम से ज्ञान की महान धरोहर को समग्र विश्व के लिये विकसित एवं संरक्षित किया है।

2. गृहस्थ

ऋग्वेद में गृहस्थाश्रम को विशेष महत्त्व दिया गया है। यहाँ इस आश्रम की संज्ञा 'गार्हपत्य' है अर्थात् गृहपति के साथ गृहपत्नी बनकर वैवाहिक जीवन जीने और पति-पत्नी के धर्मपालन का काल गार्हपत्य आश्रम है। विवाह के समय वर-वधू को आशीर्वाद देते हुये कहा जाता है कि वे जागरूक होकर गृहस्थ धर्म का पालन करें, एक-दूसरे से वियुक्त न हों। नाती-पोतों के साथ क्रीड़ा करते हुये गृह में ही रहकर सम्पूर्ण आयु का उपभोग करें -

अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।[4]
इहैव स्तं मा वि यौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥[5]

गृहस्थधर्म का उद्देश्य परिवार के सभी सदस्यों का समुचित भरण-पोषण, कामेच्छाओं की पूर्ति, सन्तान की प्राप्ति एवं पालन तथा देवों, पितरों एवं समाज के प्रति कर्त्तव्य का निर्वाह था। गार्हपत्य को ऋत की योनि और सुकृत का लोक माना गया था क्योंकि सृष्टि-व्यवस्था के संचालक नियमों का अनुपालन और सृष्टि-प्रवाह की चिरन्तनता गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत ही सम्भव थी। गृहस्थ रूप में ही स्त्री-पुरुष यज्ञों

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 4.4.3,5
2. तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति। छान्दोग्योपनिषद् 4.4.5
3. छान्दोग्योपनिषद् 4.10.1,2.
4. ऋग्वेद 10.85.27
5. ऋग्वेद 10.85.42

के माध्यम से देवों को हवि प्रदान करते हुये धर्म और सुकृत का अर्जन करते थे, अत: कन्या को पतिगृह भेजते हुये कहा जाता था -

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधमि ।[1]

गृहस्थ रहते हुये ही सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करने की प्रार्थना अथवा कामना से स्पष्ट है कि सामान्य जन के लिये वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों का प्रचलन ऋग्वैदिक युग में नहीं था।

ऋग्वैदिक सङ्कल्पना के अनुसार पति-पत्नी वृद्धावस्था तक गृहस्थ धर्म का पालन करते थे -

गृभ्णामि सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।।[2]

ऋषि आश्रमों की वनों में स्थिति एवं ऋषियों के त्यागपूर्ण जीवन के आधार पर परवर्ती वैदिक साहित्य में वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों का विकास हुआ।

3. वानप्रस्थ

'वानप्रस्थ' का अर्थ है गृहस्थाश्रम का परित्याग कर वन की ओर प्रस्थान करना। सांसारिक माया-मोह का त्याग कर निष्काम भावसे परमतत्त्व की साधना में लीन अरण्यवासी ही गृहस्थों के लिये वानप्रस्थ आश्रम के आदर्श बने। ऋग्वेद में कहा गया है -

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत् ।[3]

पुरातनकाल से ही पर्वत की उपत्यकाएँ एवं नदियों के सङ्गम आत्मचिन्तन के केन्द्र थे। इन केन्द्रों और अरण्यों में ही वानप्रस्थी तप:साधना के द्वारा परमतत्त्व का अन्वेषण करते थे।

ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति... ।[4]

छान्दोग्योपनिषद् के इस सन्दर्भ से उपनिषदों के युग में वानप्रस्थ आश्रम के अस्तित्व का ज्ञान होता है। जाबाल उपनिषद् में भी वानप्रस्थ का सन्दर्भ आता है -

---

1. ऋग्वेद 10.85.24
2. ऋग्वेद 10.85.36
3. ऋग्वेद 10.85.28
4. छान्दोग्योपनिषद् 5.10.1

स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् । गृही भूत्वा वनी भवेत् ।[1]

4. संन्यास

मानवजीवन के इस चतुर्थ और अन्तिम आश्रम का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - 'सम् न्यास' अर्थात् सम्यक् न्यास या परित्याग । यह जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक भौतिक संसाधनों का ही न्यास या परित्याग नहीं है, अपितु कुटुम्ब, बन्धु-वान्धव एवं आत्मीय जनों तथा उनके प्रति ममत्व भावना का भी नि:शेषेण परित्याग है ।

समस्त कामनाओं से रहित होकर एकमात्र परमतत्त्व का चिन्तन एवं आत्मिक अभ्युत्थान ही इसका लक्ष्य है ।

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार शुद्धसत्व वाले यति; संन्यास से सांसारिक बन्धनों से युक्त होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं -

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था: संन्यासयोगाद्यतय: शुद्धसत्वा: ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता: परिमुच्यन्ति सर्वे ।[2]

बृहदारण्यकोपनिषद् का याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद इसी संन्यास या प्रव्रज्या की पृष्ठभूमि में निबद्ध है । जब महर्षि याज्ञवल्क्य ने आत्मोत्थान के लिये; गृहस्थाश्रम का परित्याग कर संन्यासाश्रम में प्रवेश का निश्चय किया; तब अपनी समस्त सम्पत्ति को उन्होने अपनी दोनों पत्नियों - मैत्रेयी और कात्यायनी में बाँटना चाहा -

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य: प्रव्रजयिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ।[3]

किन्तु मैत्रेयी ने भी अमृत की प्राप्ति के लिये संन्यास को स्वीकार किया था ।

* * *

---

1. जाबालोपनिषद् 4
2. मुण्डकोपनिषद् 3.2.6
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.5.2

पुरुषार्थ

मानव द्वारा अपने जीवन में प्राप्त करने योग्य लक्ष्यों की संज्ञा पुरुषार्थ है। यद्यपि 'पुरुषार्थ' इस नाम से जीवन के लक्ष्यों का निर्धारण ऋग्वेद में नहीं है, तथापि ये लक्ष्य वैदिक स्तोत्रों में देवताओं की स्तुति और आवाहन के साथ ही गुँथे हुये हैं। मानवमात्र के लिये ये प्राप्तव्य हैं - धर्म, अर्थ, काम और अमृत।

1.धर्म

मनुष्य धर्मप्राण हों, देवों को नियमानुसार यज्ञ भाग प्रदान करते रहें, देवों के वीर्य और लोकोपकारक कार्यों का गान करें, घर-घर में यज्ञ वेदी पर अग्निदेव समिद्ध हों, तीनों सवनों में अग्नि में हविष्य की आहुति दी जाये। मनुष्य भोज (दानशील) हों, पुरोहितों को दक्षिणा और निर्धनों को दान दिया जाये। सत्य और मधुर वाणी बोली जाये। सदाचार और नैतिक मर्यादाओं का पालन हो। यही धर्म है। यही सुकृत है। यह धर्म दैनन्दिन जीवन का अङ्ग हो; यह कामना स्त्री ऋषियों के सूक्तों में सर्वत्र परिलक्षित होती है। जैसे कि शिखण्डिनीद्वय कहती हैं -

सखाय आ निषीदत पुनानाय प्रगायत।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये॥[1]

घोषा के मन्त्रों में भी यही भाव है -

दोषावस्तोर्हविषा निह्वयामहे।[2]

वे स्तोत्रों को उसी प्रकार धारण करती है, जैसे लोग अच्छी सन्तानों को धारण करते हैं -

नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः।[3]

2. अर्थ

अर्थ, वित्त या धन की प्राप्ति सर्वदा से ही मानव-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य रहा है। स्त्री

---

1. ऋग्वेद 9.104.1
2. ऋग्वेद 10.40.4
3. ऋग्वेद 10.39.14

ऋषियों के सूक्तों में अर्थ या धन के लिये रयि[1], द्रविण[2], वसु[3], मघ[4] आदि पदों का प्रयोग हुआ है। भौतिक सुख-समृद्धि के साधन यथा अन्न-पेय, स्वर्ण-रूप्य, गो-अश्व, रथ, वेश्म, वस्त्राभूषण आदि 'अर्थ' के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। ब्रह्मवादिनी दक्षिणा के अनुसार धर्म-पूर्ण आचरण और दान से मनुष्य इन सभी को प्राप्त कर सकता है -

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम् ।
दक्षिणान्नं वनुते ....
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम् ।[5]

ऋग्वैदिक ऋषि सांसारिक सुख-भोगों से सर्वथा निस्पृह वीतरागी नहीं हैं। वे भी प्रशंसनीय धन की एवं 'मघवान्' होने की कामना करते हैं। जैसे कि ऋषि घोषा की अश्वि देवों के प्रति प्रार्थना है -

यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम् ।[6]

विश्ववारा के अनुसार अग्नि देवता अपने यजमानों के लिए सभी प्रकार की सम्पत्तियों को धारण करते हैं -

विश्वं स धत्त द्रविणम् ।[7]

यह द्रविण या धन ही सुखी जीवन जीने और यज्ञादि धार्मिक विधि-विधानों को सम्पन्न करने का साधन माना गया था। यह धन 'चारु' अर्थात् सञ्चरणशील हो, सभी को समृद्धि और पुष्टि प्रदान करे; ऐसी कामना सभी ऋषिकायें करती हैं।

3. काम

काम मानव जीवन का एक शाश्वत सत्य, शारीरिक व मनोवैज्ञानिक आवश्यकता और सृष्टि का सनातन बीज है, जिसका अपलाप सम्भव नहीं है। सामाजिक मर्यादाओं के अन्तर्गत इस पुरुषार्थ को प्राप्त

---

1. ऋग्वेद 10.40.13
2. ऋग्वेद 5.28.2
3. ऋग्वेद 9.104.4
4. ऋग्वेद 10.39.2
5. ऋग्वेद 10.107.7,10
6. ऋग्वेद 10.39.2
7. ऋग्वेद 5.28.2

करने के लिए ही विवाह संस्था का उद्‌भव हुआ है। स्त्री ऋषियों ने काम के नाना रूपों और पक्षों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

काम के अनियन्त्रित उद्दाम रूप का चित्रण यम-यमी संवाद में हुआ है, जहाँ 'काममूता' यमी काम के आवेश में उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक का विवेक खोकर अपने यमज भाई यम के प्रति प्रणयनिवेदन करते हुये शारीरिक सम्पर्क की इच्छा करती हैं।[1]

इस सृष्टि-बीज की अनुल्लङ्घनीयता को रेखाङ्कित करते हुये लोपामुद्रा कहती हैं -

ये चिद्धि पूर्वं ऋतसाप आसन्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः ॥[2]

प्राचीनकाल में जो ऋत के रहस्यों को अधिगत कर लेने वाले, ऋत के प्रवक्ता ऋषि हुये हैं, वे भी काम के पार नहीं जा पाये हैं। उन्होने भी अपनी पत्नियों से अभिगम किया है।

इसी सूक्त में महर्षि अगस्त्य ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर सङ्केत किया है। उनकी दृष्टि में काम-आवेग नद के उस प्रबल प्रवाह के समान है, जिसको अधिक समय तक अवरुद्ध करना सम्भव नहीं है। उसके निकास का मार्ग न मिलना अनेक विकृतियों को जन्म देता है -

नदस्य मा रुधतः काम आगन्।[3]

काम-तुष्टि या अभिगमेच्छा सभी स्त्री-पुरुषों के मन में रहती है। अनेक वीर पुत्रों की जननी इन्द्राणी चाहती हैं कि इन्द्र उनके साथ वृषभ की भाँति रमण करे -

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्।[4]

किन्तु इसके साथ यह भी स्मरणीय है कि काम कोई यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं है। कामसन्तुष्टि और आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब स्त्री और पुरुष दोनों ही मन से इसकी आकाँक्षा रखते हों। स्त्री रूपी क्षेत्र में बीजवपन की सार्थकता तभी है, जब यह अभिगम शरीर मात्र का न होकर मन और प्राणों का भी हो; इसीलिए ऋषि प्रार्थना करते हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.10.7
2. ऋग्वेद 1.179.2
3. ऋग्वेद 1.179.4
4. ऋग्वेद 10.86.15

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।[1]

ऋग्वैदिक संस्कृति जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करने वाली संस्कृति रही है, जो धर्म और अर्थ के साथ काम को भी एक पुरुषार्थ मानती है। अमृत अन्तिम पुरुषार्थ है। इन तीनों सोपानों पर क्रमशः आरोहण करते हुये ही वहाँ तक पहुँचा जाता है। हमारी ब्रह्मवादिनी ऋषियों ने जीवन के इस सत्य को अनुभव किया है। काम यहाँ निन्दित, हेय या परित्याज्य नहीं है, अपितु सृष्टि का सुन्दर आधार है। अमर्यादित काम अशिव हो सकता है, अतः काम को धर्म से जोड़ने एवं मर्यादाओं में बाँधने के लिए ही विवाह संस्था का विकास हुआ है। काम का सर्वथा परित्याग और निन्दा श्रमणसंस्कृति की देन है, आर्य संस्कृति की नहीं है। आर्यों की जीवन-दृष्टि, भौतिक समृद्धि एवं आत्मिक उपलब्धियों के प्रति एक सन्तुलित आशावादी दृष्टि है, जिसमें जगत् और जगत् के सुखों का तिरस्कार नहीं, अपितु अभिनन्दन या स्वागत है। अतः काम सुख और सम्भोग पर भी यहाँ खुली चर्चा है।[2]

4. अमृत

मानवीय क्रिया-कलापों और सुख-समृद्धि के उपभोग का आश्रय यह जगत् मृत्युलोक है और इस मृत्युलोक का वासी मनुष्य मरणधर्मा या 'मर्त्य' है। इसके विपरीत द्युलोक के वासी देव अमर्त्य हैं। अतः देवचरित का अनुकरण और देव-कृपा की प्राप्ति मानवजीवन का आदर्श है। देवों के समान अमृत हो जाना ही ऋग्वैदिक आर्यों का अन्तिम पुरुषार्थ है। मृत्यु से मुक्ति चाहते हुये भी जीवन मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण की कामना यहाँ नहीं है। देवों के समान स्वर्गलोक के अनन्त सुखों का उपभोग ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है-

इति त्वा देवा इम आहुरैल यथेमे तद्भवसि मृत्युबन्धुः ।
प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्गं उ त्वमपि मादयासे ॥[3]

इस अन्तिम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है धर्म से, जैसाकि ऋषि दक्षिणा कहती है -

उच्चादिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण ।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः ॥[4]

ऋग्वेद का यह अमृतत्व ही औपनिषदिक जीवन-मुक्ति या मोक्ष का आधार बना है। उपनिषदों के वचन इसके प्रमाण हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.85.37
2. ऋग्वेद 10.86.6,16; 10.95. 4-5; 10.10.11
3. ऋग्वेद 10.95.18
4. ऋग्वेद 10.107.2

1. अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।[1]

2. यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ।[2]

ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी भी इसी 'अमृत' की कामना करती हैं। वे उस धन -सम्पत्ति और वैभव को तुच्छ समझती है, जिससे अमृत की प्राप्ति नहीं हो सकती -

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।[3]

* * *

1. ईशोपनिषद् 11
2. कठोपनिषद् 6.8
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.3

परिवार एवं पारिवारिक सम्बन्ध

परिवार सामाजिक संरचना की वह प्रमुख इकाई है, जिसने मानव के सर्वाङ्गीण विकास और पुरुषार्थों की प्राप्ति को सम्भव बनाया है। यह मानवजीवन का वह नाभिक है, जिससे जुड़कर व्यक्ति समाज में अपनी पहचान बनाता है। शिशु से युवा होकर समाज का उत्तरदायी सदस्य बनता है, अर्द्ध से पूर्ण होकर सृष्टि की सनातन प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है।

परिवार का जन्म स्त्री-पुरुष के पारस्परिक काम आकर्षण से हुआ, किन्तु विवाह के पवित्र बन्धन में बँधकर एवं सन्तति के पालन-पोषण के दायित्व से जुड़कर इसने एक सुदृढ़ संस्था का रूप ले लिया। क्रमशः माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन आदि सम्बन्धों की पहचान और नामकरण के साथ परिवार; सामाजिक विकास की आधारशिला बना। परिवार और पारिवारिक सम्बन्धों की व्यापक अवधारणा ऋग्वैदिक युग में ही विकसित हो चुकी थी। ऋग्वेद के विवाहसूक्त में पारिवारिक सम्बन्धों की पहचान नववधू की दृष्टि से की गई है।

संयुक्त परिवार

नववधू जिस पतिगृह में गृहपत्नी या साम्राज्ञी के रूप में पहुँचती है, उसके सदस्य हैं - पति या गृहपति, भावी पुत्र (कम-से-कम दस), सास-श्वसुर (पति के माता-पिता), देवर और ननद (पति के अविवाहित भाई-बहन) जैसाकि सूर्यपुत्री सूर्या कहती है -

दशास्यां पुत्रानां धेहि पतिमेकादशं कृधि।
साम्राज्ञी श्वशुरे भव साम्राज्ञी श्वश्वां भव।
ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधि देवृषु ॥[1]

परिजन (नौकर-चाकर) और पशु भी इस परिवार के सदस्य माने जाते थे। इन सब को अघोर (सौम्य)दृष्टि से देखने एवं इनके प्रति कल्याणकारिणी होने की प्रार्थना भी की गई है -

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।[2]

---

1. ऋग्वेद 10.85.45-46
2. ऋग्वेद 10.85.44

नववधू के गृहपत्नी और सम्राज्ञी बनने की भावना से स्पष्ट है कि पुत्र के विवाह के साथ एक नये परिवार का जन्म होता था, जिसमें विवाहित पुत्र ही परिवार का प्रमुख होता था। माता-पिता एवं भाई-बहनों की देखभाल के दायित्व एवं अधिकार पिता से पुत्र को एवं माता से पुत्रवधू को हस्तान्तरित होते थे। प्रौढ़ या वृद्ध सास-श्वशुर पारिवारिक दायित्वों से मुक्त होकर नाती-पोतों के साथ आनन्दपूर्ण जीवन बिताते थे एवं आवश्यकता पड़ने पर अपना मार्गदर्शन एवं अभिमत देते थे।[1]

अन्य कुटुम्बी या बान्धव 'सजाति' या 'ज्ञाति' कहे जाते थे। विवाह, यज्ञादि उत्सवों में सभी आत्मीय बन्धु सम्मिलित होते थे एवं मिलकर कार्य सम्पादित करने के साथ ही अपनी शुभ-कामनाएँ और आशीर्वाद भी देते थे; जैसा कि सूर्या के विवाह से ज्ञात होता है -

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्मै दत्त्वायाऽथास्तं विपरेतन ॥[2]

इस प्रकार एक आदर्श संयुक्त परिवार की सङ्कल्पना ऋग्वेद के विवाह सूक्त में प्राप्त होती है।

एकल परिवार

एकल परिवार की झलक भी ऋग्वेद में देखी जाती है। शची पौलोमी अपनी महिमा का बखान करते हुये अपने परिवार में जिन सदस्यों की गणना करती हैं, उनमें पति-पत्नी और पुत्र-पुत्री ही आते हैं।[3] इसी प्रकार इन्द्रस्नुषा वसुक्रपत्नी के मन्त्र; जिसमें एक यज्ञीय आयोजन में श्वशुर इन्द्र के उपस्थित होने एवं भोजन के पश्चात् पुनः अपने घर चले जाने का उल्लेख है[4]; से एकल परिवारों के सङ्केत भी मिलते हैं।

इन सूक्तों के माध्यम से ऋग्वेदकालीन पारिवारिक व्यवस्था को निम्न रूपों में देखा जा सकता है [5]-

गार्हपत्य आश्रम में प्रवेश करने वाला पुरुष गृह का प्रमुख या 'गृहपति' होता था। उसकी पत्नी गृहपत्नी या 'गृहस्वामिनी' कही जाती थी। परिवार के सभी सदस्यों के योगक्षेम का दायित्व इन्हीं का समझा जाता था।

परिवार की पूर्णता सन्तति से होती थी। सन्तति की सामान्य संज्ञा 'प्रजा' थी।[6] पुत्रसन्तान ही काम्य थी। कम-से-कम दस पुत्रों की कामना आर्य परिवार करते थे।

1. ऋग्वेद 10.85.42
2. ऋग्वेद 10.85.33
3. ऋग्वेद 10.159.3
4. ऋग्वेद 10.28.1
5. ऋग्वेद 10.85.26
6. ऋग्वेद 10.85.27

सूनु[1] तनय[2], वीर[3] आदि पुत्र की संज्ञायें थीं। पुत्र की 'तनय' संज्ञा विस्तार अर्थ वाली 'तन्' धातु से सार्थक होती थी क्योंकि वह पिता के वंश, यागादि धर्म, यश, सम्पत्ति आदि का विस्तार करने वाला माना जाता था। वीर पुत्र माता-पिता के लिए गौरव के विषय होते थे।

'पिता' की एक संज्ञा 'तात'[4] थी। यह भी 'तन्' धातु से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता था, क्योंकि वह अपने पिता के वंश आदि का विस्तार कर चुका होता था। पुत्र पिता के प्रेमपात्र होते थे -

नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः ।[5]

पुत्र पिता के संरक्षण एवं शिक्षा में बढ़ते थे।[6] पुत्र द्वारा माता-पिता का सम्मान शिष्टाचार का अङ्ग था।[7]

पुत्र या पुत्री के पुत्र (नाती) की संज्ञा 'नप्ता'[8] या 'नपात'[9] थी। पुत्र-पौत्रों के साथ हँसते-खेलते जीवन जीने की कामना आर्य करते थे -

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।[10]

पत्नी पति को 'अर्य' कहकर सम्बोधित करती थी।[11] पुत्रवधू के लिए पति के पिता या श्वशुर सम्मान्य होते थे। सम्भवतः पुत्रवधू श्वशुर से पर्दा करती थी एवं सीधे संवाद या बातचीत नहीं करती थी।[12]

* * *

---

1. ऋग्वेद 10.39.14
2. ऋग्वेद 10.39.14
3. ऋग्वेद 10.86.9
4. ऋग्वेद 8.80.5
5. ऋग्वेद 10.39.14
6. ऋग्वेद 10.39.6
7. ऋग्वेद 10.85.14
8. ऋग्वेद 10.85.42
9. ऋग्वेद 10.10.1
10. ऋग्वेद 10.85.42
11. ऋग्वेद 8.1.34, 10.86.10
12. ऋग्वेद 10.28.1

विवाह

ऋग्वैदिक युग में विवाह एक पवित्र संस्कार के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका था। स्त्री-पुरुष के अनियन्त्रित विवाहेतर सम्बन्ध को सामाजिक स्वीकृति नहीं थी। विवाह संस्था एवं वैवाहिक विधि-विधानों को मन्त्रबद्ध कर शाश्वत रूप प्रदान करने का कार्य ब्रह्मवादिनी सूर्या ने किया। आज से लगभग 12 हज़ार वर्ष पूर्व सूर्या के 'विवाह सूक्त' से विवाह का जो रूप निर्धारित हुआ था, वही किञ्चित् परिवर्तन या परिवर्द्धन के साथ सम्पूर्ण विश्व के हिन्दू समाज में मान्य है।

कोशग्रन्थों में विवाह संस्कार के लिये परिगणित नाना अभिधान भी बीजरूप में सूर्या के 'विवाह सूक्त' में ही प्राप्त होते हैं। ये अभिधान हैं -

(1) विवाह -

'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'विवाह' शब्द का अर्थ है - 'विशिष्टं वहनम्' - विशेष रूप से वहन करना या ले जाना अर्थात् विवाह वह संस्कार या विधान है, जिसमें कन्यादान के पश्चात् वधू को वरपक्ष द्वारा गृहस्थ धर्म के पालन के लिये ससम्मान पितृगृह से पतिगृह को ले जाया जाता है। जैसाकि सूर्या कहती हैं -

अश्विना त्वा प्रवहतां रथेन।[1]

अश्विन् देवता वधू को रथ पर आरोहण करा कर पतिगृह को ले जायें। 'वधू' शब्द का निर्वचन भी 'उह्यते पितृगृहात् पतिगेहम्' के रूप में की गई है।

(2)उद्वाह

'उद्वाह' शब्द में 'उत्' उपसर्ग उत्कृष्ट वहन या उत्कर्ष साधक वहन का सूचक है, क्योंकि कन्या विवाह संस्कार के माध्यम से 'वधू' पद को प्राप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती है, जो सूर्या की दृष्टि में ऋत की योनि और अमृत का लोक है -

आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व।[2]

---

1 ऋग्वेद 10.85.26

2. ऋग्वेद 10.85.20

(3) परिणय

'परि' उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु से निष्पन्न 'परिणय' में भी वधू को पितगृह से पतिगृह को ले जाने का भाव है। इस अभिधान का मूल भी निम्न मन्त्र में प्राप्त होता है -

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्या ।[1]

यह विवहन, उद्वहन या परिणयन कोई सामान्य क्रिया नहीं है। यह है - कन्या को 'वधू', वधू से 'गृहपत्नी', जाया और जननी की गरिमा प्रदान करने के लिये। यह उद्वहन है गार्हपत्यधर्म के पालन[2] तथा जीवन के श्रेष्ठतम फल अमृत के लिये।

(4). पाणिग्रहण

विवाह के लिये सर्वाधिक प्रयुक्त इस पर्याय का बीज हम विवाहसूक्त के 36 वें मन्त्र में पाते है, जहाँ वर वधू का पाणिग्रहण करते हुये कहता है -

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम् ।[3]

इस प्रतीकात्मक पाणिग्रहण द्वारा वर जीवन-भर के लिये वधू को सहधर्मचारिणी के रूप में स्वीकार करता है।

(5) कन्यादान

विवाहसूक्त के नवम मन्त्र में पति की कामना करने वाली सूर्या, पिता सविता द्वारा वर को दान की जाती है -

सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात् ।[4]

स्त्री-पुरुष का पवित्र संस्कार के माध्यम से गृहस्थ धर्म के लिये संयुक्त होना ही विवाह संस्कार है। इसके निम्नलिखित चरण हैं -

(1) योग्य वर और वधू का चयन -

ब्रह्मवादिनी सूर्या ने सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही उन गुणों की ओर सङ्केत किया है; जो सृष्टि की सत्ता, स्थिति और गति के आधार हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.85.26
2. अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। ऋग्वेद 10.85.27
3. ऋग्वेद 10.85.36
4. ऋग्वेद 10.85.9

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ती दिवि सोमो अधिश्रितः ॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।[1]

सत्य ने भूमि को धारण किया है; सूर्य ने द्युलोक को। ऋत से आदित्यों की सत्ता है। सोम से पृथिवी 'मही' महान या महयुक्त (आनन्दपूर्ण) हुई है। गृहस्थी रूपी रथ को गति देने वाले दो चक्रों के समान वर और वधू के भी यही गुण हैं - सत्य, ऋत, तेज और आनन्द।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में पृथिवी और द्युलोक की सङ्कल्पना एक आदर्श माता-पिता या पति-पत्नी के रूप में हुई है।[2] विवाहसंस्था में स्त्री उस भूमि की प्रतिनिधि हैं, जो सबको जन्म देती है, धारण करती है, पोषण देती है। स्त्री का बल सत्य है, सत्य आचरण ओर व्यवहार वधू का प्रथम गुण है। पुरुष उस द्युलोक का प्रतिनिधि है, जो पृथिवी की रक्षा करता है, दिव्य रस से पृथिवी को उर्वरा बनाता है, प्रजा को संरक्षण देता है। पुरुष या वर के गुण - तेज, ओज, प्रकाश और ऊर्जा हैं। इसके साथ ही वह सोम (आनन्द) का आश्रय भी है।

वधू के अन्य गुणों में हैं - रूप, मधुर वचन, शिवतम विचार, सुन्दर मन तथा सुमङ्गलीत्व या शुभ लक्षण। क्रमशः सूर्या के निम्न मन्त्रांशों से इन गुणों की अभिव्यक्ति होती है-

1. सूर्यायाः पश्य रूपाणि ।[3]
2. अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।[4]
3. अघोरचक्षुः ....शिवा.... सुमनाः ....सुवर्चसाः ।[5]
4. सुमङ्गलीरियं वधूः ।[6]

श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति ने विवाह से पूर्व कन्या के गुणों की सावधानी से परीक्षण की बात कही है -

---

1. ऋग्वेद 10.85.1,2
2. दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू। ऋग्वेद 10.10.9
3. ऋग्वेद 10.85.35
4. ऋग्वेद 10.85.43
5. ऋग्वेद 10.85.42
6. ऋग्वेद 10.85.33

धर्मार्थकाममोक्षाणां दाराः सम्प्राप्तिहेतवः ।
परीक्ष्यन्ते प्रयत्नेन पूर्वमेव करग्रहात् ॥[1]

(2) वरपक्ष की ओर से कन्या के लिये प्रस्ताव एवं कन्या के पिता द्वारा वाग्दान -

वर-वधू के गुणों के परीक्षण के पश्चात् वरपक्ष की ओर से वर के अभिभावक, सम्मान्य बन्धु-बान्धव विवाह का प्रस्ताव लेकर कन्या के घर पहुँचते हैं तथा कन्या की याचना करते हैं -

सूर्याया अश्विना वराऽग्निरासीत् पुरोगवः ।
सोमो वधूयुरभवद् .....
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन् ॥[2]

सूर्या के विवाह में सोम 'वधूयुः' वधू को प्राप्त करने के इच्छुक वर थे। अश्विनी देवता वर की ओर से वधू का वरण करने वाले प्रस्तावक थे, तो अग्नि देवता पुरोहित। समस्त देवों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। तब कन्या के पिता सविता ने वर के प्रति पुत्री के मनोभावों को जानकर सूर्या का वाग्दान किया। इस मानसिक सङ्कल्प या वाग्दान के साथ सूर्या की सगाई या मंगनी सम्पन्न हुई -

सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात ।[3]

(3) बारात का आगमन एवं वधूपक्ष द्वारा वरपक्ष का स्वगत -

बारात के आगमन पर जैसे पुत्र पिता की सपर्या करता है, उसी प्रकार पूषा ने वरपक्ष का सत्कार एवं सपर्या सम्पन्न की - **पुत्रः पितराववृणीत पूषा ।[4]**

(4) देवपूजन

विघ्नों के उपशमन, अमङ्गल के विनाश तथा मङ्गल के आवाहन के लिये देवपूजन का विधान सूर्या के विवाहसूक्त में प्राप्त होता है। मित्र-वरुणादि देवों के साथ स्वशरीर में प्रतिष्ठित चित् शक्ति या आत्म तत्त्व के प्रति भी नमस्कार किया जाता है -

---

1. मनुस्मृति
2. ऋग्वेद 10.85.8,9,14
3. ऋग्वेद 10.85.9
4. ऋग्वेद 10.85.14

सूर्यायै दवेभ्यो मित्राय वरुणाय च ।
यं भूतस्य प्रचेतस् इदं तेभ्योऽकरं नमः ।[1]

परवर्ती युगों में यही देवपूजन 'नान्दी होम' या 'वृद्धि' के रूप में प्रचलित हुआ।

(5) वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या का दान -

विवाह से पूर्व सूर्या को गाथाओं (मङ्गलगीतों) से परिष्कृत शुद्ध वस्त्र पहनाये गये। निर्मल चादर ओढ़ाई गई। आँखों में अञ्जन लगाया गया।[2] तत्पश्चात् वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या का दान पिता द्वारा किया गया। स्मृति ग्रन्थों में कन्यादान को सभी दानों में श्रेष्ठ माना गया है -

कन्यादानस्तु सर्वेषां दानानामुत्तमं स्मृतम् ।

विवाहसूक्त में वर्णित सूर्या का विवाह ब्राह्मविवाह का श्रेष्ठ निदर्शन है।

(6) अग्निसाक्षिक पाणिग्रहण

यह विवाह संस्कार की सबसे महत्त्वपूर्ण विधि है। कन्यादान की सार्थकता इसी विधि में है। इस विधि के द्वारा वर समस्त जीवन के लिये वधू का हाथ पकड़ते हुये आजीवन साथ रहने की शपथ लेता है। इस पावन विधि में साक्षी होते हैं परमपावन मार्गदर्शक अग्नि। पिता द्वारा प्रदान की गई कन्या को; आयुष्य और वर्चस् से युक्त कर अग्निदेवता; क्षेत्ररूपा जाया में बीजवपन के लिये पुनः वर को प्रदान करते हैं -

पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ।
पुनः पत्नीमग्निरददायुषा सह वर्चसा ॥[3]

वैदिक अवधारणा के अनुसार पति-पत्नी को दीर्घायुष्य, रयि (समृद्धि) और पुत्र अग्नि ही प्रदान करते हैं।[4]

इसी पवित्र अग्नि की प्रदक्षिणा से 'सप्तपदी' एवं सपर्या से 'लाजा होम' की विधि विकसित हुई है।

7. कन्या की विदाई

पाणिग्रहण के पश्चात् वधू को सौभाग्य एवं सुखी जास्पत्य (दाम्पत्य) का आशीर्वाद दिया जाता है। तत्पश्चात् पवित्र मन्त्रोच्चार के साथ गृहपत्नी को सखियों और परिचारिकाओं सहित पतिगृह के लिये विदा किया जाता है-

---

1. ऋग्वेद 10.85.17
2. ऋग्वेद 10.85.6-7
3. ऋग्वेद 10.85.38,39
4. ऋग्वेद 10.85.41

आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ।[1]
अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।
समर्यमा सं भगो नो निनीयात् सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ।।[2]

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ।[3]
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ।[4]

पुत्री की विदाई का यह प्रसङ्ग अत्यन्त मार्मिक है । इसमें पितृ-हृदय का सन्तोष भी है और भय भी। पुत्री के भावी जीवन के लिये मङ्गलकामना भी है और वधू के लिये शिक्षा भी। कन्या के प्रति मोह का त्याग भी है और पतिगृह के सुदृढ़ बन्धन में बाँधने का भाव भी। जब पिता कहते हैं - 'मैं तुमको यहाँ से मुक्त करता हूँ' ; तब पिता के वियोग-व्यथित, भरे हुये हृदय की पीड़ा को सहृदय जन समझ सकते हैं।

वे अपनी लाड़ली पुत्री के लिये; जो अब पराई हो गई है; 'अरिष्टा' विशेषण का प्रयोग करते हैं। अरिष्टा अर्थात् 'अहिंस्या' (हिंसा के अयोग्य)। पतिगृह से आई हुई कन्या किसी भी दशा में हिंसायोग्य नहीं है। पति के हाथों अपनी पुत्री को सौंपते हुये पिता यह आशा रखते थे कि उनकी दुहिता पतिगृह में सुखी और सन्तुष्ट रहेगी, सन्तति और सौभाग्य से फलेगी-फूलेगी। उसके साथ किसी प्रकार का अन्याय और अत्याचार नहीं होगा। पुत्री के साथ दुर्व्यवहार होने का भय पिता के वात्सल्यमय अन्तःकरण में कहीं छिपा रहता था, जिसकी अभिव्यक्ति 'अरिष्टा' पद द्वारा हुई है।

(8) पतिगृह में वधूवरण

नववधू को पतिगृह में सस्म्मान प्रवेश कराया जाता था। भव्य स्वागत के साथ वधू का वरण इस शुभकामना के साथ किया जाता था कि वह गृहपत्नी और सबकी साम्राज्ञी होकर वृद्धावस्था तक नाती-पोतों के साथ आनन्द को प्राप्त करती हुई उसी गृह में रहे -

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥

---

1. ऋग्वेद 10.85.20
2. ऋग्वेद 10.85.23
3. ऋग्वेद 10.85.24
4. ऋग्वेद 10.85.26

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ।[1]

यहाँ जल-वायु और सरस्वती (वाग्देवी) से वर-वधू को एक करने की प्रार्थना की गई है । जल सम्पूर्ण सृष्टि का आधार एवं जीवन-रस का प्रतीक हैं, वायु प्राण-स्वरूप हैं, सरस्वती वाणी की अधिष्ठात्री हैं। दोनों एक-प्राण हों, जीवन का रस अर्थात् आनन्द एक हो, वाणी और विचार एक हों; तभी गार्हपत्य के उच्चतम लक्ष्यों और महान आदर्शों को पाया जा सकता है। ब्रह्मवादिनी सूर्या की यह विवाह संहिता ही स्मृतियों के लिये मान्य हुई। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय यह है कि आज भी विवाह संस्कार ऋग्वैदिक मन्त्रों के साथ सम्पन्न होते हैं। गृह्य सूत्रों में विवाह सूक्त के कतिपय मन्त्रों का विनियोग इस प्रकार बताया गया है-

1. समञ्जन -

वर-वधू को उबटन लगाते समय ऋग्वेद के 'समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ' (10.85.4) मन्त्र का पाठ किया जाता है।

2. शुभ दृष्टि (परस्पर समीक्षण)-

वर-वधू के मध्य एक वस्त्रखण्ड रखा जाता है, जो शुभ घटिका के अनुसार हटा लिया जाता है, तब वर-वधू एक-दूसरे की ओर देखते हैं।[2] यहाँ 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि' (44) का पाठ किया जाता है।[3]

3. पाणिग्रहण -

वर वधू का हाथ पकड़ते हुये 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्' (36) मन्त्र का पाठ करता है ।[4]

4. लाजाहोम -

अन्तिम हवि के समय वर कन्या के दाहिने केशगुच्छ को ढीला करते हुये -'प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्' (25) मन्त्र का पाठ करता है।

5. रथारोहण -

विदाई के पश्चात् वर वधू को रथ पर बैठाते हुये - 'पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्या' (26) मन्त्र का पाठ करता है।

---

1. ऋग्वेद 10.85.47
2. ऋग्वेद 10.86.9
3. आश्वलायन गृह्य-परिशिष्ट 1.39
4. बौधायन गृह्यसूत्र 1.1.24-25 ; आपस्तम्ब गृह्यसूत्र 4.4

6. पतिगृहगमन -

वनों और चतुष्पदों में पति द्वारा 'मा विदन् परिपन्थिनो' (32) मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। मार्ग में बस्तियाँ आने पर देखने वालों को लक्ष्य कर वर इस मन्त्र का उच्चारण करता है - 'सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।'

7. गृहप्रवेश -

वर अपने गृह में वधू को प्रवेश कराते हुये - 'वां पूषञ्छिवतमामेरयस्व' (37) मन्त्र को पढ़ता है।

8. होम -

विवाह की अग्नि में समिधा डालकर वर द्वारा प्रत्येक आहुति के साथ एक-एक मन्त्र का उच्चारण करते हुये चार आहुतियाँ दी जाती हैं। ये चार मन्त्र क्रमशः 'आ नः प्रजापति' (43) से 'साम्राज्ञी श्वशुरे भव' (46) तक हैं।

9. दधिप्राशन -

दधि का प्राशन करते हुये वर 'समञ्जन्तु विश्वे देवा:' (47) मन्त्र का उच्चारण करता है और शेष दधि पत्नी को देता है।

10. त्रिरात्र व्रत

वर और वधू विवाह के पश्चात् तीन रात्रियों तक विशेष व्रत का पालन करते हैं। वे क्षार-लवण का भक्षण नहीं करते, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं एवं पृथ्वी पर शयन करते हैं। आपस्तम्ब एवं बौधायन के अनुसार नव-दम्पती पृथ्वी पर एक ही शय्या पर शयन करेंगे, किन्तु उनके मध्य एक उदुम्बर की शाखा रहेगी, जो चतुर्थ रात्रि को 'उदीर्ष्वातः पतिवती......सं जायां पत्या सृज' (22,23) मन्त्र के साथ जल में विसर्जित कर दी जायेगी।[1] इस त्रिरात्र व्रत से वर-वधू का गोत्र एक हो जायेगा। इसके पश्चात् वर-वधू का वस्त्र किसी ऐसे ब्राह्मण को दिया जाता है, जो सूर्यासूक्त का ज्ञाता हो।

इस प्रकार विवाह को एक संस्था का रूप देने वाला सूर्या का 'विवाह सूक्त' हिन्दू समाज की एक अमूल्य धरोहर है।

* * *

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र 1.73.1-8

स्त्री के नाना रूप, सामाजिक स्थिति, अधिकार एवं कर्त्तव्य

समाज के इस अर्द्धाङ्ग के लिये ऋग्वेद में स्त्री[1], नारी[2], योषा[3], कन्या[4], युवती[5], योषणा[6], दुहिता[7] आदि अभिधान प्रचलित थे।

वैदिक ऋषिकाओं ने स्त्री को देह और वय के नाना रूपों, नाना अवस्थाओं एवं भूमिकाओं में देखा; जिनमें से कतिपय प्रमुख रूप इस प्रकार हैं -

1. पुत्री

ऋग्वेद में 'पुत्र' शब्द अनेकशः प्रयुक्त है, किन्तु 'पुत्री' दुर्लभ ही है। वैदिक संहिताओं में पुत्री के लिये सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द है - 'दुहिता'।

रात्रि और उषा 'दिव:दुहिता' अर्थात् द्युलोक की पुत्रियाँ हैं। सूर्या सूर्य की दुहिता, अदिति दक्ष की एवं घोषा राजदुहिता हैं।

दोहनार्थक 'दुह्' धातु से 'तृच्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'दुहितृ' शब्द का अर्थ है - गायों का दोहन करने वाली कन्या। वैदिक युग में कन्यायों का एक मुख्य कार्य गौओं से दूध दुहना था, जिसके कारण कन्या के लिये सामान्य रूप से 'दुहिता' शब्द का बहुल प्रयोग किया गया है।

आचार्य यास्क ने 'दुहिता' शब्द की एक निरुक्ति गायों को दुहने के अर्थ में भी की है - **दुहिता दोग्धेर्वा**।[8]

---

1 ऋग्वेद 10.86.6

2. ऋग्वेद 8.1.34, 10.86.10

3. ऋग्वेद 3.33.10

4. ऋग्वेद 10.3.33, 10.40.2

5. ऋग्वेद 9.86.16

6. ऋग्वेद 10.39.7

7. ऋग्वेद 10.127.8

8. निरुक्त 3.4

केवल गोदोहन ही नहीं, अन्य गृहकार्यों में भी पुत्रियाँ माता की सहायिका होती थीं -

माता च यत्र दुहिता च धेनू सबर्दुघे धापयेते समीची ।[1]

कन्या

पुत्री के लिये प्रयुक्त अन्य शब्द है 'कन्या'। 'कन्यते, दीप्यते, काम्यते गच्छति वा' अर्थों में 'कन्' धातु से 'यक्' एवं 'टाप्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'कन्या' प्रायः 'कुमारी' कन्या का वाचक है, यद्यपि पतिपरित्यक्ता अपाला ने भी स्वयं को 'कन्या' कहा है।[2]

यास्क ने कन्या शब्द की निरुक्ति चार अर्थों में की है -

कन्या कमनीया भवति, क्वेयं नेतव्येति वा, कमनेनानीयत इति वा, कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मण: ।[3]

(1) वह सभी के लिये कमनीय होती है।

(2) वह किस वर के पास या कहाँ पहुँचाई जाये - इस विषय में पिता की चिन्ता का विषय होती है (क्व+नी+यक्)।

(3) वह चाहने वाले वर के द्वारा स्वगृह में लाई जाती है (कम्+आ+नी)।

(4) कन्या कान्तियुक्त अर्थात् सुन्दर होती है।

वेदों में 'कन्या' शब्द का प्रयोग प्रायः विवाहयोग्य अविवाहित युवतियों के लिये हुआ है, जैसे कि युवती उषा के लिये -

कन्येव तन्वा शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।[4]

अथवा पुरुष के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने वाली कन्या -

निते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ।[5]

कन्या से ही 'कानीनक' शब्द निष्पन्न है। कन्याकामी या कन्या को वधूरूप में वरण करने के इच्छुक पुरुष को 'कानीनक' कहा जाता था।

---

1 ऋग्वेद 3.55.12

2. ऋग्वेद 8.80.1

3. निरुक्त 4.15

4. ऋग्वेद 1.123.10

5. ऋग्वेद 3.33.10

योषणा अथवा योषा

पुत्री के लिये तृतीय प्रयुक्त अभिधान है 'योषणा' अथवा 'योषा'। कन्या की ही भाँति 'योषणा' पद भी प्राय: युवती स्त्री के लिये प्रयुक्त हुआ है।

'योषा' या 'योषणा' 'यु मिश्रण' अथवा 'युष् सेवने' से निष्पन्न है। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने योषा की व्याख्या - 'सा हि मिश्रयति आत्मानं पुरुषेण साकं' के रूप में की है।

पितृप्रधान भारतीय समाज में ऋग्वैदिक युग से ही पुत्रसन्तति काम्य रही है, तथापि पुत्रियों के प्रति तिरस्कार का भाव भी नहीं था। दुहितायें भी गर्व का विषय हो सकती थीं, जैसा कि शची पौलोमी अपनी सन्तानों पर गर्व करते हुये कहती हैं -

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।[1]

पुत्री माता-पिता की देख-रेख और शिक्षा-दीक्षा में बड़ी होती थी। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही सम्पन्न होती थी।[2] सम्भवत: पुत्रियाँ पिता की अधिक लाड़ली होती थीं। पुत्री के लिये पिता का नाम ही एक वात्सल्यपूर्ण छाँव, अभय और सुरक्षा का आभास देता था -

पितुर्न नाम सुहवं हवामहे।[3]

विवाह के बाद भी पुत्रियों का पितृप्रेम कम नहीं होता था।[4]

मानवजीवन में शैशव या बचपन ही निश्च्छल आनन्द का समय होता है, अत: उस वय में कन्या का पति 'सोम' माना जाता था, कैशोर्य में प्रवेश के साथ शरीरावयवों का विकास, रोमाभिव्यक्ति और लावण्य का उन्मीलन होता है, अत: इस अवस्था के स्वामी 'गन्धर्व' माने जाते थे, यौवन में प्रवेश करने पर सौन्दर्य के साथ तेज, वर्चस् और दीप्ति की वृद्धि होती है, अत: इस वय के अधिपति 'अग्नि' होते थे -

सोम प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥[5]

---

1 ऋग्वेद 10.59.3

2. ऋग्वेद 10.39.6

3. ऋग्वेद 10.39.1

4. ऋग्वेद 8.80.5

5. ऋग्वेद 10.85.40

पुत्रियों पर माता-पिता की सजग दृष्टि रहती थी। वे नैतिक मर्यादाओं और ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं, अतः सविता (पिता) द्वारा सूर्या (पुत्री) को वरुण के पाश में आबद्ध करने का उल्लेख हुआ है। विवाह के पश्चात् कन्या को पतिगृह के लिये विदा करते समय इस पाश से मुक्त किया जाता था -

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वा बध्नात सविता सुशेवः ।[1]

कन्या का विवाह पिता की सहमति से होता था। कन्या द्वारा स्वयं वर का चयन कर लिये जाने पर भी पिता की हार्दिक अनुमति आवश्यक समझी जाती थी -

सूर्यां यत् पत्ये शंसन्ती मनसा सविता ददात् ।[2]

सामान्य रूप से पिता का नियन्त्रण होते हुये भी अपवादस्वरूप कुछ कन्यायें स्वयं ही पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लेती थीं। राजा पुरुमित्र की शुन्ध्युव नामक कन्या ने स्वयं ही विमद का वरण किया था, जो ऋग्वैदिक युग में गान्धर्व विवाह एवं सम्भवतः स्वयम्वर के प्रचलन का सङ्केत देता है। युवावस्था स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण और कामाभिव्यक्ति का काल मानी गई थी -

मर्य इव युवतिभिः समर्षति ।[3]

कामावेग में सम्बन्धों की मर्यादा को भुला देने वाली यमी जैसी युवतियाँ भी थीं, जो अपने सहोदर भ्राता से अभिगम करने में भी सङ्कोच नहीं करती थीं। सामाजिक मर्यादाओं की परवाह न करने वाली इन दुःसाहसी और उच्छृङ्खल युवतियों की दृष्टि में ऐसे पुरुष कायर समझे जाते थे, जो सामाजिक मान-मर्यादाओं की दुहाई देते थे -

कोऽस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत ।[4]

यमी कहती है कि इतनी बड़ी दुनिया में इस निर्जन स्थान में होने वाले उनके सम्बन्ध को कौन देखेगा, कौन जानेगा और कौन कहेगा ? फिर यम पर रोष प्रकट करते हुये उसे कायर सिद्ध करती है -

बतो बतासि यम ।[5]

---

1. ऋग्वेद 10.85.24
2 ऋग्वेद 10.85.9
3. ऋग्वेद 9.88.16
4. ऋग्वेद 10.10.6
5. ऋग्वेद 10.10.13

ऋग्वैदिक युग में बालविवाह नहीं होते थे। युवावस्था ही विवाह की सही अवस्था मानी जाती थी। जब सामाजिक दायित्वों को वहन करने के लिये स्त्री-पुरुष शारीरिक और मानसिक रूप से सक्षम होते थे। बाल्यावस्था से यौवन में प्रवेश करते हुये जो शारीरिक परिवर्तन होते थे, उनमें से एक शरीर के कुछ विशिष्ट अङ्गों का रोमयुक्त होना भी था। रोम का अभाव अल्पवय का परिचायक था। ऐसी स्त्री के साथ सम्भोग या शारीरिक सम्बन्ध अमानवीय और निषिद्ध था।

पिता के घर में रहकर ही प्रौढ़ हो जाने वाली अविवाहित कन्याओं के उदाहरण भी ऋग्वेद में मिलते हैं। इन कन्याओं की विशेष संज्ञा 'अमाजुर्' थी।[1] ये कन्यायें भी पतिसंसर्ग के सुख और पतिगृहगमन के सपने संजोये रखती थीं। ऐसी कन्याओं का भविष्य असुरक्षित होता था। पिता की मृत्यु के पश्चात् भाई के परिवार के साथ रहते हुये सम्भवतः इन्हें उपेक्षा भी झेलनी पड़ती थी। घोषा के हृदय की व्यथा, जो 'अनापिरज्ञा असाजात्या अमति पुरा तस्या अभिशस्तेरवस्पृतम'[2] (मैं अज्ञानी, बन्धुहीन, असहाय हूँ। हे अश्विदेव! उस दुर्गति से पहले ही मेरी रक्षा करना) में अभिव्यक्त हुई है, अविवाहित प्रौढ़ाओं की सामाजिक उपेक्षा और दुर्दशा का प्रमाण है।

ऋग्वैदिक युग में पुत्रियों की स्थिति अपेक्षाकृत उत्तम थी ; तथापि वे सामान्य स्थितियों में पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं होती थीं क्योंकि उनके समुचित पालन-पोषण के बाद ; युवती होने पर; योग्य वर को प्रदान कर, गर्भधारण के योग्य बना दिया जाता था-

न जामयो तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम् ।[3]

अतः यास्क के अनुसार दुहिता की एक निरुक्ति - 'दुर्हिता, दूरे हिता'[4] भी थी।

ब्राह्मण युग में पराया धन होने के कारण पुत्रियों के प्रति कुछ हीनता या कार्पण्य का भाव परिलक्षित होता है -

कृपणं ह दुहिता, ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन् ।[5]

पुत्र यदि परम आलोक है, तो पुत्री दैन्य या दुःख का कारण। आचार्य सायण पुत्री के विषय में इस अवधारणा पर भाष्य करते हुये लिखते हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.39.3
2. ऋग्वेद 10.39.6
3. ऋग्वेद 3.31.2
4. निरुक्त 3.4
5. ऐतरेय ब्राह्मण 33.1

सम्भवे स्वजनदुःखकारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका ।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः ॥

पुत्रीविषयक यह अवधारणा आज भी हमारे समाज में पाई जाती है। यद्यपि उपनिषदों के युग में पण्डिता एवं दीर्घायुष्य वाली पुत्री की कामना से विशेष अनुष्ठान का विधान प्राप्त होता है -

अथ य इच्छेद् दुहिता में पण्डिता जायेत् सर्वमायुरियादिति ।
तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥[1]

तथापि ऐसे उदाहरण भी प्राप्त होते हैं , जहाँ कन्या की इच्छा जाने बिना पिता के द्वारा उन्हें वृद्ध वर को प्रदान कर दिया गया है. जैसे कि राजा जानश्रुति द्वारा अपनी कन्या गाड़ीवान रैक्व को प्रदान करना,[2] अर्थात् विवाह से पूर्व पुत्री या कन्या पर पिता का ही अधिकार माना जाता था और उन्हें उपहार या उपायन के रूप में किसी को भी प्रदान किया जा सकता था।

2. भगिनी

पुत्र-पुत्रियों से भरे-पूरे परिवार में स्त्री का एक रूप बहिन या भगिनी का भी होता था। बहिन के लिये ऋग्वेद में सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द - 'स्वसा' है। पारिवारिक सम्बन्धों में निकटता की दृष्टि से माता-पिता के सम्बन्ध के बाद भाई-बहिन के सम्बन्ध का ही स्थान था। इस सम्बन्ध का महत्त्व इससे स्पष्ट होता है कि पणियों ने इन्द्रदूती सरमा को अपनी ओर मिलाने के लिये उसे अपनी बहिन बनाना चाहा था। इस सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने वाले भ्रातृत्व और स्वसृत्व जैसे शब्द ऋग्वैदिक युग में अपनी पहचान बना चुके थे।[3]

पिता के न रहने पर या वृद्ध होने पर बहिन की देख-रेख का दायित्व भाई और भ्रातृजाया (भाभी) का ही होता था। भाई-बहिन सुख-दुःख में एक-दूसरे के साथ होते थे। इस कर्तव्य का पालन न करने वाले निन्दनीय माने जाते थे -

किं भ्राता सद्यदनाथं भवति किमु स्वसा यन्निऋतिर्निगच्छात् ।[4]

भाई के रहते हुये बहिन का अनाथ होना और बहिन के रहते हुये भाई का विपद्ग्रस्त होना दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता था।

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 6.4.17
2. छान्दोग्योपनिषद् 4.2.4
3 ऋग्वेद 10.108.10
4. ऋग्वेद 10.10.11

भाई-बहिन का सम्बन्ध एक पवित्र सम्बन्ध था, जिसमें शारीरिक सम्बन्धों को पाप माना जाता था-

पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छत् ।[1]

भाई-विहीन कन्याओं की विशेष संज्ञा 'अभ्राता'[2] अथवा 'अभातृका'[3] थी। ऐसी कन्यायों को पिता के पास वापिस लौट आने वाली कहा गया है ।[4] परवर्ती युग में मनु ने ऐसी कन्यायों से विवाह का निषेध किया है ।[5]

3. वधू

वर द्वारा पत्नी रूप में वरण की जाने वाली कन्या या नवविवाहिता स्त्री 'वधू' कही जाती थी। 'सुमङ्गलीरियं वधू' में यह भाव स्पष्ट है। विवाह के समय वधू को विशेष रूप से वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया जाता था। वधू की वह रूपशोभा सभी के लिये दर्शनीय होती थी -

सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा नु शुन्धति ।[6]

विवाह के पश्चात् वधू का वरण कर पतिगृह को ले जाने के लिए वरपक्ष के गण्य-मान्य जन आते थे। सुन्दर रथ पर चढ़ाकर पवित्र मन्त्रोच्चार के साथ वधू को पतिगृह भेजा जाता था और कामना की जाती थी कि पितृगृह के बन्धन से मुक्त होकर उसकी पतिगृह के साथ कभी न टूटने वाला सम्बन्ध स्थापित हो -

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।[7]

अब पति का घर ही उसका अपना घर होता था। गृहपत्नी के रूप में वह अमृत के लोक और सुकृत की योनि में प्रवेश करती थी। नववधू का पतिगृह में भव्य स्वागत होता था, सभी ज्ञातिजन नववधू को सौभाग्य का आशीर्वाद देकर अपने-अपने घर लौटते थे। सजग भाव से गृहस्थधर्म के पालन, सौभाग्य और प्रजा की समृद्धि के लिए कन्या, अग्नि को साक्षी बनाकर वधूरूप में उसके वरणकर्ता पति को सौंप दी जाती थी।

---

1. ऋग्वेद 10.10.12
2. ऋग्वेद 1.244.7
3. निरुक्त 6.4
4. अथर्ववेद 1.17.1
5. मनुस्मृति 3.11
6. ऋग्वेद 10.85.35
7. ऋग्वेद 10.85.25

दुष्ट वधू घर की सुख-शान्ति को नष्ट कर सकती है। सास-श्वशुर, ननद-देवर से भेद-भावपूर्ण व्यवहार कर सकती है, परिजनों के प्रति क्रूर हो सकती है, पति के विनाश का कारण बन सकती है, घर की धार्मिक परम्पराओं और मर्यादाओं को भङ्ग कर सकती है, वन्ध्या या बाँझ भी हो सकती है, अतः इन सब आशङ्काओं और कुशङ्काओं से घिरा हुआ वर, वधू के मङ्गलमयी और शिव होने की प्रार्थना करता हुआ कहता था -

अदुर्मङ्गली: पतिलोकमाविश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।[1]

वस्तुत: परिवार का अङ्ग बनकर आई इस नवागता के सौम्मनस्य, सद्व्यवहार और बुद्धिमत्ता पर ही परिवार की सुख-शान्ति निर्भर करती थी।

4. पत्नी

कन्या विवाह के बन्धन में बँधकर पत्नी बनती थी। ऋग्वेद में 'पत्नी' शब्द का प्रयोग प्राय: पति के सन्दर्भ में हुआ है। अग्नि देवता ने यह पत्नी दीर्घायुष्य के साथ पति को प्रदान की है -

पुन: पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या य: पतिर्जीवाति शरद: शतम् ॥[2]

पति-पत्नी का यह मिथुन द्यावापृथिवी के समान सबन्धु होता था -

दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू ।[3]

दोनों मिलकर रथचक्र की भाँति गार्हपत्य के रथ को गतिशील बनाते हैं -

वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ।[4]

इस मिथुन या पति-पत्नी के जोड़े को 'दम्पती'[5] कहा जाता था। दाम्पत्य की सिद्धि सहवास में मानी जाती थी।[6] पति के शरीर से पत्नी को मिलाने 'एना पत्या तन्वं संसृजस्व'[7], 'संजायां पत्या सृज'[8] जैसी प्रार्थनाओं तथा 'समाने योनौ सह शेय्याय जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्या'[1] जैसे मन्त्रांशों से यह स्पष्ट होता है।

1. ऋग्वेद 10.85.43
2. ऋग्वेद 10.85.39
3 ऋग्वेद 10.10.9
4. ऋग्वेद 10.10.7
5. ऋग्वेद 10.85.32
6. ऋग्वेद 10.10.5
7. ऋग्वेद 10.85.27
8. ऋग्वेद 10.85.22

पति-पत्नी का परस्पर प्रेम 'सौभाग्य' कहा जाता था। पाणिग्रहण या विवाह इस सौभाग्य की प्राप्ति और आजीवन गृहस्थ धर्म के पालन के लिये होता था -

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्याजरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥[2]

ऋग्वैदिक युग में दाम्पत्य की अपेक्षा अधिक प्रचलित शब्द 'जास्पत्य' था अर्थात् जाया और पति का सम्बन्ध। जास्पत्य की स्थिरता का आधार सत्य, सहिष्णुता, त्याग और आत्म नियन्त्रण होता था। गृहवधू प्रतिदिन अग्निदेव से दृढ़ जास्पत्य के लिये प्रार्थना करती थी -

सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महाँसि।[3]

पतिगृह की सुख-समृद्धि की कामना भी उसके हृदय में बसी रहती थी -

धत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे।[4]

पत्नी को 'गृहपत्नी' अर्थात् गृहस्वामिनी भी कहा गया है। घर के सभी सदस्यों की समुचित देखभाल, सभी के प्रति सम्मान और प्रेम का व्यवहार, भोजन की व्यवस्था, देव और पितृ कार्यों का सम्पादन, सास-श्वशुर की सेवा, गृहपशुओं की देख-भाल, मन-वचन और कर्म से पति का सहयोग, पवित्र आचरण और सदाचार पत्नी के कर्तव्य माने गये थे।[5]

यहाँ उल्लेखनीय यह है कि ऋग्वेद में पत्नी के जो कर्तव्य बताये गये हैं, उन्हीं का निरूपण कुछ विस्तार के साथ कामसूत्र के भार्याधिकारिक अधिकरण में हुआ है।

पत्नियाँ भी पति से कुछ आशायें रखती थीं। स्त्रियों की इन आशाओं और आकाँक्षाओं को स्वर देने और अधिकार के रूप में स्थापित करने का कार्य रोमशा, लोपामुद्रा और घोषा जैसी ब्रह्मवादिनियों ने किया है। घोषा के शब्दों में पत्नी का प्रेम उन्हीं पुरुषों को मिलता है, जो अपनी पत्नी की प्राणरक्षा के लिये रोदन करते हैं, उन्हें यज्ञकार्यों में नियुक्त करते हैं, सन्तान उत्पन्न कर पितृकार्यों के योग्य बनाते हैं तथा बलिष्ठ भुजाओं से दीर्घ आलिङ्गन करते हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.10.7
2. ऋग्वेद 10.85.36
3. ऋग्वेद 10.28.3
4. ऋग्वेद 10.40.13
5 ऋग्वेद 10.85

जीवं रुदन्ति विमयन्त अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥[1]

'पातिव्रत्य केवल पत्नी का ही धर्म नहीं है, अपितु पत्नीव्रत पति का भी धर्म है' - इतनी बड़ी बात कहने का साहस समग्र संस्कृत वाङ्मय में घोषा ही कर पाई हैं।

वृषभ के समान रेतस् सम्पन्न, कामसंतुष्टि को प्रदान करने वाले प्रिय पुरुष को प्राप्त करने की कामना ऋग्वेद में सर्वत्र देखी जाती है -

प्रियोस्रियस्य वृषभस्य रेतिनो गृहं गमेमाश्विना तदुश्मसि ।[2]

यज्ञादि धार्मिक कार्यों में पत्नी, पति की सहभागिनी होती थी। पाणिनी के अनुसार विवाहिता स्त्री की पत्नी संज्ञा इस यज्ञकार्य में सहभागिता के कारण ही 'पत्युर्नो यज्ञ संयोगे' सूत्र से 'पति' शब्द से 'नुक्' और 'ङीप्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न होती थी।[3]

यज्ञादि कार्यों में पूर्णता पत्नी के सहभाग से ही सम्भव होती थी । पत्नी के अभाव में वह कार्य अधूरा या एकाङ्गी माना जाता था। जब बृहस्पति ने अपनी जाया जुहू का परित्याग किया था, तब वे यज्ञ के एक ही अङ्ग हो गये थे -

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषा स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।[4]

पत्नियाँ पति के साथ यज्ञीय समारोह में भाग लेती थीं। क्षत्रिय की वीर पत्नियाँ युद्धों में भी उनके साथ जाती थीं, जैसा कि इन्द्राणी के कथन से स्पष्ट होता है -

सहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।[5]

कई स्त्रियाँ स्वयं सेना का नेतृत्व करती थीं। खेल राजा की पत्नी विश्पला, युद्ध में अपना एक पैर खो बैठी थीं। अश्विनी देवों ने लोहे का पैर लगाकर उन्हें चलने योग्य बनाया था।[6]

उच्च वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा सम्पन्न महीयसी महिलायें सामाजिक नियमों का निर्माण भी करती थीं -

---

1. ऋग्वेद 10.40.10
2. ऋग्वेद 10.40.11
3. अष्टाध्यायी 4.1.33
4. ऋग्वेद 10.109.5
5 ऋग्वेद 10.86.10
6. ऋग्वेद 10.39.8

वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते ।[1]

संहिताओं की भाँति ब्राह्मण युग में भी 'पत्नी' का पद विशेष सम्माननीय माना गया था। शतपथ ब्राह्मण में पत्नी को पति का परम मित्र एवं साक्षात् सरस्वती कहा गया है ।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में श्रद्धा तो तैत्तिरीय ब्राह्मण में श्री या लक्ष्मी -

1. श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः ।[3]
2. श्रिया वा एतद् ....यत्पत्न्यः ।[4]

उपनिषदों में स्त्री को पुरुष का अर्द्धाङ्ग माना गया है। स्त्री के बिना पुरुष अर्द्धबृगल के समान है। जैसे बीज का आधा दल दूसरे दल से मिलकर पूरा बनता है, वैसे ही यह पुरुषार्द्ध स्त्र्यर्द्ध से मिलकर पूर्ण होता है -

अयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ।[5]

स्त्री पुरुष को पूर्णता प्रदान करती है।

जाया

पत्नी के लिये दूसरा सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द है - जाया। जन् (प्रादुर्भावे) धातु से 'यक्' और स्त्रीत्व में 'आत्व' होकर निष्पन्न 'जाया'[6] शब्द स्त्री की प्रजनन क्षमता को अभिव्यक्त करता है। जाया शब्द की व्युत्पत्ति 'जायन्ते यस्या अपत्यानि सा जाया' के रूप में की गई है। पति की वंशवृद्धि करने के कारण जाया को ऋग्वैदिक समाज में विशेष सम्मान प्राप्त हुआ है।

जाया का पति से शारीरिक रूप से संयुक्त होना (जाया विशते पतिम्)[7], पति द्वारा बीजवपन (यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति)[8] जाया में स्वयं की स्थापना और पुत्र के रूप में जन्म लेना (जन्युः पतिस्तन्व मा

---

1. ऋग्वेद 10.86.10
2. पत्नी परमं मित्रम्। शतपथ ब्राह्मण 2.5.1.10
   योषा वै सरस्वती। शतपथ ब्राह्मण 2.6.1.11
3. ऐतरेय ब्राह्मण 7.13
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.9.4.7
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.3
6. जनेर्यक् - उणादिसूत्र 4.110
7 ऋग्वेद 10.85.29
8. ऋग्वेद 10.85.37

विविश्या:)[1] ही जाया का जायात्व है। जाया की सार्थकता प्रजा में है। ऋग्वेद में जाया शब्द का प्रयोग प्राय: प्रजा (सन्तति) के सन्दर्भ में हुआ है -

पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ।[2]

प्रत्येक पति यह आशा रखता था कि उसकी जाया कम-से-कम दस वीरों की जननी बनेगी। इस सामर्थ्य का अभाव या बंध्यात्व बहुत बड़ा दुर्भाग्य माना जाता था। उर्वरता के लिये अपाला की प्रार्थना, वध्रिमती की अश्विनी देवों से प्रार्थना एवं अश्विनि देवताओं द्वारा वध्रिमती को सुखपूर्वक प्रसव कराने के सन्दर्भ इसके प्रमाण हैं -

युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरंधये ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी जाया को विशेष महत्त्व दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में पुरुष की पूर्णता जाया के माध्यम से पुत्रप्राप्ति के द्वारा मानी गई है -

अर्धो ह एष आत्मनो यज्जाया ।
यावत् जायां न विन्दते असर्वो हि तावत् भवति ।[3]

ऐतरेय ब्राह्मण में 'सखा ह जाया' कहते हुये जाया की प्रशंसा की गई है।[4]

बृहदारण्यक उपनिषद् भी जाया के रूप में स्त्री की इस महनीय भूमिका को रेखाङ्कित करते हुये कहता है -

एकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव ।[5]

पुरुष जाया को प्राप्त कर ही पुत्रों के माध्यम से परिवारवान् होकर जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त करता है।

5. जननी

प्रजा को जन्म देकर जाया जननी के गरिमामय पद को प्राप्त करती थी। श्रेष्ठ सन्तान का जन्म देने

---

1. ऋग्वेद 10.10.9
2. ऋग्वेद 10.85.36
3. शतपथ ब्राह्मण 5.2.10
4. ऐतरेय ब्राह्मण 7.3.13
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.17

वाली जनित्री स्तुति और प्रशंसा का केन्द्र होती थी - जैसे ऋषि गोधा; माता अदिति की प्रशंसा करते हुये कहती हैं -

देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ।[1]

शिशु को दुग्धपान कराती हुई वात्सल्यमयी स्त्री का रूप अत्यन्त पूज्य और पवित्र होता था। इस रूप को चिरस्मरणीय बनाया है, नदियों ने -

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा ।[2]

'जैसे दुग्धपान कराती हुई स्त्री सन्तान के प्रति झुक जाती है, उसी प्रकार हम झुक रही हैं।'

मातृभूता नदियाँ अपने रस से विश्व को पोषण देती हैं, अत: शिशु के जन्म एवं नामकरण के पश्चात् नवजात बालक को माता की गोद में देकर -

यस्ते स्तन: शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद् य: सुदत्र: ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे क: ।

इस मन्त्र के साथ सरस्वती नदी की सम्पूर्ण पोषणशक्ति को; स्त्री के दुग्ध में कल्पित करते हुये शिशु को स्तनपान कराया जाता था।[3]

माता के पवित्र, पौष्टिक, शुद्ध, सर्वोत्तम एवं आरोग्यकारी दुग्ध से ही सन्तान का प्रारम्भिक पोषण एवं उसमें गुणों का आधान वैदिक काल से ही भारतीय संस्कृति की आस्था एवं विशेषता रही है।

माँ और बच्चा एक अविच्छेद्य स्नेह तन्तु से बंधे होते थे। शिशु जैसे माँ के लिए विकल होता था, माँ भी बच्चे से मिलने के लिये उत्कण्ठित रहती थी, अत: सोम को मातृभूत जल से मिलाने के लिये माँ और बच्चे को उपमान बनाया गया है -

समी वत्सं न मातृभि: सृजता गयसाधनम् ।[4]

माता गर्भधारण काल में कितना ही कष्ट क्यों न पाये, अपनी सन्तान की प्रशंसा में सर्वदा गद्गद ही रहती है। देखिये, इन्द्रमाता अदिति का भाव, उन्हें नदियों की अ-ल-ला ध्वनि में भी पुत्र का यश सुनाई देता है -

---

1. ऋग्वेद 10.134.6
2. ऋग्वेद 3.33.10
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 6.4.27
4. ऋग्वेद 9.104.2

एता अर्षन्त्यललामवन्तीर्ऋतावरीव संक्रोशमानाः ।
एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति ॥[1]

माता पुत्र के युवा होने पर घर में वधू लाती है और पोतों के साथ आनन्दमय जीवन बिताती है। यद्यपि वृद्धावस्था शारीरिक सौन्दर्य का क्षय करती है (मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम्), तथापि अनुभवों से परिपक्व स्त्री परिवार में सम्माननीय और युवा पीढ़ी को मार्गदर्शन देने के येग्य होती है -

अधा जिव्री विदथमा वदाथः ।[2]

भारतीय समाज में; मातृत्व की गरिमा से देदीप्यमान जननी का व्यक्तित्व ऋग्वैदिक युग से ही श्रद्धा और सम्मान का विषय रहा है।

6. सपत्नी

आर्थिक रूप से सम्पन्न परिवार के पुरुष कई विवाह करते थे, अतः स्त्री को सपत्नी (सौत) की पीड़ा झेलनी पड़ती थी। इन्द्राणी और शची पौलोमी के ऋषित्व में प्राप्त होने वाले दो सूक्तों से ऋग्वैदिक समाज में सपत्नी की स्थिति और उनकी मनोदशा का ज्ञान होता है।

एक पत्नी के लिये सपत्नी सबसे बड़ा दुःख है। उस सपत्नी का नाम भी इनके लिए असह्य होता है। वे चाहती हैं कि वह उनकी नज़रों से बहुत दूर कहीं चली जाये -

नह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन् रमते जने ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥[3]

पत्नी नहीं चाहती कि उनके प्रति पति के प्रेम का कोई दूसरा भागीदार बन जाये। 'सपत्नी अधमदशा को प्राप्त करे, पति केवल उनका हो' यह भावना सपत्नियों में रहती है -

सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु ।
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः
अथा सपत्नी या ममाऽधरा साऽधराभ्यः ।[4]

---

1. ऋग्वेद 4.18.6
2. ऋग्वेद 10.85.27
3. ऋग्वेद 10.145.4
4. ऋग्वेद 10.145.2-3

एक सपत्नी दूसरी के प्रति पति के प्रेम को समाप्त कर; स्वयं प्रेम पाने के लिए ओषधि, मन्त्र आदि के अभिचारीय प्रयोग करती थी। पति के तकिये के नीचे जड़ी-बूटियों को रखते हुये सपत्नी कहती थी - 'मेरी ओर तुम्हारा मन ऐसे दौड़े, जैसे गाय बछड़े की ओर या जल नीचे की ओर दौड़ता है' -

उप ते ऽधां सहमानामभि त्वाधां सहीयसा
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥[1]

इस प्रकार ओषधि, यज्ञ आदि के प्रयोग से सपत्नियों का अभिभव कर भाग्योदय को प्राप्त करने वाली सपत्नी के अभिमान को भी देखा जा सकता है -

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः ॥

उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः।
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम् ॥[2]

सपत्नियों को पराजित कर पति को वश में कर लेने वाली पत्नी पति और परिवार पर राज्य करती थी। ऐसी स्त्रियों का उदाहरण शची पौलोमी हैं, जिनका भाग्योदय सूर्योदय के समान है। एक मात्र जिनका नाम और जिनके विचार ही पति के लिये प्रशंसनीय और अनुमोदनीय हैं; क्यों न करे वह स्त्री अपने सौभाग्य का अभिमान ?

संस्कृत रूपकों का ताना-बाना एक राजा की कई पत्नियों के सन्दर्भ में ही गूँथा गया है। इसके साथ ही नववधू को सपत्नियों के प्रति प्रिय सखी सदृश व्यवहार करने की शिक्षा भी दी गई है।[3] भारतीय समाज में यह स्थिति आज भी कुछ अंशों में परिलक्षित होती है।

7. पतिव्रता

मन-वचन-कर्म से पति की अनुगामिनी, अनन्यहृदया, सदाचारिणी, शुचिशील- सम्पन्ना स्त्रियाँ पतिव्रता समझी जाती थीं, यद्यपि 'पतिव्रता' इस नाम या विशेषण का प्रयोग ऋग्वेद में नहीं है। ऐसी स्त्रियों का उदाहरण हैं - लोपामुद्रा, शश्वती और ब्रह्मजाया जुहू। लोपामुद्रा उष:काल से रात्रि तक निःशब्द भाव से विना किसी प्रतिदान की आशा में पति की सेवा करती हुई वृद्ध हुई थीं। उन्होने अपनी श्री और शक्ति को; पति-समागम का सुख पाये बिना पति की सेवा में ही क्षीण किया था।

---

1. ऋग्वेद 10.145.6
2. ऋग्वेद 10.159.1-4
3. कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4.18

शश्वती ने देवशाप से नपुँसक हुये पति को अपनी सेवा-सुश्रूषा से पुन: पौरुष शक्ति से सम्पन्न किया था। ब्रह्मजाया जुहू ने उग्र तप से स्वयं को निष्कलुष सिद्ध करते हुये देवों और सप्तर्षियों की भी प्रशंसा अर्जित की थी -

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या[2] तथा उपनिषद् युगीन मैत्रेयी भी पतिव्रताओं का श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

8. परित्यक्ता

यद्यपि गार्हपत्य को पति और पत्नी का आजीवन सम्बन्ध माना जाता था, तथापि ऋग्वैदिक समाज में पति द्वारा परित्यक्त स्त्रियों के उदाहरण भी विरल नहीं हैं। ऐसे दो नाम स्त्री ऋषियों के सूक्तों में प्राप्त होते हैं। प्रथम हैं- अपाला और द्वितीय हैं - ब्रह्मजाया जुहू।

अत्रि ऋषि की पुत्री अपाला के सूक्त में उनके लिये प्रयुक्त 'पतिद्विषः' विशेषण से ज्ञात होता हे कि त्वग् रोग (सम्भवत: कुष्ठ) के कारण उन्हें पति ने त्याग दिया था। पिता के घर में रहते हुये उन्होने इन्द्र की कृपा प्राप्त करने का निश्चय किया एवं वे सूर्य के समान उज्ज्वल त्वचा से युक्त हुई थीं। रोगमुक्त हो जाने के बाद पति द्वारा उन्हें ग्रहण किया गया या नहीं, इसका विवरण प्राप्त नहीं है।

किसी दोष (सम्भवत: चरित्र दोष) की आशङ्क से बृहस्पति ने अपनी पत्नी जुहू का परित्याग कर दिया। जुहू अज्ञातवास में रहकर तपस्वी जीवन बिताने लगीं। उनको खोजने के लिए भेजे गये दूत के सामने भी वे नहीं आईं। तब देवताओं ने निष्कारण पत्नी-परित्याग के दोषी ब्रह्म से पुन: प्रयत्नपूर्वक पत्नी को मिलवाया। ये दो उदाहरण ऋग्वैदिक युग में भी स्त्री के प्रति होने वाले अन्याय के प्रबल प्रमाण हैं। किन्तु जुहू के वृत्त से यह भी सूचित होता है कि निर्दोष पत्नी का परित्याग निन्दित कृत्य था तथा इसके लिए पति भी दोष का भागी होता था। समाज के गण्य-मान्य नागरिकों, पुरोहितों और शासकों का यह दायित्व होता था कि परित्यक्ता स्त्री को उसके पति से मिलवायें। सम्मान्य और पवित्र आचरण वाले व्यक्तियों द्वारा नारी के आचरण की शुद्धता को अभिप्रमाणित करने पर पति द्वारा समाज के सम्मुख पत्नी को पुन: विधिपूर्वक, गृहस्थ धर्म के पालन के लिए ग्रहण कर लिया जाता था।

---

1. ऋग्वेद 10.109.4
2. शतपथ ब्राह्मण 4.1. 5-9

9. विधवा

पति की मृत्यु हो जाने पर स्त्री 'विधवा' कही जाती थी। पति के अभाव में विधवा जीवन निश्चय ही दु:खमय होता था। ऋग्वैदिक समाज में विधवाओं को आर्थिक, मानसिक और शारीरिक सम्बल प्रदान करने की कुछ व्यवस्थायें भी थीं।

ब्रह्मवादिनी घोषा के सूक्त में विधवा के देवर के साथ शयन का उल्लेख है -

को वां शयुत्रा विधवेव देवरम् ।[1]

यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि यह नियोग (देवर से पुत्र प्राप्त करने) के लिए था अथवा द्वितीय वर के रूप में देवर को स्वीकार करने के लिए। किन्तु इससे यह स्पष्ट होता है कि विधवायें पारिवारिक जीवन जीती थीं, पति के साथ सती नहीं होती थीं।

उपनिषद् में नियोग या अन्य पुरुष से सन्तान उत्पन्न करने का एक ही उदाहरण प्राप्त होता है। महाभारत के अनुसार श्वेतकेतु महर्षि उद्दालक आरुणि के औरस पुत्र न होकर शिष्य से नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र थे -

उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः ।[2]

महाभारत के ही सन्दर्भ से यह भी ज्ञात होता है कि श्वेतकेतु ने स्त्री-सम्मान की रक्षा के लिए इस प्रथा को समाप्त करने का प्रयास भी किया था।

10. अप्सरा / स्वैरिणी / गणिका -

दिव्यरूपसम्पन्न ऐसी मानवेतर स्त्रियाँ, जो देवों को अपनी कला और रूप-सौन्दर्य से प्रसन्न करती थीं, 'अप्सरा' कही जाती थीं। ऋग्वेद में 'अप्स' शब्द का प्रयोग 'रूप' के अर्थ में हुआ है।

यास्क के अनुसार -

अप्स इति रूप नामाप्सातेरप्सानीयं भवत्यादर्शनीयं व्यापनीयं वा ।[3]

---

1. ऋग्वेद 10.40.2
2. महाभारत 12.3.5.22
3. निरुक्त 5.13.3

अप्सराएँ उन स्वैरिणी स्त्रियों की प्रतीक थीं, जो किसी शर्त पर कुछ समय के लिए पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर पुरुष को शरीरसुख प्रदान करती थीं।[1] ये वृक (भेड़िये) के समान कठोर और हिंस्र प्रकृति की होती थीं। इनका प्रेम अस्थिर होता था -

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ।[2]

कुछ समय पुरुष के प्रति प्रेम प्रदर्शित कर ये वायु के समान पकड़ से बाहर हो जाती थीं -

दुरापना वात इवाहमस्मि ।[3]

यह उर्वशी की स्वयं अपने विषय में की गई टिप्पणी है। गर्भस्थ शिशु भी इन्हें पति से बाँधकर रखने में समर्थ नहीं था।[4] ऋग्वेद में पुरूरवा-उर्वशी संवाद ऋग्वैदिक समाज की उन स्त्रियों की ओर सङ्केत करता है, जो गणिका या वेश्या के रूप में पुरुष को शरीर समर्पित करते हुये जीविकार्जन करती थीं। समाजव्यवस्थाओं के अन्तर्गत इनसे स्थायी सम्बन्ध की आशा दुराशा मात्र थी।

सत्यकाम जाबाल की माता जबाला भी सम्भवत: सामान्य वर्ग की ऐसी ही एक स्त्री का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनका कार्य पुरुषों की परिचर्या और उन्हें यौन-संतुष्टि प्रदान करना था -

बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामालभे ।
साऽहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि ।[5]

किसी भी युग में कितना ही उन्नत और सभ्य समाज क्यों न रहा हो, स्त्री के इस रूप की भी समाज को आवश्यकता रही है। भले ही उन्हें महाजनपद युग में 'नगरवधू' का सम्मान प्राप्त हुआ हो। पुराणों में उन्हें 'अप्सरा' या 'वाराङ्गना' कहा गया हो या आधुनिक युग में 'कॉलगर्ल' या 'बारडान्सर'। आज मानवाधिकार संगठन इसके विरुद्ध कितनी ही आवाज़ उठायें, क्या वे स्वैच्छिक या विवशतावश किये जाने वाले इस देहव्यापार को रोक पाये हैं ?

किन्तु इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि ऐसी स्त्रियों एवं उनकी सन्तानों के प्रति समाज में असम्मान का भाव नहीं था। उनकी सन्तानें ऋषिपद एवं सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर मातृनाम से पहचानी जाती थीं।[6]

---

1. ऋग्वेद 10.95.5
2. ऋग्वेद 10.95.15
3. ऋग्वेद 10.95.2
4. ऋग्वेद 10.95.13
5. छान्दोग्योपनिषद् 4.2
6. जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि।
   स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति। छान्दोग्योपनिषद् 4.2

अवगुण्ठन या पर्दा

स्त्री के नाना रूपों और अवस्थाओं पर विचार करते हुये यह प्रश्न विचारणीय है कि ऋग्वैदिक युग में स्त्रियाँ अवगुण्ठन या पर्दा करती थीं या नहीं ?

ऋग्वैदिक सन्दर्भों से कहीं भी यह स्पष्ट नहीं है कि स्त्रियाँ पुरुषों से पर्दा करती थीं या उनके अकेले कहीं आने-जाने पर रेक-टोक थी। सूर्या के विवाह के अवसर पर वधू को देखने के लिए सभी को आमन्त्रित किया जाता है -

सूर्यायाः पश्य रूपाणि ।[1]

अपाला नदी में स्नान के लिए एवं इन्द्र को सोम अर्पित करने हेतु सोम की खोज में अकेले ही निकल पड़ती हैं। घोषा स्थान-स्थान पर अश्विनी देवों का गुणगान करते हुये घूमती हैं -

पुराणा वा वीर्या प्र ब्रवा जने ।[2]

जुहू तप के लिए अज्ञातवास में चली जाती हैं , यमी एकान्त द्वीप पर पहुँचकर यम के प्रति प्रणय निवेदन करती हैं। इन्द्राणी इन्द्र के साथ यज्ञीय समारोह और संग्राम में जाती हैं एवं मरुतों को अपना सखा कहती हैं। इनसे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक युग में पर्दाप्रथा नहीं थी एवं स्त्री-पुरुषों की परस्पर मैत्री या सख्य पर कोई सामाजिक बन्धन नहीं था। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में स्त्री-पुरुषों के परस्पर सख्य, आकर्षण एवं एक-दूसरे से सम्बन्ध का वर्णन हुआ है -

1. नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ।[3]

2. मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयाम्ना पथा ।[4]

किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं था कि स्त्रियाँ उच्छृङ्खल थीं। स्वतन्त्र होते हुये भी वे नैतिक मर्यादाओं का पालन करती थीं एवं माता-पिता के अनुशासन में रहती थीं। गृहवधू के रूप में वे सास के साथ ही श्वशुर की भी परिचर्या (भोजन परोसना आदि) करती थीं (सा वसु दधती श्वशुराय)[5]। उनकी देखभाल का दायित्व भी वधू का होता था जैसा कि 'साम्राज्ञी श्वशुरे भव'[6] से सूचित होता है। पुत्रवधू

---

1. ऋग्वेद 10.85.35
2. ऋग्वेद 10.39.5
3. ऋग्वेद 3.33.10
4. ऋग्वेद 9.86.16
5. ऋग्वेद 10.95.4
6. ऋग्वेद 10.85.46

श्वशुर से सीधे बात करती थी या नहीं, इसका कोई स्पष्ट सङ्केत ऋग्वेद में नहीं है। सम्भवतः मर्यादा और सम्मान का पालन करते हुये पुत्रवधू श्वशुर से भी वार्तालाप करती थीं।

स्त्रियों के अधिकार

स्त्री को 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' इस पुरुषार्थ-चतुष्टय को प्राप्त करने का अधिकार था। वैदिक युग में 'गृहस्वामिनी' के रूप में स्त्री को साम्राज्ञी की भाँति गृहव्यवस्था सम्बन्धी सभी अधिकार प्राप्त थे, अतः ब्राह्मण युग में 'जायेव अस्तम्' कहते हुये स्त्री को 'घर' का पर्याय मान लिया गया था। पति से प्रेम एवं सम्मान प्राप्त करने तथा मातृत्व का अधिकार भी स्त्री का था। ब्रह्मवादिनी रोमशा का मन्त्र इसका प्रमाण है।

मातृहीना कन्या को पिता की सम्पत्ति प्राप्त करनेका अधिकार था। पति के संन्यास ग्रहण करने पर पत्नी पति की सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये अधिकृत होती थीं। महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी एवं कात्यायनी इसका उदाहरण हैं।

पति के साथ अथवा स्वयं एकाकी ही यज्ञ करने का अधिकार स्त्री को था। ब्रह्मवादिनी विश्ववारा एवं इन्द्राणी इसकी साक्ष्य हैं। वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में भी स्त्रियाँ सहयोगिनी थीं। ब्रह्मवादिनी घोषा इसका उदाहरण हैं।

पुरंधि[1] (पुरं नगरं दधातीति पुरंधिः) के रूप में नगर सम्बन्धी व्यवस्थाओं में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती थी। शुक्ल यजुर्वेद की राष्ट्रीय प्रार्थना में स्त्रियों के पुरंधि होने की कामना अभिव्यक्त की गई है -

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्.... पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः .... जायताम्।[2]

स्त्रियाँ विदथों (लोक कल्याणकारी सामाजिक संस्थाओं) में स्पष्ट शब्दों में अपना अभिमत व्यक्त करने का अधिकार रखती थीं।[3] वे 'सभा और समिति' जैसी शासकीय संस्थाओं की सदस्य के रूप में चयनित होती थीं -

अहं वदामि नेत्वं सभायामह त्वं वद।[4]

---

1. ऋग्वेद 10.80.1
2. शुक्ल यजुर्वेद 22.22
3. ऋग्वेद 10.85.27
4. अथर्ववेद 7.38.4

वे ऋत की वेधा अर्थात् नीति और नियमों का निर्माण भी करती थीं।[1]

मोक्ष की प्राप्ति के लिये आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करना भी; पुरुषों की ही भाँति स्त्री का भी अधिकार था; यद्यपि इस प्रकार के उदाहरण विरल ही हैं। ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी इसका सर्वोत्तम आदर्श हैं, जो पति की अकूत सम्पत्ति का परित्याग कर ब्रह्मज्ञान की अधिकारिणी बनी थीं।

इस प्रकार वैदिक समाज के दिशा एवं दशा निर्धारण में स्त्रियों की भूमिका निश्चय ही अग्रणी रही है। वर्तमान प्रगतिशील समाज कई सन्दर्भों में उस समाज का अनुकरण कर रहा है।

* * *

1. ऋग्वेद 10.86.10

4. अर्थ व्यवस्था

1. कृषि
2. पशुपालन
3. शिल्प (कुटीर उद्योग) एवं सेवाकार्य
4. वाणिज्य
5. आर्थिक दर्शन

4. अर्थ व्यवस्था

भारतीय संस्कृति में 'अर्थ'को एक पुरुषार्थ मानते हुये उसे मानव-जीवन का प्राप्तव्य लक्ष्य कहा गया है। अर्थ से अभिप्राय जीवन यापन के उन सभी साधनों या उन साधनों को क्रय करने की क्षमता वाले 'धन' से है, जो न केवल मानव की प्राथमिक आवश्यकताओं - भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा एवं स्वास्थ्य को पूर्ण करती हैं, अपितु उसके जीवन को सुखी, समृद्ध एवं सार्थक भी बनाती हैं क्योंकि धर्म और काम नामक पुरुषार्थों की उपलब्धि भी अर्थ से ही सम्भव होती है।

वैदिक आर्यों ने इस 'अर्थ' के प्रति अपनी स्पृहा और अभिलाषा को नाना सन्दर्भों में; अनेक प्रकार से अभिव्यक्त किया है। प्रमुख वैदिक देवताओं में सम्भवत: कोई भी ऐसा देवता नहीं है; जिससे अर्थ की कामना या प्रार्थना न की गई हो। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में ही अग्नि देवता से 'रयि' के लिये निवेदन किया गया है -

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्।[1]

ब्रह्मवादिनी घोषा अश्विनी देवों से प्रार्थना करती हैं कि वे उन्हें धनवानों में मुख्य बनायें -

सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम्।[2]

वैदिक ऋषियों के आर्थिक दर्शन, तत्कालीन अर्थव्यवस्था एवं राष्ट्र और समाज की आर्थिक प्रगति में स्त्रियों की भूमिका के अनेक सन्दर्भ सूत्ररूप में स्त्री ऋषियों के सूक्तों में भी प्राप्त होते हैं। इन सन्दर्भों से वेदकालीन आर्थिक संरचना को निम्न रूपों में देखा जा सकता है-

कृषि

वैदिक अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था। भूमि से कर्षणपद्धति द्वारा धान्य, पुष्प, फल, शाक, कन्द-मूल, क्षौम, कपास आदि सस्यों का उत्पादन 'कृषि' कहा जाता है। ऋग्वेद के ऋषि कवष ऐलूष के अनुसार कृषि वित्तप्राप्ति का एक मुख्य स्रोत है, अत: कृषिकर्म को ही जीविका-अर्जन का आधार बनाना चाहिये -

---

1. ऋग्वेद 1.1.3
2. ऋग्पेद 10.39.2

....कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ।।[1]

ऋग्वेद के अनुसार सर्वप्रथम अश्विन् देवों ने मानव जाति के पूर्व पुरुष मनु को कृषि का प्रायोगिक ज्ञान प्रदान करते हुये 'यव' की कृषि की थी [2] -

दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः ।[3]

अथर्ववेद के एक आख्यान के अनुसार पृथीवैन्य नाम राजा ने हल से भूमि को जोतकर कृषिविद्या का आविष्कार किया था -

तदा इरादोहनसमये मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् । तां पृथीवैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् । ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या जीवन्ति ।[4]

(1) इससे स्पष्ट है कि भूमिरूपी पात्र में; मानवीय प्रयास से; विराट् उर्वराशक्ति के दोहन की प्रक्रिया कृषि है।

(2) कृषि से इरा (अन्न) का दोहन होता है, जो मनुष्य के जीवन का आधार है।

ऋग्वेद के दो महत्त्वपूर्ण सूक्तों- क्षेत्रपति सूक्त (4.57) तथा सीरायुञ्जन्ति (10.101) से वैदिक युग में उन्नत कृषि का ज्ञान होता है। क्षेत्रपति सूक्त में लाङ्गल पद्धति (हल से खींची गई रेखाओं की) अधिष्ठात्री देवी 'सीता' की स्तुति करते हुये कृषि की समृद्धि के लिये प्रार्थना की गई है -

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा ।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ।
शुनः नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ।।[5]

ऋग्वैदिक ग्राम कृषि के मुख्य केन्द्र थे। कृषि योग्य भूमि की संज्ञा 'उर्वरा' थी। ब्रह्मवादिनी अपाला आत्रेयी इन्द्र से प्रार्थना करती हैं कि वे उन्हें उर्वर बनाने के साथ ही उनके पिता के खेत को भी उर्वर बनायें-

---

1. ऋग्वेद 10.34.13
2. ऋग्वेद 1.117.21
3. ऋग्वेद 8.22.6
4. अथर्ववेद 8.5.5.9-12
5. ऋग्वेद 4.57.6,8

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय ।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे ॥[1]

इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि ऋषि भी कृषि द्वारा अन्न उत्पादन करते थे तथा पिता के कृषिकार्य में कन्यायें सहयोगी होती थीं।

कृषि एवं वृष्टि

शस्यसमृद्धि जितनी कृषि क्षेत्र की उर्वरता पर निर्भर करती थी, उतनी ही अच्छी वृष्टि पर भी ; अत: इन्द्र, पर्जन्य, मरुत्, अश्विन् आदि देवों से सुवृष्टि के लिये प्रार्थनाएँ तथा यज्ञों का विधान भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है -

युवं होत्रामृतुथा जुह्वते नरेषं जनाय वहथ: शुभस्पती ।[2]

घोषा के अनुसार शुभ के पति अश्विनूयुगल विभिन्न ऋतुओं में किये गये अग्निहोत्र से प्रसन्न होकर मनुष्य के लिये 'इष' (अन्न) का वहन करते हैं।

वृष्टि और 'इरा' के लिये यज्ञीय विधान वैदिक कृषि की विशेषता है। यजुर्वेद में भी यज्ञ से वृष्टि एवं सस्य समृद्धि की कामना की गई है -

कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च में औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।[3]

उपनिषदों के युग में भी कृषि के लिये यज्ञों का विधान होता रहा। छान्दोग्य उपनिषद् में वृष्टि-विज्ञान पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है -

'...वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते।'[4]

वायु से धूम, धूम से मेघ, मेघ से वृष्टि एवं वृष्टि से ब्रीहि-यव-ओषधि-वनस्पतियाँ-तिल-माष आदि उत्पन्न होते हैं।

---

1. ऋग्वेद 8.80.5
2. ऋग्वेद 10.40.4
3. शुक्ल यजुर्वेद 18.9
4. छान्दोग्योपनिषद् 5.10.5-6

सिंचाई के अन्य साधनों में ऋग्वेद में मातृभूता उन नदियों का भी वर्णन हुआ है, जो पर्वतों की गोद से निकलकर; जल से परिपुष्ट होकर; समुद्र की ओर सतत प्रवहमान रहती हैं।[1] महर्षि याज्ञवल्क्य और गार्गी के शास्त्रार्थ से ज्ञात होता है कि प्राच्य और प्रतीच्य नदियाँ श्वेत हिमयुक्त पर्वतों से निकलकर पूर्व, पश्चिम एवं अन्य दिशाओं में प्रवाहित होती थीं। अत: हिमशिखरों से उद्भूत होने के कारण ये वर्ष-भर जल से परिपूर्ण रहती थीं। जननिवेश नदियों के तट पर होते थे तथा नदी-जल का उपयोग कृषिकार्य के लिये भी किया जाता था।

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित उषस्ति चाक्रायण एवं उनकी पत्नी आटिकी के आख्यान से ज्ञात हेता है कि टिड्डी आदि के आक्रमण से कृषि का विनाश होने पर दुर्भिक्ष या अकाल की स्थिति निर्मित हो जाती थी; जिससे बड़ी संख्या में जनसंख्या का पलायन अन्य जनपदों की ओर हो जाता था। कुरुप्रदेश में एक बार ऐसा भयङ्कर अकाल पड़ा था। अत: वैदिक संस्कृति में शस्य-समृद्धि के लिये दैवी कृपा को आवश्यक माना जाता था।

'इरा', 'इष', 'वाजि', 'अन्न' आदि अन्न की संज्ञाएँ थीं। अन्नोत्पादन में आत्म-निर्भरता एवं अधिकाधिक अन्न एवं सभी के लिये भोजन वैदिक युग का आदर्श था, जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है -

अन्नं बहु कुर्वीत्। तद् व्रतम्। यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्।[3]

'हमारी कामना पर मेघ वर्षा करें। ओषधियाँ फलवती होकर परिपाक को प्राप्त करें' यह प्रार्थना यजुर्वेद के जनगण की भी है -

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।[4]

पशुपालन

वैदिक युग में द्वितीय प्रमुख व्यवसाय या आय का स्रोत था - पशुपालन। यह कृषिप्रधान वैदिक अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये उस युग की आवश्यकता भी थी। गो एवं अश्व पूर्व वैदिक युग के प्रमुख पाल्य पशु थे, जिनमें से अश्व राजकीय कार्यों - रथों में जोतने तथा युद्ध आदि के लिये; समाज के सम्पन्न एवं प्रभावशाली वर्ग - शासकों आदि द्वारा पाले जाते थे; जबकि गोपालन सामन्य 'विश' (जनता) द्वारा भी किया जाता था; क्योंकि कृषि कार्य की सफलता बहुत-कुछ गोधन पर भी निर्भर करती थी।

---

1. ऋग्वेद 3.33.4-6
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 3.8.9
3. तैत्तिरीय उपनिषद् 3.9.10
4. शुक्ल यजुर्वेद 22.22

विशाल क्षेत्रों के कर्षण के लिये शक्तिशाली वृषभों की आवश्यकता होती थी, जिन्हें एक साथ, छः से चौबीस तक की संख्या में हलों में जोता जाता था।[1] अतः वैदिक ऋषियों की शुभाशंसा इन वाहों के प्रति भी रहती थी -

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।[2]

अथर्ववेद में अन्नोत्पादन में; कृषक का प्रमुख सहायक होने के कारण अनड्वान (बैल) की प्रशंसा 'पृथ्वी के धारक' के रूप में की गई है।[3] शक्तिशाली वृषभ जहाँ शस्यसमृद्धि के कारण होते थे, वहीं वृषभ के सदृश रेतस् सम्पन्न पुरुष प्रजा-समृद्धि के। अतः ब्राह्मणग्रन्थों के युग में पशु और समृद्धि परस्पर पर्याय बन गये थे।

पशवो वसुः [4], पशवो वै महः[5], पशवो हि अन्नम् [6], गृहा हि पशवः [7] जैसे कथन इसके प्रमाण हैं।

शस्यमर्दन, शस्य उद्वहन, परिवहन आदि कार्यों के लिये भी वृषभ उपयोगी होते थे। सूर्या जिस रथ पर बैठकर पतिगृह गई थीं, उसमें उज्ज्वल वृषभ जुते हुये थे -

शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या गृहम् ।[8]

पुष्टिकर दुग्ध, दधि, घृत, नवनीत आदि पदार्थों के प्रदान, शस्यपोषक सार (गोबर की खाद) के उत्पादन, कृषिकर्म के प्रधान संसाधन बछड़ों को जन्म देने तथा यज्ञीय कार्यों के लिये हविष्य सामग्री प्रदान करने के कारण ऋग्वैदिक युग में ही 'गौ' को माता की भाँति पूज्य एवं अघन्या (अवध्या) माना गया था। उस युग में गौओं को साक्षात् भाग्य का देवता एवं मङ्गल की मूर्ति समझा जाता था, अतः सभी गोधन की कामना करते थे। प्रत्येक गृह में गोष्ठ या गोशालाएँ होती थीं , जो रंभाने वाली गायों एवं उनके वत्सों से भरी

---

1. षड्गवं भवति द्वादशगवं वा चतुर्विंशतिर्गवं वा। शतपथ ब्राह्मण 2.2.6
2. ऋग्वेद 4.57.4
3. अथर्ववेद 4.10.1.11
4 शतपथ ब्राह्मण 3.7.1.13
5. शतपथ ब्राह्मण 1.8.1.3
6. शतपथ ब्राह्मण 3.7.1.20
7. शतपथ ब्राह्मण 1.8.2.14
8. ऋग्वेद 10.85.10

रहती थीं।[1] ऋषियों के आश्रम एवं राजा की गोशालाएँ गोपालन के बड़े केन्द्र होते थे, जहाँ सैकड़ों-हज़ारों गायें एक साथ पाली जाती थीं।

गृहस्थों द्वारा कन्या के विवाह में दहेज के रूप में गोधन देने की प्रथा थी, जैसाकि सूर्या के विवाह में दिया गया था।[2] गृह के पाल्य पशुओं की देखभाल दुहिता के साथ ही वधू का भी कर्तव्य माना जाता था और यह आशा की जाती थी कि वह उनकी परिचर्या स्नेहपूर्ण आत्मीय भाव के साथ करेगी -

शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।[3]

गोधन का अत्यधिक आर्थिक महत्त्व होने के कारण उनके अपहरण की कथाएँ भी ऋग्वेद में प्राप्त होती हैं। सरमा-पणि संवाद से ज्ञात होता है कि पणियों द्वारा इन्द्र के गुरु बृहस्पति की गायों का अपहरण कर उन्हें दुर्भेद्य दुर्ग में बन्दी बना लिया गया था; जिनका पता लगाने के लिये सरमा को दूती बनाकर भेजा गया था। उस युग में गायों का इतना अधिक महत्त्व था कि राजाओं के युद्ध 'गोधन' के लिये भी होते थे।[4]

ऋषि आश्रम के गौओं की देखभाल एवं उन्हें जंगल में चराने का कार्य शिष्य करते थे। उनके प्रजनन, संख्यावृद्धि आदि का दायित्व भी शिष्यों का समझा जाता था। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित सत्यकाम जाबाल कथा इसका प्रमाण है। सत्यकाम ने ऋषि हारिद्रुमत गौतम की दुर्बल, कृशकाय 400 गायों को जंगल में ले जाकर; समुचित परिचर्या एवं पोषण द्वारा उनकी संख्या एक सहस्र कर दी थी।[5]

गौओं की मूल्यवृद्धि एवं अलङ्करण के लिये उनके सींगों को सोने से मढ़ा जाता था। विद्वत् सभाओं में; शास्त्रार्थ में अन्य विद्वानों को परास्त कर 'श्रेष्ठ अनूचान' या 'ब्रह्मिष्ठ', 'वेदज्ञ' या 'आत्मतत्वज्ञ' होने का गौरव पाले वाले विद्वान को ऐसी गायें पुरस्कार के रूप में प्रदान की जाती थीं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने काशी-पाञ्चाल आदि जनपदों के अनेक तत्त्वज्ञों को परास्त कर विदेहराज जनक से एक सहस्र स्वर्णमण्डित श्रृङ्ग वाली गौयें प्राप्त की थीं।[6]

---

1. (1) आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन् त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
   (2) गावो भगो....गाव: सोमस्य प्रथमस्य भक्ष:।
   (3) भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो। - ऋग्वेद 6.28.1,5,6
2. ऋग्वेद 10.85.13
3. ऋग्वेद 10.85.43
4. ऋग्वेद 10.108
5. छान्दोग्योपनिषद् 4.5
6. बृहदारण्यकोपनिषद् 3.1.2

ऋग्वैदिक युग में गोधन की चिकित्सा एवं पोषण के भी अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। ब्रह्मवादिनी घोषा के अनुसार अश्विन् देवों ने शयु की वृद्धा गाय को पुन: दूध देने वाली बनाया था।[1]

वैदिक आर्यों एवं भारतियों की जीवनशैली और इस भारतभूमि में गौयें इस प्रकार रच-बस गई थीं कि आर्यभाषा में गोष्ठ, गोष्ठी, गवेषणा, गव्यूति, गवाक्ष, गोधूलि वेला आदि लाक्षणिक शब्द प्रचलित हो गये थे।

गौओं के अतिरिक्त अश्वों का पालन समाज के अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न वर्ग या शासक वर्ग द्वारा किया जाता था।

अश्व अपनी आशु (तीव्र)गति के कारण अत्यन्त उपयोगी पशु माने गये थे। ऊँचे-नीचे पर्वतीय प्रदेशों में भी चलने में ये सक्षम थे। ऋग्वेद के साथ ही अन्य संहिताओं में भी; प्राय: सभी देवताओं के तीव्रगामी अश्वों वाले 'मनसोजवीयस्' रथ की सङ्कल्पना प्राप्त होती है, जिनके माध्यम से ये सम्पूर्ण भुवनों में गति करते थे अथवा पृथिवी पर अवतरित होते थे।[2]

राजाओं के युद्ध में अश्वारोही सेना के ये प्रमुख अङ्ग होते थे। युद्ध में विजय; बहुत-कुछ इन अश्वों पर भी निर्भर करती थी। ब्रह्मवादिनी घोषा के अनुसार अश्विन् देवों ने; राजा पेदु को 99 अश्वों के साथ एक उत्तम शुभ्रवर्ण का अश्व भी प्रदान किया था, जिस तेजस्वी अश्व को देखते ही शत्रुसेना भयभीत होकर; युद्धक्षेत्र से पलायन कर जाती थी। वह अश्व सुख-समृद्धि और कल्याण का वाहक एक अमूल्य धन था -

युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम्।
चकृत्य ददथुर्द्रावयत्सखं भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम्॥[3]

आर्य संस्कृति के सप्तसिन्धु प्रदेश से पूर्व की ओर विस्तार होने के साथ ही; कुरु-पाञ्चाल आदि मैदानी जनपदों के पाल्य पशुओं में हस्ति या गज का भी उल्लेख उपनिषत् साहित्य में प्राप्त होता है। छान्दोग्योपनिषद् में कुरु प्रदेश के समीप इभ्यग्राम (हाथीवानों का ग्राम) का वर्णन हुआ है, जहाँ अकालपीड़ित कुरुदेश के ऋषि उषस्ति चाक्रायण ने अपनी पत्नी के साथ आश्रय लिया था तथा हाथीवान् से प्राप्त झूठे उड़द खाकर अपनी प्राणरक्षा की थी। 'इभ्यग्राम' से ज्ञापित होता है कि बड़ी संख्या में हाथी पाले जाते थे, जिनकी देखरेख हाथीवानों या महावतों का कार्य होता था।

---

1. अपिन्वतं शयवे धेनुमश्विना। ऋग्वेद 10.39.13
2. (1) यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो। ऋग्वेद 10.39.13
   (2) आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथम् ... ऋग्वेद 10.39.12
3. ऋग्वेद 10.39.10

यजुर्वेद में प्राप्त 'अविपाल[1]' और 'अजपाल' जैसे अभिधानों से भेड़ एवं बकरियों के पालन का भी ज्ञान होता है।

शिल्प, कुटीर उद्योग एवं सेवाकार्य

वैदिक अर्थव्यवस्था को गति देने वाले नाना प्रकार के शिल्पों के सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं, जो 'गृह उद्योग' या व्यवसाय के रूप में सञ्चालित होते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में एक ही परिवार के सदस्यों द्वारा पृथक्-पृथक् वृत्तियों को अपनाने का सन्दर्भ प्राप्त होता है। ऋग्वेद के ऋषि शिशुराङ्गिरस के अनुसार 'मनुष्य की बुद्धियाँ एवं तदनुरूप वृत्तियाँ अलग-अलग होती हैं। तक्षा काष्ठ चाहता है, वैद्य रोगी को, वेदज्ञ ब्रह्मा (यज्ञविधि का ज्ञाता) यज्ञ करने वाले यजमान को तथा लोहे से कार्य करने वाला कार्मार अपनी वस्तुओं के विक्रय के लिये धनवान व्यक्ति को।

मैं कारु (कवि या शिल्पी) हूँ। मेरे पिता भिषक् हैं और माता उपलप्रक्षिणी (चक्की पीसने वाली) हैं। नाना बुद्धि वाले हम लोग 'वसूयवो' (धन की इच्छा करने वाले) हैं।'[2]

इससे स्पष्ट है कि प्रजा या विश (जन) का एक बहुत बड़ा भाग नाना प्रकारों के उद्योगों, शिल्पों या उद्यमों से भी धन अर्जित करता था। यजुर्वेद के 30 वें अध्याय में 29 शिल्पों के नाम निम्नलिखित शिल्पकारों के रूप में प्राप्त होते हैं -

रथकार, तक्षा, कुलाल (कुम्हार), कर्मार(लुहार), मणिकार, वप्ता(बाल काटने वाले), इषुकार (बाण बनाने वाले), धनुष्कार, ज्याकार (प्रत्यञ्चा बनाने वाले), रज्जुकार, बिदलकारी, कण्टकीकारी (बेंत, बाँस, सरकण्डे आदि से वस्तुएँ बनाने वाली), पेशस्करी (कढ़ाई या कसीदे का काम करने वाली), उत्सादक (उबटन आदि बनाने-लगाने वाले), वासपल्पूली (धोबी), रजयित्री (वस्त्र रङ्गने वाली), अजिनसन्ध (चमड़ा छीलने वालें), चर्मकार (चमड़े का काम करने वाले), हिरण्यकार, वीणावादक, तूणवादक, शङ्खवादक, पाणिघ्न (हाथ से ताल देने वाले), तलव (ताली बजाने वाले), वंशनर्तक (बाँस पर नाचने वाले) और कितव (जुआ या पासे का खेल खेलने वाले)।[3]

यह सन्दर्भ कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह वैदिक युग में शिल्प की समृद्धि और विविधता के साथ ही विशेषज्ञता का भी ज्ञान कराता है। जैसे कि इषुकार, धनुष्कार और ज्याकार तीन अलग-अलग विशेषज्ञ शिल्पी हैं।

---

1. शुक्ल यजुर्वेद 30.11
2. ऋग्वेद 9.112.1-3
3. शुक्ल यजुर्वेद - अध्याय 30

यजुर्वेद के इसी अध्याय में सूत, शैलूष, सभाचर, रेभ, मृगयु (शिकारी), निषाद, भिषक्, नक्षत्रदर्श, प्रश्न विवाक्, हस्तिप, अश्वप, गोपाल, अविपाल, अजपाल, कीनाश (किसान), सुराकार, वित्तध (महाजन), दार्वाहर (लकड़हारा), अभिषेक्ता, उपसेक्ता, उपमन्थिता, क्षत्ता, धीवर, दाश, कैवर्त, किरात, मैनाल, जम्भक, किम्पुरुष, वणिक्, भिक्षुक, चरक, वनपाल, दावप, वनवह्निप, गणक, ग्रामणी आदि अन्य वृत्तियों या पदों के भी सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। स्पष्ट ही वैदिक समाज नाना प्रकार की वृत्तियों, व्यवसायों या सेवाओं से जीवनयापन करता था।

इनमें से कुछ शिल्प ऐसे थे, जिन्हें स्त्रियाँ ही कुशलता और विशेषज्ञता से सम्पादित करती थीं; जैसे कि रजयित्री, बिदलकारी, कण्टकीकारी, वासपल्पूली, अञ्जनकारी, कोशकारी, पेशस्करी आदि। शिल्पकारिणी स्त्रियाँ वस्त्रों को रङ्गने, धोने, काढ़ने आदि का व्यवसाय करती थीं। बाँस और बेंत से कलात्मक आसन, पिटारी आदि बनाने का कार्य भी स्त्रियाँ ही करती थीं। इस प्रकार वैदिक अर्थव्यवस्था में स्त्रियों का योगदान निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण था।

शिल्प और कलाएँ

शिव की उपलब्धि के लिये सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति 'कला' कही जाती है। कलाएँ करती हैं अपूर्ण को पूर्ण, असुन्दर को सुन्दर, अशिव को शिव-मङ्गलमय। कला जीवन का छन्द है, प्राणों का उच्छलन है, चित् तत्व की रचनाधर्मिता का अभिव्यञ्जन है, दिव्य आनन्द का अक्षय उत्स है और है - अर्थप्राप्ति का साधन भी।

अथर्ववेद के 'यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि' मन्त्र में सर्जन में ही मानव जीवन की सार्थकता मानी गई है, अत: मानवीय संस्कृति के इतिहास में प्रागैतिहासिक काल से अद्यतन युग तक कला की एक समृद्ध परम्परा देखी जाती है।

भारतीय कलाओं की सहस्रों वर्ष पुरातन वह महान धरोहर जो वर्तमान कला स्मारकों में सुरक्षित नहीं रह पाई हैं; उन्हें संरक्षित करने का महनीय कार्य प्राचीन वाङ्मय ने किया है। ऋग्वेद भारतीय कला-सर्जना का प्राचीनतम वाचिक साक्ष्य है। स्त्री ऋषियों के सूक्तों में भी कतिपय ऐसे अति महत्वपूर्ण सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनके माध्यम से ऋग्वैदिक शिल्प एवं कला के स्वरूप को जाना जा सकता है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत वाङ्मय में 'शिल्प' एवं 'कला' का पर्याय रूप में प्रयोग हुआ है एवं उनमें कोई विभाजक रेखा नहीं है।

---

1. अथर्ववेद 5.4.1

नृत्य कला

मानवीय आनन्द की प्रथम अभिव्यक्ति सम्भवतः नृत्य के माध्यम से ही हुई है। हाव-भाव, करण-अङ्गहार आदि के साथ लय और ताल के अनुरूप शरीर के अङ्गों का सञ्चालन 'नृत्य' कहा जाता है।[1] नृत्य के साथ वाद्य और गीत की भी योजना होती है। अदिति के देवोत्पत्ति सूक्त में देवों के नृत्य (तीव्र स्पन्दन या गति) का उल्लेख हुआ है -

'अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत।'[2]

यद्यपि नृत्यकला के प्रत्यक्ष सन्दर्भ स्त्री ऋषियों के सूक्तों में नहीं हैं, तथापि नृत्य कला के मूल धर्म-अङ्गसञ्चालन या लयपूर्ण तीव्र गति का ज्ञान इससे होता है।

गीत या सङ्गीत

मन को आनन्दित करने वाली, आरोह-अवरोह के साथ प्रयुक्त स्वरलहरी 'गीत' कही जाती है।[3] यज्ञ, विवाह आदि के शुभ अवसर पर गीत या गान की प्रथा ऋग्वैदिक युग में थी। शिखण्डिनीद्वय के मन्त्रों में पवमान सोम के लिए गान किये जाने का उल्लेख है -

सखाय आ निषीदत पुनानाय प्र गायत।[4]

प्रस्तुत गान में सहगान या समूह गान का सङ्केत है, जो सोम देवता को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था। विवाह के अवसर पर एकत्रित जन-समाज के मनोरञ्जन के लिए लोकप्रसिद्ध गाथाओं के गान की भी प्रथा थी।[5]

वाद्य

वैदिक साहित्य में वीणा, शङ्ख, पणव, तूर्य, दुन्दुभि आदि वाद्यों का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद के अनुसार देवताओं को प्रसन्न करने के लिये 'नाडी' नामक वाद्य स्तुतियों के साथ बजाया जाता था -

---

1. करणान्यङ्गहाराश्च विभावो भाव एव च।
   अनुभावो रसाश्चेति संक्षेपान्नृत्यसंग्रहः। कामसूत्र 1.3.15 पर जयमङ्गला टीका।
2. ऋग्वेद 10.104.1
3. रञ्जकः स्वरसन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते। सङ्गीत रत्नाकर 4.1
4. ऋग्वेद 9.104.1
5. ऋग्वेद 10. 85.6

इयमस्य धम्यते नाडीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ।[1]

जयशील राजाओं की विजय की सूचना 'दुन्दुभि' नामक वाद्य-ध्वनि से दी जाती थी ।[2]

शुभ अवसरों पर 'कर्करि' नामक वाद्य का वादन होता था -

यदुत्पतन्वदसि कर्करिर्यथा ।[3]

ऋग्वेद के 'अरण्यानी' सूक्त में 'आघाटी' नामक वाद्ययन्त्र का उल्लेख है, जिससे नाना प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न की जा सकती थीं ।[4]

कठोपनिषद् में गीत-वाद्य आदि में निपुण दिव्याङ्गनाओं का वर्णन हुआ है, जो अपने रूप एवं शिल्प से देवों का रञ्जन करती थीं -

इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।[5]

स्त्रियाँ इन कलाओं से अर्थोपार्जन भी कर सकती थीं ।

नेपथ्य योग

प्रसाधन कला की पारिभाषिक संज्ञा 'नेपथ्य योग' थी । कामसूत्र के टीकाकार यशोधर के अनुसार देश और काल के अनुरूप वस्त्र, माल्य, आभूषणादि से स्वयं को या दूसरों को शोभा के लिए मण्डित करने की कला 'नेपथ्ययोग' कही जाती है ।[6] नेपथ्ययोग कलात्मक रूप से सुसज्जित होने या करने की कला थी। स्नान के पश्चात् नेपथ्य विधि प्रारम्भ होती थी । वधू-नेपथ्य; नेपथ्य कला का श्रेष्ठ प्रतिमान माना जाता था, जिसके निम्नलिखित अङ्गों का निरूपण स्त्री ऋषियों के सूक्तों में हुआ है -

1. केशरचना

सघन, चिक्कण काले केशों की सुन्दर रचना 'केशरचना' कही जाती थी। वधू के केशों को विशेष रूप से सजाया जाता था। सूर्या के विवाह सूक्त में दो प्रकार की केश रचनाओं का उल्लेख हुआ है - ओपश और कुरीर।

1. ऋग्वेद 10.135.7
2. ऋग्वेद 1.28.5
3. ऋग्वेद 2.43.3
4. ऋग्वेद 10.146.2
5. कठोपनिषद् 1.1.25
6. कामसूत्र 1.3.15 पर जयमङ्गला टीका

कुरीरं छन्द ओपशः ।[1]

यद्यपि प्रस्तुत मन्त्र में 'कुरीर' और 'ओपश' रथ के सन्दर्भ में प्रयुक्त हैं, तथापि अन्य वेदों में केशसज्जा या आभरण के अर्थ में आये हैं -

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वोपशा ।[2]

किसी स्पष्ट सङ्केत के अभाव में ओपश और कुरीर के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनायें की गई हैं। पण्डित बलदेव उपाध्याय के अनुसार जब केशों को गोलाकार रूप में लपेट कर ऊपर एक गाँठ बाँध दी जाती है, तब इस केशरचना को 'ओपश' कहते हैं।[3] त्सिमर के अनुसार यह सम्भवतः एक प्रकार की कृत्रिम वेणी है।[4] शृङ्गाकृति केशरचना या केशों में धारण किये जाने वाले स्वर्णाभरण[5] को 'कुरीर' कहा गया है।

विद्वानों का अभिमत जो भी हो, इससे यह तो स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक युग में केशों की विशिष्ट रचना और उन्हें अलंकृत करने की कला परिज्ञात थी।

2. अनुलेप या अङ्गराग

त्वचा की कान्ति, श्री और शोभा को बढ़ाने तथा शरीरावयवों को सुवासित करने के लिए अनुलेप या अङ्गराग का प्रयोग चिरन्तन काल से ही स्त्री-पुरुष करते रहे हैं। अनुलेप भी नेपथ्ययोग का एक अङ्ग माना जाता था। पुरूरवा-उर्वशी संवाद के अन्तर्गत सुजूर्णि, श्रेणि आदि अप्सराओं को अरुण अङ्गराग से रञ्जित कहा गया है।[6] शीतकाल में प्रायः स्त्रियाँ अपने कपोल, वक्षःस्थल आदि पर कुङ्कुम (केसर) का लेप करती थीं। नेत्रों की ज्योति और सौन्दर्य अञ्जन (काजल) से बढ़ाई जाती थी।[7]

3. वस्त्रयोग

ऋग्वैदिक युग में भी सुन्दर नेपथ्य या मनोज्ञ वेश की योजना में वस्त्रों का विशेष महत्त्व था। ऋतु और प्रसङ्ग के अनुकूल विविध प्रकार के सुन्दर वस्त्रों को कलात्मक ढङ्ग से धारण किया जाता था। वधूवेश में माङ्गल्य, सुसंस्कृत रुचि और शुद्धि या पवित्रता का विशेष ध्यान रखा जाता था -

1. ऋग्वेद 10.85.8
2. यजुर्वेद 11.56
3. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पञ्चम संस्करण, पृष्ठ 447
4. वैदिक इण्डैक्स, भाग 1, पृष्ठ 140
5. यजुर्वेद 11.56 पर महीधर-भाष्य
6. ऋग्वेद 10.95.6
7. ऋग्वेद 10.85.7

सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ।[1]

विवाह-सूक्त में नववधू के वेश में तीन प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख हुआ है - आशसन, विशसन और अधिविकर्तन -

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा नु शुन्धति ।।[2]

आशसनम् अर्थात् धारीवाला या झालर वाला वस्त्र, विशसनम् अर्थात् सिर पर धारण किया जाने वाला चमकीला वस्त्र तथा अधिविकर्तनम् अर्थात् विशेष रूप से थान को काटकर बनाया गया सिला हुआ वस्त्र। ब्रह्मा (ब्राह्मण) द्वारा शुद्ध किये गये वस्त्रों से वधू का रूप निखर उठता था। यात्रा के समय वधू ऊपर से एक चादर ओढ़ती थी -

चित्तिरा उपबर्हणम् ।[3]

जैसाकि सूर्या ने विदाई या पतिगृह गमन के समय धारण किया था। एक अन्य वस्त्र द्रापि[4] का भी उल्लेख प्राप्त होता है। यह सम्पन्न वर्ग के पुरुषों द्वारा धारण किया जाने वाला सुनहरी ज़री का जैकेट जैसा वस्त्र था।

वैदिक युग में वस्त्रों को बुनने एवं सिलने; दोनों ही प्रकार के व्यवसाय प्रचलित थे। वेदकालीन समाज में इस उद्योग में स्त्रियों की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। स्त्रियाँ स्वयं सूत कातती थीं। ताने-बाने से कपड़ा बुनती थीं तथा वस्त्र तैयार करती थीं। अपनी कल्पना शक्ति का प्रयोग करते हुये सुन्दर, आकर्षक एवं दीर्घकाल तक चलने वाले गुणवत्तापूर्ण वस्त्रनिर्माण का प्रयास करती थीं -

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तां अभितोऽददत्त ।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ।।[5]

सुनहरे या रङ्ग-विरङ्ग धागे से उन पर कसीदाकारी भी की जाती थी। इस प्रकार वस्त्रों पर नाना आकृतियों या रूप की रचना करने वाली शिल्पी स्त्रियाँ 'पेशस्करी'[6] कही जाती थीं।

---

1. ऋग्वेद 10.85.6
2. ऋग्वेद 10.85.35
3. ऋग्वेद 10.85.7
4. ऋग्वेद 9.96.14
5. अथर्ववेद 14.1.45
6. शुक्ल यजुर्वेद 30.9

साम्राज्ञी श्वशुरे भव साम्राज्ञी श्वश्वां भव ।
ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधि देवृषु ॥[1]

(9) देवयज्ञ

नववधू के गृहप्रवेश के पश्चात् वातावरण की शुद्धि एवं अशुभ के विनाश [2] के लिये देवयज्ञ का विधान किया जाता था, जिसमें देवताओं से सौभाग्य, दीर्घायुष्य एवं दस वीर पुत्रों के लिये प्रार्थना की जाती थी -

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानां धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥[3]

(10) वधूदर्शन (मुँह दिखाई) एवं आशीर्वाद -

पतिगृह में नवजीवन का प्रारम्भ करने वाली वधू के लिये गुरुजनों का आशीर्वाद एवं शुभाशंसा एक बहुत बड़ा सम्बल बनता था। देवयज्ञ के पश्चात् वधू के लिये आशीर्वाद समारोह का आयोजन किया जाता था। सभी समागत ज्ञाति-बन्धु वधू को सौभाग्य का आशीर्वाद देकर अपने-अपने घरों को प्रस्थान करते थे -

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं विपरेतन ॥[4]

(11) वधू को उपदेश एवं शिक्षा -

वधू को परिवार की रुचि के अनुकूल भोजन बनाने तथा परिवार के सभी सदस्यों, यहाँ तक कि पालित पशुओं के प्रति भी द्वेषरहित तथा स्नेहशील होने की शिक्षा दी जाती थी -

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।[5]

(12) समञ्जन एवं पति-पत्नी का मिलन -

विवाह विधि की पूर्णता पति-पत्नी के समञ्जन अर्थात् मिलन, मन-प्राण और वचन से एक होने में मानी गई थी; अतः सूर्या कहती हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.85.42,46
2. ऋग्वेद 10.85.31-32
3. ऋग्वेद 10.85.45
4. ऋग्वेद 10.85.33
5. ऋग्वेद 10.85.34,43

को सम्पूर्ण शरीर के कण-कण तक पहुँचाता है। ऊर्जा की सृष्टि के लिए अग्नि को हवि की आवश्यकता होती है। सृष्टि-प्रक्रिया में अग्नि में सोम की निरन्तर आहुति दी जाती है। मनुष्य भी अपनी जठराग्नि में भक्ष्य और पेय पदार्थों की निरन्तर हवि देता है। इस हवि को ही 'आहार' कहा गया है।

ऋग्वैदिक आर्यों का भोजन सादा, पौष्टिक और सात्विक होता था। मधुर, अम्लादि रस या आस्वाद के आधार पर यह कई प्रकार का होता था। पाक कला का विशेषज्ञ रस और आस्वाद का विशेष जानकार होता था, जो परिवार में समागत पुत्रवधू को इसकी शिक्षा देता था -

तृष्टमेतत् कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे ।
सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात् स इद्वाधूयमर्हति ॥[1]

परिवार के उत्तम स्वास्थ्य के लिये यह आवश्यक था कि गृहिणी को भक्ष्य और अभक्ष्य या हानिकारक भोजन की जानकारी हो, अत: यह अन्न तीखा अर्थात् तृष्णा और दाह को उत्पन्न करने वाला (तृष्ट) है, यह कटु और पित्त को बढ़ाने वाला है, यह घृणित और विषाक्त है, इस प्रकार की शिक्षा वधू को दी जाती थी।

स्त्री ऋषियों के सूक्तों में निम्नलिखित भोज्य पदार्थों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जो इन्द्र देवता को अर्पित किये जाते थे -

1.धाना - भुने हुये जौ की लाई धाना कही जाती थी। वर्तमान में जिस प्रकार धान (चावल) की लाई का उपयोग होता है, उसी प्रकार ऋग्वेदिक युग में धाना का प्रयोग होता था।

2.करम्भ - जौ के आटे में दही मिलाकर करम्भ बनाया जाता था।

3. अपूप - आटा, दूध, घृत और गुड़ आदि से तैयार किया गया अपूप (मालपूआ) इन्द्र को विशेष प्रिय था। ये तीनों ही प्रकार के भोज्य पदार्थ इन्द्र देवता को प्रसन्न करने के लिए सोम रस के साथ अर्पित किये जाते थे -

इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ।[2]

इन्द्र की पुत्रवधू वसुक्रपत्नी भी इन्द्र के भोजन में धाना की चर्चा करती हैं।

4. घृत - भोजन में घृत का उपयोग पुष्टि, शक्ति और तृप्ति के लिये किया जाता था। अप्सरा उर्वशी ने पुरूरवा के घर में रहते हुये जिस घृत का अशन किया था, उसकी तृप्ति का अनुभव वे लम्बे समय तक करती रही थीं -

---

1. ऋग्वेद 10.85.34
2. ऋग्वेद 8.80.2

घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि ।[1]

मक्खन से स्वादिष्ट घृत तैयार करना भी पाककला का ही एक अङ्ग था।

उपनिषदों के युग में ब्रीहि (चावल) से बने हुये, नाना प्रकार के ओदनों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जैसे कि क्षीरौदन, दध्योदन, उदौदन (जल में पकाया गया भात), तिलौदन, माँसौदन आदि ।[2]

कठोपनिषद् में ओदन के साथ उपसेचन (रसेदार शाक आदि) का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] भोजन बनाने के लिये लवण[4] (सैन्धव खिल्य) एवं महाराजन (हल्दी)[5] का प्रयोग भी होता था।

घरों में भोजन पकाने, परोसने आदि का कार्य स्त्रियाँ ही करती थीं। पाककला की सिद्धि या सफलता भोजन के उत्तम स्वाद और भोजनकर्ता की तृप्ति में मानी जाती थी ।[6]

पानक रस एवं आसव निर्माण

जल ही जीवन है। इस जीवन रस से स्वयं को जीवन्त करने के लिए मानव ने विभिन्न प्रकार के पेय पदार्थों को बनाने की कला विकसित की है। इस कला को वात्स्यायन ने 'पानक रस राग आसव-योजनम्' कहा है। वात्स्यायन के टीकाकार यशोधर के अनुसार पेय दो प्रकार के हैं -

1. अग्नि निष्पाद्य - आग में पकाकर तैयार किये गये, सूप आदि।
2. अनग्नि निष्पाद्य - आग में बिना पकाये तैयार किये गये, शरबत, फलों का रस, मधु आदि।[7]

ऋग्वैदिक युग में निम्नलिखित पेयोंका निर्माण एवं उपयोग होता था -

1.मन्था -

दही को मथकर मन्था या मठ्ठा बनाया जाता था। सोमरस के समान मन्था भी इन्द्र को प्रिय था। इन्द्राणी के शब्दों में दधिमन्थन का शब्द मात्र ही इन्द्र को आनन्द देने वाला होता था -

---

1. ऋग्वेद 10.95.16
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 6.4.14
3. कठोपनिषद् 1.2.25
4. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.12
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.3.6
6. स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्। ऋग्वेद 10.28.1
7. कामसूत्र 1.3.15 पर जयमङ्गला टीका

मन्थस्त इन्द्र शं हृदे ।[1]

इस सन्दर्भ में यह भी सूचित होता है कि मन्था हृदय के लिए पुष्टिकारक होता था। गृह की वधुयें और कन्यायें प्रतिदिन दही को मथकर ताजा मक्खन निकालती थीं एवं मन्था का उपयोग दैनन्दिन भोजन में पेय के रूप में होता था।

2. मधु -

मधु का उपयोग भोजन को मधुर (मीठा) बनाने के लिए किया जाता था। आसव के निर्माण में भी मधु का प्रयोग होता था। मधु को द्रवित कर पेय के रूप में भी उपयोग होता था। घोषा के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि मधु मक्षिका द्वारा सञ्चित मधु का पान विलासिनी स्त्रियाँ मादक या शक्तिवर्धक पेय के रूप में करती थीं -

युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वा सा भरत निष्कृतं न योषणा ।[2]

कालिदास के साहित्य में स्त्रियों के मधुपान का बहुल वर्णन हुआ है।

3. सोमरस -

सोमरस वैदिक आर्यों का सर्वाधिक प्रिय पेय था, जिसे वे सोमयागों में देवताओं को समर्पित करने के पश्चात् स्वयं पीते थे। सोमलता से रस निकालने की क्रिया 'अभिषव' कही जाती थी। अधिक रस प्राप्त करने के लिए सोम को पहले पानी में भिगो दिया जाता था, फिर पत्थरों से कूटकर, ऊन की छन्नी से रस को कलशों में चुआया जाता था। यह रस हरे-भूरे रङ्ग का होता था। सोमयागों के लिए सोम अभिषव की क्रिया यज्ञीय विधि-विधान का अङ्ग थी, जिसे यथाविधि मन्त्रोच्चार और स्तोत्रों के साथ सम्पन्न किया जाता था।

गाढ़े सोमरस को तरल और पीने योग्य बनाने के लिए जल के साथ तथा अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिए दूध के साथ मिलाया जाता था। इस मिश्रण की; उपमाओं के साथ सरस काव्यात्मक अभिव्यक्ति स्त्री ऋषियों के मन्त्रों में हुई है -

मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयाम्ना पथा ।[3]

जैसे पुरुष स्त्रियों से मिलते हैं, वैसे ही सोम जल से मिलते हैं।

---

1. ऋग्वेद 10.86.15
2. ऋग्वेद 10.40.6
3. ऋग्वेद 9.86.16

गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि ।[1]

सोमरस के साथ दूध के मिश्रण से सोम का रङ्ग (वर्ण) निखर उठता था। यह आकर्षक पेय 'मधु, मादक और द्विशवस्' अर्थात् शरीर और मानसिक द्विविध बल को बढ़ाने वाला होता था।[2]

सामान्य रूप से सभी देवों को सोम रस प्रिय था, तथापि इन्द्र देवता का इस पेय के प्रति विशेष प्रेम वर्णित हुआ है। सोमप्रेम के कारण वे अपाला द्वारा दाढ़ों से चबाकर निकाले गये रस के ग्रहण में भी सङ्कोच नहीं करते हैं। सोमप्रेम के कारण ही इन्द्र को 'सोमपा', 'सोम -पावन' आदि की उपाधियाँ दी गई हैं। यह सोमरस ही उन्हें अलौकिक महान कार्यों; यथा - पृथ्वी और आकाश का धारण, पृथ्वी का विस्तार, वृत्रवध आदि के लिए उत्तेजित और समर्थ करता है।

घरेलू उपयोग के लिए सोम-अभिषव का कार्य स्त्रियाँ ही करती थीं। वे इस कला में विशेष निपुण होती थीं। वसुक्रपत्नी[3] और इन्द्राणी के द्वारा प्रस्तुत सोम रस इन्द्र के लिए विशेष तृप्तिदायक और आनन्दप्रद होता था। विशिष्ट जनों और प्रिय के प्रति अनुराग और प्रेम की अभिव्यक्ति इस पेय के माध्यम से की जाती थी।[4]

धातु-कर्म

ऋग्वैदिक आर्य अयस्, ताम्बा, सोना, चाँदी आदि धातुओं को गलाकर विभिन्न प्रकार के उपयोगी उपकरण और आभूषण बनाने की कला में निपुण थे। अयसादि धातुओं को गलाने का कार्य करने वाले शिल्पी की संज्ञा 'कर्मार' थी। अदिति दाक्षायणी के सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि सृष्टि-रचना के लिए ब्रह्मणस्पति ने, सृष्टि-रचना के उपादानों को उसी प्रकार प्रज्ज्वलित किया था, जिस प्रकार कर्मार (लुहार) धौंकनी से अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है -

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत् ।[5]

इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि आज से लगभग पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व ही धातुशिल्प विकसित हो चुका था। हिरण्य अथवा सुवर्ण एक बहुमूल्य धातु मानी जाती थी। उसे आयुष्य को बढ़ाने वाला एवं कान्तिवर्धक माना गया था।[6]

1. ऋग्वेद 9.104.4
2. ऋग्वेद 9.104.2
3. ऋग्वेद 10.28.1
4. ऋग्वेद 10.86.15
5. ऋग्वेद 1.72.2
6. आयुष्यं वर्चस्वं रायस्यपोषमौद्भिदम्। वाजसनेयी संहिता 34.50

यह खानों से निकाला जाता था तथा अग्नि में तपाकर शुद्ध किया जाता था। इससे नाना प्रकार के आभूषण - निष्क[1], रुक्म[2] आदि बनाये जाते थे। सुवर्णाभूषणों के निर्माता शिल्पी 'हिरण्यकार' या 'सुवर्णकार' कहलाते थे। हिरण्यमय पात्रों का निर्माण भी होता था।[3]

काष्ठ शिल्प या तक्षण कला

तक्ष् (काटना : या छीलना) धातु से बने 'तक्षणम्' शब्द का अर्थ है लकड़ी को काट-छीलकर आसन, शयन, रथ आदि बनाने की कला, जिसे वर्धकी कर्म[4] (बढ़ई का काम), दारुकर्म[5], तथा काष्ठविधि[6] या काष्ठशिल्प कहा गया है। चित्रकला की भाँति ही इस कला का उद्गम भी उस प्रागैतिहासिक युग में हुआ, जब मानव ने पत्थरों को तराशकर, घिसकर और चिकना करके परिष्कृत औजार, बरतन और आभूषणों के मनके आदि बनाना सीखा। उसी युग में धारदार पत्थरों से हड्डी और लकड़ी को काट-छीलकर भी विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाये गये।

ऋग्वैदिक युग काष्ठशिल्प की विशेष उन्नति का युग था। यहाँ सम्पूर्ण सृष्टि की कल्पना ही एक उत्कृष्ट तक्षणशिल्प के रूप में की गई है -

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।[7]

काष्ठशिल्प के अन्तर्गत निम्न उपकरणों का निर्माण किया जाता था -

1. रथ -

ऋग्वैदिक तक्षणकला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'रथ' था। उस युग में आवागमन का मुख्य साधन रथ ही था जिनसे नदियों को भी पार कर लिया जाता था। लम्बी, सुगम और दुर्गम सभी प्रकार की यात्रायें रथ से ही की जाती थीं।[8] रथ का उपयोग युद्ध और सवारी दोनों के लिए ही होता था। सम्पन्न वर्गों में रथों का

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 4.2.1-3
2. ऋग्वेद 2.34.2 ; अथर्ववेद 14.2.30 ; शतपथ ब्राह्मण 6.7.1, 1-2.
3. शुक्ल यजुर्वेद 40.17
4. वर्धकयश्चैव - रामायण- अयोध्याकाण्ड 80.2
5. नाट्यशास्त्र 2.80
6. नाट्यशास्त्र 2.84
7. ऋग्वेद 10.81.4
8. ययाथ दूरादनसा रथेन। ऋग्वेद 3.33.10

प्रयोग इतना अधिक था कि इन्द्र, सविता, अश्विनी, उषा आदि देवताओं के रथ की भी कल्पना कर ली गई थी।[1] नववधू पतिगृह की यात्रा रथ से ही सम्पन्न करती थी।[2] रथशिल्प के कुशल शिल्पी भृगु माने गये थे। इनमें पुराने रथों को भी चलने योग्य बनाने की क्षमता थी -

युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षतुः।[3]

रथ के विभिन्न अङ्गों एवं रथ की कारीगरी का ज्ञान घोषा एवं सूर्या के सूक्तों से होता है।

रथ का निर्माण किंशुक पलाश या शाल्मली (सेमल) की दोषरहित लकड़ी से किया जाता था। इसे सुसज्जित करने के लिए नाना प्रकार की रूपाकृतियाँ या अलङ्करण बनाये जाते थे, जिनमें सुनहरे रङ्ग भरे जाते थे या सोने के पत्तरों का उपयोग होता था। इसके चक्र सुन्दर और सुडौल होते थे। सूर्या ने पतिगृह गमन के समय जिस रथ पर आरोहण किया था, उसमें ये सभी विशेषतायें थीं -

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।[4]

श्रेष्ठ रथ मन से भी अधिक तीव्र गति वाले 'मनसोजवीयस्' होते थे -

आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं ये वामृभवश्चक्रुरश्विना।[5]

सर्वत्र गमन की सहज शक्ति (परिज्मा) और सुवृतता या श्लक्ष्णता इनकी अन्य विशेषतायें थीं। रथ की गति वाहों और चक्रों पर निर्भर करती थी, जो अक्ष से दृढ़तापूर्वक जुड़े रहते थे -

शुचि ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।[6]

ब्रह्मवादिनी घोषा के समग्र सूक्त में अश्विनी देवताओं के रथ की भूरिशः प्रशंसा की गई है। इस प्रकार सभ्यता-संस्कृति, कला-शिल्प और विज्ञान के क्षेत्र में मानव जाति की एक सुन्दरतम उपलब्धि थी- रथ, जिसने जीवन को गति दी थी और समग्र विश्व को सुगम बनाया था।

---

1. वां परिज्मा सवृदश्विना रथो। ऋग्वेद 10.39.1
2. अश्विना त्वा प्र वहतां रथेन। ऋग्वेद 10.85.26
3. ऋग्वेद 10.39.4
4. ऋग्वेद 10.85.20
5. ऋग्वेद 10.39.12
6. ऋग्वेद 10.39.1

2.अन या अनस्

जन सामान्य आवागमन और माल ढोने के लिए अनस् या बैलगाड़ी का उपयोग करता था। ऋषि विश्वामित्र ने दक्षिणा में प्राप्त धन को अनस् से ही वहन किया था। यात्री रथ पर और सामान अनस् पर चलता था, जैसा कि विश्वामित्र-नदी संवाद से ज्ञात होता है -

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन ।[1]

अनस् भी काष्ठशिल्प के अच्छे उदाहरण थे। प्रतिधि (ईषा), छदि (छादन या छत), युग (जुआ) तथा चक्र इसके प्रमुख अङ्ग थे। अनस् में तीव्रगामी दो बैल जोड़े जाते थे। अनस् की गति को भी मन से जोड़ा गया है।[2]

इस प्रकार जीवन के प्रति अक्षय उत्साह और आनन्द से भरे हुये आशावादी आर्यों ने कलाओं के माध्यम से आनन्द, अमृत और अर्थ की उपासना की थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि सुन्दर शिल्प वाले 'सुहस्ताः' ऋभु अपने शिल्प से अमृत के मार्ग पर चलते हुये देवों में सम्मिलित हुये थे -

अथैत वाजा अमृतस्य पन्थां गणं देवानामृभवः सुहस्ताः ।[3]

वाणिज्य या व्यापार

उत्पाद्य वस्तुओं का आयात-निर्यात, वाणिज्य या व्यापार भी वैदिक अर्थव्यवस्था का अङ्ग था। स्थलमार्ग में व्यापार अनस् या रथ से होता था, तो जलमार्ग में नावों और पोतों से। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में 'शतारित्र' (सौ पतवारों वाली विशालकाय)[4] नावों का उल्लेख है। ब्रह्मवादिनी घोषा के अनुसार अश्विन देवों ने नावदुर्घटना के कारण समुद्र में डूबते हुये भुज्यु को बचाया था।[5] व्यापार से जुड़े हुये वाणिज्य, वणिक जैसे पद यजुर्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होते हैं।[6] व्याज पर धन देने वाले व्यक्ति को कुसीदी[7] कहा जाता था।

---

1. ऋग्वेद 10.85.12
2. ऋग्वेद 3.33.10.
   स्तोमा आसन् प्रतिधयः। शुक्रावनडुहावास्तां यदयात् सूर्या गृहम्।
   मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुतच्छदिः। ऋग्वेद 10.85.8,10
3. ऋग्वेद 4.35.3
4. ऋग्वेद 1.116.5; अथर्ववेद 17.1.26 ; .
5. ऋग्वेद 10.40.7
6. वाणिज्या - शतपथ ब्राह्मण 1.6.4.11
7. शतपथ ब्राह्मण 13.4.3.11

उपनिषदों में श्रेष्ठी[1] या प्रधान व्यापारी का भी उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार वैदिक अर्थ-व्यवस्था के आधार थे - कृषि, पशुालन, शिल्प, सेवाकार्य एवं व्यापार। अन्न, वस्त्र, सुन्दर गृह, पत्नी, पुत्र, परिवार, वाहन सामाजिक प्रतिष्ठा और यश ऋग्वैदिक काल से ही मनुष्य के लिये काम्य थे, किन्तु वैदिक अर्थव्यवस्था का प्रमुख वैशिष्ट्य उसका लोकरञ्जनकारी रूप था।

आर्थिक दर्शन

समाज के सभी वर्ग सम्पन्न हों, जीवन में उन्नति और अभ्युदय के अवसर सभी को प्राप्त हों, धन एक ही केन्द्र में सञ्चित न हो, अपितु सभी के पास पहुँचे और रुचि के अनुसार सभी वृत्ति का वरण करते हुये स्वयं के भरण-पोषण के साथ ही समाज के पोषण में भी सहयोगी हों, इस प्रकार की भावना वैदिक युग में सर्वत्र परिलक्षित होती है।

वैदिक निघण्टु कोश में परिगणित मघम्, रिक्थम्, रत्नम्, क्षत्रम्, भगः आदि 28 नामें में से कतिपय अभिधानों के विवेचन से तत्कालीन आर्थिक दर्शन का ज्ञान होता है।

1. वसु

वस् (निवासे) धातु से 'उ' प्रत्यय लगकर निषपन्न 'वसु' से अभिप्राय उस धन, सम्पदा, ऐश्वर्य या वैभव से है, जिसमें मनुष्य की सभी इच्छायें और कामनाएँ निवास करती हैं। वैदिक आर्यों की इच्छा सभी प्रकार की वसुओं को प्राप्त करने की थी, अतः बार-बार 'विश्वं वसु', 'विश्वा वसूनि'[2] जैसे पदों का प्रयोग हुआ है। 'सोम' देवता को दिव्य एवं पार्थिव वसुओं को धारण करने वाला कहा गया है -

अस्मे वसूनि धारय सोम दिव्यानि पार्थिवा।[3]

तो 'वाक्' को वसुओं को प्राप्त कराने वाली -

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्।[4]

2. रयि

धन के लिये प्रयुक्त द्वितीय पद है 'रयि'। यास्क के अनुसार 'रयि दानार्थक रा' धातु से निष्पन्न है एवं 'धन' का नाम है -

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.12
2. ऋग्वेद 1.41.6, 10.21.6, 10.83.3
3. ऋग्वेद 9.63.30
4. ऋग्वेद 10.125.3

रयिरिति धन नाम । रातेर्दानकर्मणः ।[1]

'रीङ् गतौ' धातु से भी रयि की निष्पत्ति माने हुये रयि की व्याख्या निम्न रूपों में की गई है -

गम्यते प्राप्यते पुण्येन, गच्छत्यनेन तृप्तिं भोगसाधनत्वात्, यशो वाऽऽदत्ते, दीयतेऽर्थिभ्य इति वा ।[2]

रयि पुण्य से प्राप्त होता है, उपभोग के साधन रयि से प्राप्त होते हैं, रयि मानव के लिये यश लाता है । अर्थी या याचकों को यह दान में दिया जाता है ।

ऋग्वेद में रयि के लिये भी प्रार्थनायें प्राप्त होती हैं -

अस्मे रयिं रासि वीरवन्तम् ।[3] **ऊर्जां पते रयिं रास्व सुवीर्यम् ।**[4]

3. भग

भज् (सेवायाम्) धातु से निष्पन्न 'भग' पद भी धन के अर्थ में प्रयुक्त है , जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है -

भगः धनम् । भज्यते सेव्यते भोगार्थिभिः ।[5]

सांसारिक सुखों और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये 'भग' (धन) का सेवन किया जाता है । ब्रह्मवादिनी घोषा ने अश्विन् देवों को भग का प्रदाता कहा है -

ददथुः ....भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम् ।[6]

4. मघ

वैदिक साहित्य में 'मघ' पद का प्रयोग भी धन के लिये बहुलता से हुआ है । यास्क के अनुसार दानकर्मा 'मंह्' धातु से 'मघ' शब्द निष्पन्न है -

---

1. निरुक्त 4.17
2. निघण्टु 2.10.8
3. ऋग्वेद 2.11.13
4. ऋग्वेद 8.23.12
5. निघण्टु 2.10.10
6. ऋग्वेद 10.39.10

मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मण: ।[1]

हवि प्रदान करने वाले यजमानों और स्तोताओं को धन प्रदान करने वाले इन्द्र की विशेष उपाधि 'मघवा' है, तो सूनृत की प्रेरिका सौभाग्य की दायिका उषा की 'मघोनी'। ऋग्वेद की ऋषिका घोषा अश्वि देवों से प्रार्थना करती हैं कि वे उन्हें मघवानों में श्रेष्ठ बनायें -

सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम् ।[2]

5. द्रविण

गत्यर्थक 'द्रु' धातु से 'इनन्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न द्रविण का अर्थ निरुक्त में 'धन' अथवा 'बल' किया गया है -

1. धनं द्रविणमुच्यते । यदेनमभिद्रवन्ति ।
2. बलं वा द्रविणम् । यदनेनाभिद्रवन्ति ।[3]

व्यक्ति धन के प्रति, द्रवित होते हैं (दौड़ते हैं) अथवा धन में द्रव शक्ति अर्थात् एक से दूसरे के पास पहुँचने की शक्ति होती है। ऋग्वेद की ऋषिका वागम्भृणी कहती हैं कि हवि देने वाले यजमान को वागृदेवी द्रविण प्रदान करती हैं -

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।[4]

6. धन

धारणार्थक 'धा' धातु से धन शब्द निष्पन्न होता है। धन में ही उस सामर्थ्य या शक्ति को धारण करने की क्षमता होती है, जिससे मनुष्य अपनी भौतिक एवं अन्य आवश्यकताओं की वस्तुयें क्रय करता है। 'धृष्णवे धीयते धना'[5], 'अधापि वृषा चोदस्व महते धनाय'[6], 'इदं धनं निदधे'[7], जैसे वैदिक सन्दर्भ धन की धारणात्मिका शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं।

---

1. निरुक्त 1.7
2. ऋग्वेद 10.39.2
3. निरुक्त 8.1
4. ऋग्वेद 10.125.2
5. ऋग्वेद 1.83.3
6. ऋग्वेद 1.104.7
7. अथर्ववेद 11.2.28

7. वित्तम्

विदलृ लाभे धातु से 'क्त' प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'वित्त' व्यक्ति द्वारा प्राप्त किये गये या प्राप्त किये जाने योग्य धन या अर्थ का सूचक है। ऋग्वेद के ऋषि कवष ऐलूष के अनुसार कृषि ही वह वृत्ति या आर्य धर्म है, जिसके द्वारा अर्जित वित्त में ही आत्मसन्तोष और सुख पाया जा सकता है -

कृषिमित्कृषस्व। वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।[1]

8. भोजनम्

'भुज्' धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'भोजनम्'- 'भुज्यतेऽनेन विषया' (इसके द्वारा विषयों का उपभोग किया जाता है) अर्थ में अथवा 'पाल्यतेऽनेन इति वा' (इसके द्वारा पालन-पोषण होता है) अर्थ में व्युत्पन्न होता है। ऋग्वेद की ऋषिका शश्वती इसी अर्थ में पति को भोजन का प्रदाता मानती हैं -

सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि।[2]

9. रत्नम्

'रम्' धातु से निषपन्न 'रत्न' शब्द 'रमणीयं हि तत्' अथवा 'रम्यतेऽस्मिन्' अर्थात् धन रमणीय होता है अथवा उसमें मन रमता है; अर्थ में धन के लिये प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में अग्नि देवता को 'रत्नधातमम्' (रत्न देने वालों में श्रेष्ठ) कहा गया है।

10. यशस्

अश् (व्याप्तौ) धातु से 'असुन्' प्रत्यय लगकर निषपन्न 'यशस्' का एक अर्थ धन भी है क्योंकि धन की कामना जगत् व्यापी है। इस 'यश' की कामना वैदिक ऋषिकाएँ भी करती हैं -

यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना।[3]

11. श्री

ऋग्वेद के 'श्री' सूक्त में श्री को धनसम्पत्ति, सौभाग्य और समृद्धि का पर्याय मानते हुये 'श्री' या 'लक्ष्मी' को धन की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है। देवी श्री से सभी सम्पत्तियाँ और सभी कामनाओं को पूर्ण करने की प्रार्थना की गई है -

---

1. ऋग्वेद 10.34.13
2. ऋग्वेद 8.1.34
3. ऋग्वेद 1.1.1

अश्वदायीगोदायीधनदायिम्हाधने ।
धनं में जुषतां देवि सर्वान्कामांश्च देहि मे ।[1]

'श्री' शब्द 'श्रि' धातु से निष्पन्न होता है क्योंकि वह आश्रय-योग्य है अथवा श्री का आश्रय बनने की कामना की जाती है, जैसा कि यजुर्वेद के निम्न मन्त्र से अभिव्यक्त होता है-

श्री: श्रयतां मयि ।[2]

उपर्युक्त अभिधानों से स्पष्ट है कि वैदिक वाङ्मय में प्राप्त अधिकांश धनवाची शब्द दानार्थक हैं ; अर्थात् वैदिक अवधारणा के अनुसार धन देवताओं द्वारा दिया जाता है या देवकृपा से प्राप्त होता है। इस प्राप्त धन की सार्थकता सञ्चय या केवल अपने सुखोपभोग में न होकर समाज के अपेक्षाकृत निर्धन, धनार्जन में अक्षम वर्ग को दान देने में है। यह भाव मानव को धर्म, नैतिकता और दिव्य शक्तियों के प्रति कृतज्ञता की भावना से जोड़ने के साथ ही उसे अहङ्कार, मद या पापाचार से विरत करता है, अत: श्रीसूक्त की ऋषिका कहती हैं -[3]

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभमति: ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां श्रीसूक्तं जपेत् ॥[4]

श्रीसूक्त का जाप करने वाले पुण्यवान् श्रीभक्तों के मन में क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, अशुभ विचार आदि अमङ्गलकारी भाव नहीं आते हैं।

वैदिक ऋषि सर्वत्र दिव्य शक्तियों से यह प्रार्थना करते हैं कि वे सुपथ से, नीतिपूर्ण शोभन माध्यमों से धन अर्जन करने का मार्ग दिखायें -

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्....।[5]

वह धन 'चारु'- सञ्चरणशील हो, 'द्रविण'- द्रवणशील हो, किसी एक के पास पुञ्जीभूत न हो, सभी को समान रूप से प्राप्त हो। वह 'भग'- सभी के उपभोग योग्य और सुविभक्त हो, जैसा कि ब्रह्मवादिनी जुहू अपने आर्थिक दर्शन को स्थापित करते हुये कहती हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.39.2
2. ऋग्वेद श्रीसूक्त 19
3. यजुर्वेद 39.4
4. ऋग्वेद श्रीसूक्त 23
5. शुक्ल यजुर्वेद 40.16

ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते ।[1]

पृथिवी में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह सभी में विभाजनपूर्वक उपभोग-योग्य है।

'साम्मनस्य', 'समाज' और 'संविभाग' की इस भावना ने ही वैदिक युग में यज्ञ संस्कृति और यज्ञसंस्था की स्थापना की थी, जिसमें एक ओर देवों के प्रति कृतज्ञ भावसे प्रतिदान या हविसमर्पण था, तो दूसरी ओर थी दक्षिणा।

यज्ञ को सभी प्रकार की कामनाओं का पूरक वसुओं का प्रदाता माना गया था -

रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे ....यज्ञेन कल्पन्ताम् ।
वित्तं च मे वित्तश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे ....यज्ञेन कल्पन्ताम् ।
वसु च मे वसतिश्च मे ...अर्थश्च मे एमश्च मे ....यज्ञेन कल्पन्ताम् ।[2]

ऋग्वेद की ऋषिका 'दक्षिणा' ने समाज में उदार दान-दाताओं की प्रशस्त परम्परा प्रारम्भ की -

उरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ।[3]

ऐसे दानशील व्यक्तियों को 'भोज' कहा गया। दक्षिणावान् व्यक्ति सभी प्रकार के पुण्यों, सुख-समृद्धि, पुत्र-पौत्र, दीर्घायुष्य, यश और अमृत प्राप्त करता है। इस प्रकार की अवधारणा ऋग्वैदिक युग में ही बद्धमूल हो चुकी थी -

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः ।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति ।।[4]

वैदिक आदर्श का अनुसरण करते हुये स्मृतियों के युग में 'दानमेकं कलौ युगे'[5] कहते हुये कलियुग में दान को ही मुख्य धर्म मान लिया गया। आज भी विश्व के बड़े-बड़े धनपतियों द्वारा विभिन्न समाजसेवी सङ्गठनों और परोपकार में संलग्न संस्थाओं या ट्रस्टों को दान देने की प्रथा विद्यमान है।

---

1. ऋग्वेद 10.109.7
2. शुक्ल यजुर्वेद 18.10,11,15
3. ऋग्वेद 10.107.1
4. ऋग्वेद 10.107.8
5. मनुस्मृति

इस प्रकार वैदिक आर्थिक दर्शन जहाँ एक ओर 'वयं स्याम् पतयो रयीणाम्'[1] के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ एवं दैवी कृपा दोनों पर बल देता है; अपने गृह को भौतिक सम्पदाओं के साथ ही नैतिक समृद्धि का भी केन्द्र बनाना चाहता है -

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥[2]

वहीं दान-दक्षिणा और वसु के विभाजन से समाज के निम्न-नि:स्व वर्ग का भी अभ्युत्थान चाहता है। 'सुभद्रम्', 'यशसम्', 'वीरवत्तमम्', 'मयोभुवम्', 'सुवीर्यम्' जैसे धन के विशेषण इसके प्रमाण हैं। इस लोककल्याणकारी अर्थव्यवस्था और आर्थिक दर्शन की संरचना में स्त्रियों की भूमिका निश्चय ही उल्लेखनीय है, क्योंकि स्त्री समाज की अर्द्धाङ्ग और परिवार की धुरी है।

* * *

1. अथर्ववेद 3.12.1
2. शुक्ल यजुर्वेद 19.44

5 . धर्म-दर्शन

- यज्ञ
- देवता
- पाप-पुण्य
- पारलौकिक जीवन
- दर्शन
- सर्वव्यापी एक सत्ता
- अक्षर (ब्रह्म)
- आत्मा
- पुनर्जन्म
- सृष्टि
- अमृत

5. धर्म दर्शन

इस सृष्टिव्यवस्था और मानवजीवन को धारण करने वाले तत्त्व 'धर्म' कहे जाते हैं। ऋषियों ने तपोबल से इन धारक तत्वों या धर्मों का साक्षात्कार किया था, जैसा कि महर्षि यास्क कहते हैं -

साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः। ते ऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु वेदाङ्गानि च।[1]

सर्वप्रथम ऐसे ऋषि हुये जिन्होने धर्म का साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन किया था। उनके पश्चात् वे ऋषि हुये, जिन्होने स्वयं धर्म का साक्षात्कार नहीं किया था, किन्तु पूर्व युग के प्रत्यक्षधर्मा ऋषियों से उपदेश के माध्यम से धर्म का ग्रहण किया था। तृतीय श्रेणी में ऐसे ऋषि हुये, जिन्होने मन्त्रोपदेश के ग्रहण में आने वाली कठिनाइयों के निराकरण के लिए निरुक्तादि वेदाङ्गों की रचना की।

इस प्रकार मन्त्रद्रष्टा ऋषि कवियों, श्रुतर्षियों और पूरक साहित्य के रचयिता अवर ऋषियों के माध्यम से वैदिक धर्म का विस्तार हुआ।

वर्तमान हिन्दू धर्म का आधार यह वैदिक धर्म अर्थात् वेदों में प्रतिपादित धर्म ही है। मनु ने धर्म के- श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्म-तुष्टि आदि जिन चार स्रोतों की चर्चा की है, उनमें से प्रथम श्रुति है, अतः मनु कहते हैं -

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।[2]

वेद समस्त धर्मों के मूल हैं। वेदों में प्रतिपादित धर्म मानवीय जीवन को नियन्त्रित, मर्यादित और परिष्कृत करने के साथ ही सृष्टि के जीवन-चक्र को भी सञ्चालित करते हैं। ऋग्वेद में 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'[3] द्वारा सृष्टि के कारक और धारक उस प्रथम धर्म का उल्लेख है, जिसके दो प्रमुख आधारस्तम्भ हैं - प्रथम यज्ञ और द्वितीय देवता।

---

1. निरुक्त 10.10
2. मनुस्मृति 2.6
3. ऋग्वेद 10.90.16

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार यह सृष्टि उस यज्ञ से हुई, जिसमें विराट् पुरुष ने स्वयं को ही हवि के रूप में प्रस्तुत किया था।

कोई धर्म सैद्धान्तिक रूप से कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, यदि वह मानव जाति के लिए आचरण का विषय नहीं बनता, तब वह निष्प्रयोजन और मूल्यहीन हो जाता है, अत: धर्म को अपने आचरण में उतारते हुये ऋषि गोधा कहती हैं -

नकिर्देवा मिनिमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।[1]

'हे देवों ! आपके विषय में हम कोई त्रुटि नहीं करते हैं। किसी भी कर्म में उदासीनता का प्रदर्शन या शिथिलता नहीं करते हैं। मन्त्र और श्रुति के अनुसार हम आचरण करते हैं। स्तुतियों के साथ हवि से यज्ञ में आपका अवलम्बन करते हैं।'

इस प्रकार गोधा जिस धर्म या कर्तव्य का सजग भाव से पालन करती हैं, वह मन्त्रात्मक श्रुति में प्रतिपादित वैदिक धर्म है; जो यज्ञ के माध्यम से अमृतबन्धु देवों और मर्त्यों के मध्य सख्य और साम्मनस्य की सृष्टि करता हुआ श्रेय का वाहक होता है।

1. यज्ञ

वैदिक धर्म यज्ञप्रधान धर्म है। ऋग्वेद के अनुसार यह यज्ञ सम्पूर्ण भुवनों (लोकों) का नाभिक या केन्द्र है, जिसके चारों ओर जीवन-चक्र घूमता और गति करता है -

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।[2]

पारिभाषिक शब्दावली में 'देवतोद्देशक द्रव्यत्याग' यज्ञ है। व्यापक अर्थों में यह लोकोद्देशक स्वार्थत्याग या आत्म-त्याग है, जो इस सृष्टिचक्र के सुचारु सञ्चरण हेतु अनिवार्य है। जगत् और यज्ञ के मध्य परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार -

यज्जायते तस्माद्यज्जो ह वै नामैतद् यद् यज्ञ इति ।[3]

क्योंकि इस संसार का जन्म होता है, अतः इसका नाम 'यज्ञ' है। यज्ञ से संसार की और संसार से यज्ञ की सत्ता है। दोनों ही एक-दूसरे के प्रति कारण हैं, जैसा कि महाभारत में कहा गया है -

---

1. ऋग्वेद 10.134.7
2. ऋग्वेद 10.164.35
3. शतपथ ब्राह्मण 3.9.4.23

अनु यज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानु जगत् सदा ।[1]

इस पृथिवीलोक पर जीवन मर्त्यलोक और द्युलोक के परस्पर आदान-प्रदान 'देहि मे ददामि ते'[2] के सम्बन्ध से ही सम्भव हो पाया है।

द्युलोक और पृथिवी लोक को; दाता और गृहीता को परस्पर जोड़ने वाली नाभि (सम्बन्ध सूत्र) यज्ञ है, जिसके माध्यम से मानव देवों को हवि (भोजन) प्रदान करता है, तो परितुष्ट देवता वृष्टि के रूप में मानव को वसु और जीवन प्रदान करते हैं। यज्ञ के इस रहस्य को स्पष्ट करते हुये भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥

देवा भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥[3]

अब हम देखें कि इस यज्ञ के सम्बन्ध में स्त्री ऋषियों के विचार क्या हैं ? यज्ञ के प्रयोजन और महत्व पर प्रकाश डालती ब्रह्मजाया जुहू कहती हैं -

ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते ।[4]

स्तुत्य (उरुगाय) यज्ञ पृथिवी के अमृतमय रस (ऊर्ज) को परस्पर बाँटकर उपभोग करने का माध्यम है। यज्ञ देवों और मर्त्यों, मानव समाज और समुदायों के मध्य परस्पर समन्वय और सहयोग का प्रतीक है, क्योंकि इसके मूल में द्रव्यत्याग या स्वार्थत्याग और लोकमङ्गल की भावना निहित है। यह अहङ्कार के परित्याग, समर्पण और श्रद्धा भाव पर टिका हुआ है। यह समाजवाद और सामाजिक न्याय की आधारशिला है।

अपाला, घोषा, वाक् आदि ब्रह्मवादिनियों के अनुसार यज्ञ दिव्यशक्तियों के आवाहन और उनका सख्य एवं अनुग्रह प्राप्त करने के साधन हैं क्योंकि देवता स्वयं हवि देने वाले यजमान के गृह में पहुँचते हैं -

1. वस्तो वस्तो यजता गच्छथो गृहम् ।[5]

---

1. महाभारत शान्तिपर्व 267.34
2. यजुर्वेद 3.50
3. भगवद्गीता 3.9.10
4. ऋग्वेद 10.109.7
5. ऋग्वेद 10.40.3

2. दोषा वस्तोर्हविषा निह्वयामहे ।[1]

3. असौ ए एषि वीरको गृहं गृहं विचाकशत ।[2]

शिखण्डिनीद्वय की दृष्टि में यज्ञ देवों के शोभावर्द्धक अलङ्करण हैं -

यज्ञैः परिभूषत श्रिये ।[3]

शची पौलोमी के अनुसार यज्ञ सभी प्रकार के अभिलषित को प्राप्त करने के साधन हैं। इन्द्र यज्ञ से ही बली और श्रेष्ठ हुये हैं। शची भी यज्ञ से ही असपत्न हुई हैं।[4]

यज्ञ द्रविण (धनसमृद्धि) को प्राप्त करने के माध्यम हैं -

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सु प्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।[5]

अध्वर[6] (जिसमें ध्वर या हिंसा न हो), सवन[7] (जिसमें सोम अभिषव एवं सोमरस का अग्नि में अर्पण हो), होत्र[8] (जिसमें देवताओं का आवाहन हो), हवि[9] (जिसमें देवतोद्देशक हवि अर्पित की गई हो) आदि यज्ञ की अन्य संज्ञाएँ हैं।

यज्ञीय विधि-विधान

प्रारम्भिक वैदिक युग में यज्ञीय विधि-विधान सरल थे। उनमें किसी प्रकार की जटिलता या आडम्बर नहीं था। प्रतिदिन प्रातःकाल गृहस्थ के घर में होने वाले यज्ञ के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला विश्ववारा का अग्नि सूक्त ऋग्वेद का एक अन्यतम सूक्त है। तदनुसार उषःकाल की स्वर्णिम आभा से जब प्रकृति चराचर को उद्भासित कर देती है, उसी पावन प्रातःकाल में घर-घर में यज्ञ वेदी में अग्नि समिद्ध (समिधाओं से भली-भाँति प्रज्ज्वलित) की जाती है -

---

1. ऋग्वेद 10.40.4
2. ऋग्वेद 8.80.2
3. ऋग्वेद 9.104.1
4. ऋग्वेद 10.159.5
5. ऋग्वेद 10.125.2
6. ऋग्वेद 5.28.6
7. ऋग्वेद 9.86.7
8. ऋग्वेद 10.40.4
9. ऋग्वेद 10.159.5

समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत्प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया विभाति ।[1]

गृहवधू घृत की स्रुवा लिए हुये (घृताची) नमन से देवों की वन्दना करती हुई अग्नि की ओर उनमुख होती हैं। वे अग्नि में स्तुतियों के साथ आज्य एवं हविष्य समर्पित करती हैं। स्वस्ति और सौभाग्य के लिए अग्निदेव से प्रार्थना करती हैं। अन्य देवों के लिए भी हवि दी जाती है। हव्यवाहक अग्नि स्थूल हविष्य को सूक्ष्म कणों में परिवर्तित करते हुये ऊर्ध्वलोकों में अन्य देवों तक पहुँचाते हैं। उपस्थित जनों में; हव्यावाहन अग्निदेवता को वरण करने के सन्देश के साथ यज्ञ समाप्त होता है। इस प्रकार प्रतिदिन (वस्तो वस्तो) सम्पन्न किया जाने वाला यह एक सरल अनुष्ठान है।

यज्ञ के लिए प्रात:काल ही श्रेष्ठ समय था, इसका साक्ष्य अन्य अनेक मन्त्रों से भी प्राप्त होता है। ऋषि दक्षिणा भी इस पवित्र क्षण को अपने मन्त्रों से चिरस्मरणीय बना देती हैं -

आविरभून्महि माघोनमेषं विश्वं जीवं तमसो निरमोचि ।

महि ज्योति: पितृभिर्दत्तभागादुरु: पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥[2]

दिवस का यह प्रारम्भ दिव्य तत्वों के वरण का उनकी कृपा और अनुग्रह को प्राप्त करने का समुचित समय है। इस समय ही उषा अपने दिव्य रथ पर वसुओं (धन सम्पत्ति) के साथ स्तोताओं के सम्मुख आविर्भूत होती हैं। अश्विनी देवों का रथ भी इसी समय आता है।[3]

वस्तुत: प्रात:काल के पवित्र वातावरण में ही मनुष्य प्रकृति से दिन भर के लिए ऊर्जा, आरोग्य, स्वास्थ्य, मानसिक प्रसन्नता और शिव सङ्कल्पों का सञ्चय करता है।

संध्याकाल और मध्याह्न में भी यज्ञीय अग्नि में आहुतियाँ दी जाती थीं। घोषा अश्विनी देवों को उष:काल और रात्रि में हव्य दिये जाने का वर्णन करती हैं -

दोषामुषासो हव्यो हविष्मता ।[4]

ऋग्वैदिक संस्था के अन्तर्गत दो प्रकार के यज्ञों का विधान होता था -

1. **हविर्याग** - अग्निहोत्र अर्थात् प्रात:काल-संध्याकाल अग्नि में हवन।
2. **ऋतुहोम** - विभिन्न ऋतुओं, ऋतु-परिवर्तन या नई फसल के आगमन आदि पर किये जाने वाले आग्रायण, चातुर्मास आदि यज्ञ -

---

1. ऋग्वेद 5.28.1
2. ऋग्वेद 10.107.1
3. ऋग्वेद 10.39.1
4. ऋग्वेद 10.39.1

युवां होत्रं ऋतुथा जुह्वते ।[1]

सोमयाग

ये विस्तृत याग थे, इनमें अग्नि में सोमरस की आहुति दी जाती थी। सोम-अभिषव-सोम को कूटना, छानना, कलशों में एकत्रित करना, जल या दूध के साथ मिलाना आदि सोमरस को निकालने से सम्बन्धित क्रियाओं का विस्तृत वर्णन ऋग्वेद के नवम मण्डल में सिकता-निवावरी एवं शिखण्डिनीद्वय के मन्त्रों में हुआ है। इन्द्र को सोमरस समर्पित किये जाने का वर्णन भी ऋषि करती हैं। उक्थों (विशेष स्तुतियों) के साथ, अभिषुत सोम विभिन्न सवनों में देवताओं को अर्पित किया जाता था। इन सवनों (यज्ञीय मन्त्रों) में देवों के वीरतापूर्ण कार्यों की स्तुति जन-आकर्षण का केन्द्र होती थीं -

विश्वेत् ता वां सवनेषु प्रवाच्या ।[2]

* * *

1. ऋग्वेद 10.40.4
2. ऋग्वेद 10.39.4

यज्ञ के पञ्च अङ्ग

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के देवता आदि जिन पाँच अङ्गों का सविस्तार निरूपण हुआ है, उनके सङ्केत स्त्री ऋषियों के सूक्तों में भी प्राप्त होते हैं। ये अङ्ग निम्नानुसार हैं -

(1) देवता

यज्ञ किसी न किसी देवता के उद्देश्य से किये जाते थे। यज्ञ में मन्त्रपूर्वक देवों का आवाहन एवं उन्हें हविष्य पदार्थ का समर्पण यज्ञ का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग था। ऋषियों का विश्वास था कि यज्ञ में आहूत देवता, यज्ञ में उपस्थित होते हैं, समर्पित हवि का भक्षण एवं सोमरस का पान करते हैं -

असौ य एषि वीरको गृहं गृहं विचाकशत्।
इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्॥[1]

(2) हवि

यज्ञीय अग्नि में देवताओं के नाम से समर्पित किया जाने वाला द्रव्य 'हवि' कहा जाता था। अग्नि इस हवि को देवों तक पहुँचाते थे। श्रद्धा-पूर्वक प्रदान की गई हवि अपने महत्व के कारण कहीं-कहीं यज्ञ का पर्याय भी बन गई है, जैसे- शची पौलोमी कहती हैं -

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।[2]

(3) मन्त्र

यज्ञ में मन्त्र का विशेष महत्व था। अलग-अलग अनुष्ठानों या विधियों के लिए मन्त्र निर्धारित थे। देवताओं का आवाहन, हविसमर्पण आदि मन्त्रपूर्वक होते थे।

---

1. ऋग्वेद 8.80.2
2. ऋग्वेद 10.159.5

(4) ऋत्विज्

यज्ञकार्य के सम्पादन के लिए आमन्त्रित, यज्ञीय विधान में निपुण पुरोहित 'ऋत्विज्' कहे जाते थे। ऋत्विज् चार प्रकार के होते थे [1]- उक्थशास, यज्ञन्य, सामगा और ब्रह्मगा।

क. उक्थशास (होता) - ऋग्वेद की ऋचाओं से देवों का यज्ञ में आवाहन करता था।

ख. यज्ञन्य (अध्वर्यु)- यज्ञ का नेता यजुषों द्वारा होमादि का अनुषठान करता था।

ग. सामगा (उद्गाता) - साम मन्त्रों का उच्च स्वर में गायन करता था।

घ. ब्रह्मा - यज्ञीय कर्मों का निरीक्षण इनका प्रधान कार्य था। ब्रह्मा का वेद; अथर्ववेद माना गया था।

(5) दक्षिणा

यज्ञ की समाप्ति पर ऋत्विजों को पारिश्रमिक के रूप में दक्षिणा दी जाती थी। दक्षिणा के अभाव में यज्ञ निष्फल माना जाता था। ऋग्वेद की ऋषि दक्षिणा एक सम्पूर्ण सूक्त में दक्षिणा के महत्व का प्रतिपादन करते हुये कहती हैं -

दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या।[2]

दक्षिणा द्वारा पुण्य कर्म की पूर्णता प्राप्त की जाती है। दक्षिणा देवपूजा का अङ्ग है। जो लोग देवों को तृप्त करते और दान देते हैं, उनका मनोरथ दक्षिणा पूर्ण करती है।

प्रारम्भिक वैदिक युग में यज्ञों का स्वरूप सहज और सरल था। उसमें प्रार्थना मुख्य भाव था, जो 'ब्रह्म' या 'स्तोम' कहे जाते थे। इन प्रार्थनाओं में निश्च्छल आत्मनिवेदन और इष्ट देव के प्रति समर्पण का भाव होता था। इन प्रार्थनाओं में ऋषि अपने अन्त:करण को अपनी समस्त अच्छाइयों और बुराइयों के साथ खोल कर रख देता था। आत्मसमर्पण के प्रतीक रूप में देवों के लिए स्वद्रव्य से स्वनिवृत्ति पूर्वक द्रव्य त्याग किया जाता था। यज्ञीय कर्म-काण्ड की जटिलता और यज्ञीय हिंसा के बढ़ने पर परवर्ती हिन्दू धर्म में यज्ञों का स्थान; मूर्तिपूजा और देवभक्ति ने ले लिया।

* * *

---

1. ऋग्वेद 10.107.6
2. ऋग्वेद 10.107.3

देवता

हिन्दू धर्म नाना देवी-देवताओं पर विश्वास रखने वाला, उनकी पूजा-अर्चना और आराधना करने वाला धर्म है। इस विश्वास की जड़ें ऋग्वैदिक धर्म की गहराई में दृढ़ता से समाई हुई हैं। वेदों में देवों को न मानने वाले 'अदेव', 'अराधस्' की निन्दा हुई है तथा ब्रह्म-द्वेषियों के साथ देवों का चिरन्तन विरोध भी रेखाङ्कित हुआ है।[1]

देवसामान्य

प्रकृति की अलोकसामान्य दिव्य शक्तियाँ, जो मानव के योगक्षेम की साधक हैं, जो इस सृष्टि व्यवस्था के सञ्चालन में सहयोग देती हैं; 'देव' या 'देवता' कही जाती हैं। यास्क ने देव शब्द का निर्वचन चार प्रकार से किया है -

देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवति इति वा।[2]
यो देवः सः देवता।

'देव' शब्द 'दा' धातु से निष्पन्न है, क्योंकि वे मनुष्यों को अन्न, द्रविण (धन) आदि प्रदान करते हैं अथवा देव शब्द 'दीप्' धातु से निष्पन्न है, क्योंकि उनका रूप दीप्त (चमकता हुआ) होता है। अथवा देव 'द्युत्' (द्योतन या प्रकाशन) से निष्पन्न है, क्योंकि देव शुभ के, ऋत के द्योतक हैं अथवा द्योतमान (प्रकाशमान) द्युलोक में उनका स्थान होने के कारण वे 'देव' कहे जाते हैं।

ऋषिसूक्तों में देवसामान्य के अर्थ में देव शब्द सर्वदा बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है-

1. देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।[3]
2. देवाँ उप प्रैति सप्तभिः।[4]

---

1. ऋग्वेद 10.125.6
2. ऋग्वेद 7.4.15
3. ऋग्वेद 10.72.8
4 ऋग्वेद 10.72.8

3. देवानां युगे प्रथमे ऽसतः सदजायत ।[1]

4. सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ।[2]

इससे स्पष्ट है कि देव एक नहीं अपितु अनेक हैं। इस संसार में दृश्य-अदृश्य प्राकृतिक शक्तियाँ भी अनेक हैं, जिनके अधिष्ठाता ये देवता हैं। एकवचन में प्रयुक्त 'देव' शब्द किसी विशिष्ट देवता का वाचक है, जैसे कि इन्द्रदेव या वरुणदेव आदि ।[3]

देवता मनुष्य के समान मरणधर्मा नहीं हैं, अतः वे 'अमृत'[4] या 'अमृतबन्धु' कहे जाते हैं। वे शुभ कर्मों के कर्ता और उपदेष्टा हैं -

भद्रा अमृतबन्धवः ।[5]

सोम के अमृत का पान कर ही ये अमृत हुये हैं।[6] यद्यपि देवों का निवास द्युलोक में है, तथापि इनकी व्याप्ति सम्पूर्ण भुवनों में है। ये अपने शीघ्रगामी रथों से सर्वत्र गमन करते हैं।[7] देवों की क्रियाशीलता या गतिविधियाँ (नृत्य) सृष्टि की उत्पत्ति में सहायक हुई हैं।[8]

देवों के अनुग्रह और कृपा से ही मानवीय जीवन सुखी और समृद्ध हो सकता है। पति, पत्नि और पुत्र देवकृपा से ही प्राप्त होते हैं -

भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।[9]

अतः देवों के लिये उपासन (आ निषीदत)[10], नमन (देवेभ्यो ....आकरं नमः)[11] वन्दन(नमोभिर्देवाँ

---

1. ऋग्वेद 10.72.5
2. ऋग्वेद 10.85.23
3. ऋग्वेद 3.33.6
4. ऋग्वेद 10.10.3
5. ऋग्वेद 10.72.5
6. ऋग्वेद 10.85.5
7. ऋग्वेद 10.72.8
8. ऋग्वेद 10.72.6
9. ऋग्वेद 10.85.36
10. ऋग्वेद 9.104.1
11. ऋग्वेद 10.85.17

ईडाना)[1], स्तवन (पुनाय प्रगायत)[2] और यजन (देवान् हविषा यजाति)[3] मानवमात्र का कर्तव्य है।

देव आसुरी वृत्तियों, पापों और अंहस् के नाशक हैं। अशुभ और अनिष्ट को नष्ट करने का उनका सङ्कल्प दृढ़ और शाश्वत है, इसीलिए वे असुरों का संहार करते हैं -

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।[4]

ऋषिकाओं की देव-सूची में निम्नलिखित नाम आते हैं - अग्नि, इन्द्र, सविता, सूर्य, सोम, अश्विद्वय, वायु, मित्र, वरुण, मरुत, मातरिश्वा, त्वष्टा, विश्वेदेवा, पूषा, भग, अर्यमा, रुद्र, वसु, आदित्य, अर्क, धाता, प्रजापति, ब्रह्मणस्पति, चन्द्रमा, पुरंधि, देष्ट्री, रात्रि, उषा, श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, वाक्, अदिति, इन्द्राणी, आप:, नद्य: और भृगु।

विशिष्ट देवता

अग्नि

अग्नि वैदिक आर्यों के प्रथम एवं प्रमुख देवता हैं, जिनका वरण यज्ञकार्यों के सम्पादन के लिए किया गया है। इसी धरती पर प्रत्यक्ष दृश्यमान रूप में उपलब्ध होने के कारण अनि पृथिवी स्थानीय देवता हैं।

अग्नि का देदीप्यमान भौतिक रूप यज्ञवेदी में समिधाओं के समिद्ध होन पर प्रकट होता है। अनि देवता अध्वरों में अरणियों और आज्यों से वृद्धि को प्राप्त करते हैं -

अध्वरेषु इध्यसे ।[5]

समिद्ध अग्नि की लपटें ऊपर आकाश की ओर उठती हैं, जो अपने तेज से विशेष रूप से शोभित होती हैं।[6]

अग्निसूक्तों में अग्नि के तेज, द्युम्न, मह का वर्णन विशेष रूप से हुआ है। प्रज्ज्वलित तप ही अग्नि की भौतिक देह है -

---

1. ऋग्वेद 5.28.1
2. ऋग्वेद 9.104.1
3. ऋग्वेद 10.95.18
4. ऋग्वेद 10.151.3
5. ऋग्वेद 5.28.4
6. ऋग्वेद 5.28.1

तपो उग्रो ।[1]

अतः अग्नि देवता अपने तेज से मानव में रहने वाले आन्तरिक शत्रुओं का विनाश कर उसके अन्तःकरण को निर्मल और तेजस्वी बनाते हैं। वे शत्रुवत् आचरण करने वाले अभिघातकों का भी विनाश करते हैं -

शत्रुयतामभि तिष्ठा महाँसि ।[2]

वे यज्ञीय विधि-विधान को सम्पन्न करने वाले यज्ञ के पुरोहित और देवताओं के 'होता' हैं। वे ही हवि का वहन कर देवों के भाग को देवों तक पहुँचाते हैं -

समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर ।
त्वं हि हव्यवाडसि ।[3]

अग्नि का सम्बन्ध गृहस्थ और गार्हपत्य धर्म से है। अग्नि ही दाम्पत्य के संरक्षक और सौभाग्य के प्रदाता हैं। विवाह से पूर्व युवती कन्या के संरक्षक भी अग्नि ही होते हैं। अग्निदेव ही कन्या को आयुष्य और तेज के साथ वर के लिये प्रदान करते हैं -

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।[4]

वस्तुतः अग्नि साक्षिक हिन्दू विवाह में अग्नि ही वधू को स्वयं अपने हाथों से वर को प्रदान करते हैं-

अग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ।[5]

अग्नि सभी की कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं, अतः उनकी स्तुति एक प्रकाशमान वृषभ के रूप में की गई है -

वृषभो द्युम्नवानसि ।[6]

वे हवि प्रदान करने वाले यजमान के योगक्षेम के वाहक हैं। वे उसे सभी प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करते हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.109.1
2. ऋग्वेद 5.28.3
3. ऋग्वेद 5.28.5
4. ऋग्वेद 10.85.39
5. ऋग्वेद 10.109.2
6. ऋग्वेद 5.28.4

हविष्कृणवन्तं सचसे स्वस्तये ।
विश्वं स धत्ते द्रविणम् ।[1]

अपने उज्ज्वल रूप के कारण अग्नि की एक संज्ञा 'शुक्र' है। अग्नि के तीन शरीर हैं - पृथिवीस्थानीय अग्नि, अन्तरिक्षस्थानीय विद्युत् और द्युस्थानीय सूर्य। इन्हें वही जानता है, जो श्रद्धाभाव से यज्ञों में दक्षिणा प्रदान करता है -

स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः दक्षिणया रराध ।[2]

अग्नि ऐसे देवता हैं, जो इस पृथिवी लोक पर रहने वाले मानव के लिए अमृत का सन्देश लेकर आते हैं -

समिद्धमानो अमृतस्य राजसि ।[3]

इन्द्र

वैदिक देवों में इन्द्र सर्वाधिक पराक्रमी देवता के रूप में वर्णित हुये हैं। ऋग्वेद में इन्द्रदेव की स्तुति में ही सर्वाधिक सूक्त प्राप्त होते हैं। स्त्री ऋषियों में अपाला, अदिति, इन्द्राणी, इन्द्रमातरः, वसुक्रपत्नी, सरमा आदि ने इन्द्र की स्तुति की है। ये स्तुतियाँ इन्द्र के जीवन के ज्ञात पहलुओं के साथ ही कतिपय अज्ञात, अनछुये पहलुओं पर भी प्रकाश डालती हैं। इस सन्दर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि स्वयं इन्द्र की माता, इन्द्रपत्नी, इन्द्रस्नुषा आदि ने अपनी-अपनी दृष्टि से इस सर्वोपरि वीर योद्धा का मूल्याङ्कन किया है।

देवमाता अदिति के अनुसार उनके पुत्र इन्द्र अनुपमेय हें। उनकी समता करने वाला न तो कोई उत्पन्न हुआ है और न ही भविष्य में उत्पन्न होगा -

नही त्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत् ये जनित्वाः ।[4]

अन्य पुत्रों की अपेक्षा इन्द्र ने अधिक लम्बे समय तक उनके गर्भ में निवास किया था, अतः माता को अति प्रयासपूर्वक (वीर्येण) उन्हें जन्म देना पड़ा था। उस शिशु ने जन्म लेते ही अपने तेज से सम्पूर्ण पृथ्वी और द्युलोक के अन्तराल को भर दिया था -

आरोदसी आपृणाज्जायमानः ।[5]

---

1. ऋग्वेद 5.28.2
2. ऋग्वेद 10.109.2
3. ऋग्वेद 5.28.2
4. ऋग्वेद 4.18.4
5. ऋग्वेद 4.18.5

उस तेजस्वी शिशु को देखने केलिए देवाङ्गनायें आई थीं। वीर पुत्र की जननी अदिति भी प्रशंसनीय हुई थीं -

देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ।[1]

इन्द्र ही एकमात्र ऐसे देव हैं, जिनकी; जन्म लेते ही उपासना की गई -

इन्द्रं जातमुपासते ।[2]

इन्द्र का जन्म ही मानो बल, साहस और ओजस् से हुआ है -

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः ।[3]

उन्होंने अपने ओज से अन्तरिक्ष का विस्तार किया है, द्युलोक को स्थिर किया है। वे अपनी बलशाली भुजाओं से सूर्य को धरण करते हैं। वे अपने ओजस् से ही वज्र की धार को तीक्ष्ण करते हैं, वे अपने तेज से समस्त जीवजगत् को अभिभूत करते हैं।[4]

इन्द्र के महान कार्यों में सर्वाधिक पराक्रमपूर्ण कार्य वृत्र का वध है। वे अपने तीक्ष्ण वज्र से जल के आवरक वृत्र (मेघों) का वध कर जल को धरती पर गिराते हैं और नदियों को प्रवाहित करते हैं -

ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून् ।[5]

इस प्रकार आकाश के जल को पृथ्वी पर लाने वाले इन्द्र ही नदियों के स्रष्टा माने गये हैं -

इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।[6]

वृत्रवधरूपी इस महान पराक्रम के कारण वज्रबाहु इन्द्र की एक संज्ञा 'वृत्रहन्' है-

त्वमिन्द्रसि वृत्रहा ।[7]

---

1. ऋग्वेद 10.134.6
2. ऋग्वेद 10.153.1
3. ऋग्वेद 10.152.2
4. ऋग्वेद 10.153.4-5
5. ऋग्वेद 4.18.7
6. ऋग्वेद 3.33.6
7. ऋग्वेद 10.153.3

कल-कल ध्वनि में बहती नदियाँ मानों इन्द्र के इस पराक्रम का ही गान कर रही हैं।[1] इन्द्रदूती सरमा के अनुसार इन्द्र अदभ्य हैं। उनका अभिभव सम्भव नहीं है। वे ही संसार का अभिभव करने वाले हैं। वे पणियों को मारकर बृहस्पति की गाय को मुक्त करते हैं। गहन गम्भीर नदियाँ भी उनकी गति को रोकने में समर्थ नहीं हैं।[2]

इन्द्र धरती पर जल बरसा कर धरा को शस्यसम्पन्न और उर्वरा बनाते हैं, अतः त्वचा, स्त्री और पृथिवी तीनों की उर्वरता के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है -

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।[3]
इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥[4]

इन्द्र ने अपाला को त्वचा सम्बन्धी रोग से मुक्त कर सूर्य के समान दीप्तिमान बनाया है। शत्रुओं के लिए अति दुर्धर्ष और भयोत्पादक होते हुये भी अपने भक्तों के प्रति वे अत्यन्त दयालु हैं। वे महायोद्धा एक सामान्य वीर के समान हर यजमान के घर पहुँचते हैं। स्तुतियों के साथ करम्भ, धाना, अपूप और सोमरस को ग्रहण करते हैं।[5]

सोम इन्द्र का प्रिय पेय है। इन्द्र के लिए सोमरस को विशेष रूप से अभिषुत किया जाता है -

शुचिर्धिया पवते सोम इन्द्र ते।[6]

इन्द्र को सोम का रस इतना प्रिय है कि अपाला के दाँतों से चबाकर निकाले गये सोमरस को भी ग्रहण कर लेते हें।

दधिमन्थन का शब्द भी उन्हें आनन्द देता है[7], किन्तु इन सबसे भी बढ़कर है- उनका अपने पुत्रवत् पालित मृग, वृषाकपि के प्रति प्रेम; जिसके विषय में चिन्तित रहते हुये वे सोमपान की भी उपेक्षा कर देते हैं।[8]

---

1. ऋग्वेद 4.18.6
2. ऋग्वेद 10.108.4
3. ऋग्वेद 10.85.45
4. ऋग्वेद 8.80.2
5. ऋग्वेद 8.80.1
6. ऋग्वेद 9.86.13
7. ऋग्वेद 10.86.15
8. ऋग्वेद 10.86.2

अपनी पुत्रवधू वसुक्रपत्नी के प्रति प्रेम प्रकट करने के लिए वे उनके द्वारा आयोजित यज्ञ में पहुँचते हैं।[1] उनके पुत्र वीर और शत्रुहन्ता तथा पुत्री विराट् (विशेष रूप से शोभायमान) कही गई हैं।[2]

पुलोमतनया शची उनकी पत्नी हैं। इन्द्र की पत्नी होने के कारण उनकी संज्ञा इन्द्राणी है। इन्द्राणी की दृष्टि में इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं - दशम मण्डल के 86 वें सूक्त में वे बारम्बार इन्द्र के श्रेष्ठत्व की घोषणा करती हैं।

इन्द्र की अनेक पत्नियाँ हैं। पति पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए, पति को वश में करने के लिए इन्द्राणी ओषधि आदि का औपनिषदिक प्रयोग भी करती हैं।[3] तिग्मशृङ्ग वृषभ जिस प्रकार गोयूथ में रमण करता है, उसी प्रकार वे अपनी पत्नियों से रमण करते हैं।[4]

वीर्य, पराक्रम, असुरवध आदि साहसपूर्ण कार्यों में इन्द्र अद्वितीय ही हैं। केवल ऋचायें ही नहीं, अपितु निविद् भी उनकी स्तुति करते हैं।[5] अतः इन्द्राणी के शब्दों में हम भी कह सकते हैं -

विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।

अश्विन् युगल

ऋग्वेद में यमज देवों के रूप में अश्विन् युगल की अनेकशः स्तुति हुई है। यदि इन्द्र पराक्रम के प्रतीक हैं, तो अश्विद्वय लोकोपकार या लोककल्याण के। अश्विदेवों को सर्वदा संयुक्त रूप से द्विवचन में ही सम्बोधित कया गया है। ब्रह्मवादिनी घोषा के दानों सूक्त अश्विन् देवों को समर्पित हैं।

सूर्या के विवाह सूक्त में भी बार-बार अश्विनों की चर्चा आती है। इन सन्दर्भों के आधार पर अश्विन् देवों की निम्नलिखित विशेषताओं का ज्ञान होता है -

1. अश्विन् देव मन से भी तीव्र गति से चलने वाले, सर्वत्र गति रखने वाले सुन्दर रथ से प्रातःकाल अवतरित होते हैं। इनका रथ ही इनके आगमन का प्रतीक है, अतः प्रातःकाल और सायंकाल इस रथ का हविष्य के साथ आवाहन, आशा और उमङ्ग के साथ किया जाता है-

इस रथ का निर्माण कुशल शिल्पकार भृगुओं ने किया है। अश्विन् देवों के रथ के साथ ही आकाश, उषा एवं दिन और रात्रि जन्म लेते हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.28.1
2. ऋग्वेद 10.159.3
3. ऋग्वेद 10.145
4. ऋग्वेद 10.86.15
5. ऋग्वेद 4.18.7

यस्य योगे दुहिता जायते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः ।[1]

यह रथ शुभ, मङ्गल और सत्य का वाहक है। अश्विदेवता अपने इस रथ पर जिस दम्पती को आरोहण कराते हैं, उसे कभी भी अंहस् या पाप व्याप्त नहीं कर पाता। वह निर्भीक होकर सत्य पथ का गामी होता है।[3]

कल्याण और मङ्गल के वाहक होने के कारण उनको 'शुभस्पती'[4] कहा गया है। उनकी कृपा की प्रत्यक्ष अनुभूति स्तोता को होती है, अतः उनकी एक संज्ञा 'नासत्य'[5] (न असत्य) है, जो उनके अस्तित्व या सत्ता को प्रमाणित करता है।

अश्विन् देवों के लोककल्याणकारी कार्यों के सम्बन्ध में अनेक कथायें प्रचलित हैं। उन्होने ही समुद्र में डूबते हुये भुज्यु की रक्षा की है, पितृगृह में ही वृद्ध होती हुई घोषा के लिए वर प्रदान किया है, जरा-जीर्ण च्यवन ऋषि को पुनः यौवन प्रदान किया है, रेभ ऋषि को असुरों के बन्धन से मुक्त किया है, वन्दन ऋषि को कूप से बाहर निकाला है, तप्त अग्निकुण्ड में फेंके गये अत्रि ऋषि की रक्षा की है, पेदु नामक राजा को श्रेष्ठ अश्व प्रदान कर शत्रुञ्जयी बनाया है।

वे एक श्रेष्ठ चिकित्सक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होने युद्ध में एक पैर खो देने वाली विश्पला को आयसी जंघा प्रदान कर चलने में समर्थ बनाया है, वध्रिमती को सुखपूर्वक प्रसव कराया है, अतिवृद्ध कलि ऋषि को यौवन-शक्ति से सम्पन्न किया है, शयु की वृद्धा गाय को पुनः दूध देने वाली बनाया है।

अतः घोषा सत्य ही कहती हैं - दीन दुःखियों, भाग्यहीनों, रोगियों और विपद्-ग्रस्तों के वे ही उद्धारकर्ता हैं -

अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्यचिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित् ।।[6]

उनके पास मधु का अक्षय कोश है, अतः वे मानव मात्र के दुःख-कष्टों को दूर कर जीवन को मधुमय बनाते हैं। उनके लिए बारम्बार जिन सम्बोधनों और विशेषणों का प्रयोग हुआ है, वे हैं - नासत्या (जो असत्य नहीं है), भिषजा (श्रेष्ठ चिकित्सक), अविता (रक्षक), राजानौ (अपनी दिव्य आभा से

---

1. ऋग्वेद 10.39.12
2. ऋग्वेद 10.39.12
3. ऋग्वेद 10.39.11
4. ऋग्वेद 10.40.4
5. ऋग्वेद 10.39.3
6. ऋग्वेद 10.39.3

दीप्तिमान), सुहवा (सहज ही आवाहन योग्य), कवी (क्रान्तदर्शी मेधावी), वृष्णा (कामनाओं की वर्षा करने वाले) और शुभस्पती (शुभ के स्वामी)।

लोकमङ्गलकारी कार्यों के इतने अधिक सन्दर्भ ऋग्वेद के किसी अन्य देवता के लिए प्राप्त नहीं हैं। अश्विन् देवों के ये गुण परवर्ती लौकिक काव्यों में नायकत्व के आधार बने हैं।

सोम

पृथिवी स्थानीय देवता होते हुये भी सोम की महिमा द्युलोक का स्पर्श करती है। तीनों ही लोकों में उज्ज्वल सोम की व्याप्ति है -

दिविस्पृशमन्तरिक्षप्रा भुवनेष्वर्पितः ।[1]

स्त्री ऋषियों में शिखण्डिनीद्वय का षड्ऋचात्मक एक सकल सूक्त एवं सिकता निवावरी के दस मन्त्र सोमदेव को अर्पित हैं। सूर्या के विवाह सूक्त में सूर्या के वर के रूप में भी सोमदेव की स्तुति हुई है। सोम देवता के भौतिक, दैविक और आध्यात्मिक तीनों ही रूपों की अभिव्यक्ति इन मन्त्रों में; विशेष रूप से सूर्या सावित्री के मन्त्रों में हुई है।

भौतिक रूप से सोम एक हरितवर्ण लता है, जिसका रस सोमयागों में देवों को अर्पित किया जाता है। अपने दिव्य रूप, आनन्ददायी प्रभाव और शक्ति के कारण सोम को देवप्सरा[2], वाजी (अश्व के समान शक्तिशाली और गतिमान), वृषा (वृष के समान शक्तिमान और शक्तिवर्धक), स्वायुधः (सुन्दर आयुधों वाला), विचक्षणः (दूरद्रष्टा), शतधारः (सैकड़ों धाराओं वाला, रसयुक्त), हरिः (हरित वर्ण), पवमानः (पवित्रता से शुद्ध किया जाता हुआ), पुनानः (पवित्र करने वाला), पतिर्दिवः (द्युलोक का स्वामी), स्वर्जज्ञानो (स्वर्ग की सृष्टि करने वाला), मतवान् (प्रिय स्तोत्रों से युक्त), द्रापिं वसानो (तेज रूप कवच को धारण करने वाला), यजतः (यजन योग्य), अन्तरिक्षप्रा (अन्तरिक्ष का पूरक), इन्दु, वृषा मतीनां (स्तोताओं की कामनाओं का वर्षक), अह्नः प्रतरीतोषसो दिवः (दिवस, उषा और द्युलोक को बढ़ाने वाला), सिन्धूनां क्राणा (जल का कर्ता), पूर्व्यः (पुरातन), कविः (मेधावी), मधुक्षरत् (मधुरस को बहाने वाला), मदानां पति आदि कहा गया है।[3]

स्तुतिपूर्वक सोमरस का अभिषव सोम सूक्तों का एक मुख्य वर्णनीय विषय है - सोमलता के रस को अव्य (अवि के ऊन से बनी हुई छन्नी) से छानकर कलशों में भरा जाता है। शतधाराओं में सोमरस के

---

1. ऋग्वेद 9.86.14
2. ऋग्वेद 9.104.5
3. ऋग्वेद 9.86.11-12

कलशों में गिरने का शब्द, जल अथवा दुग्ध से मिश्रण आदि भी आलङ्कारिक रूप से वर्णित हुआ है -[1]

मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयाम्ना पथा ।[2]

सोम का स्थान उत्कृष्ट व्योम या वेदी पर है। सोम से तृप्त होकर ही इन्द्र संग्रामों में जाते हैं -

पदं यस्य परमे व्योमन् यतो विश्वाभिसंयाति संयतः ।[3]

स्तोता सोम की स्तुति करते हैं और गायें सोम को सींचती हैं।[4]

देवता सोमपान से ही बली होते हैं - **सोमेनादित्या बलिनः ।**[5]

अतः सोम देवों के रक्षक 'देवाव्यम्'[6] हैं। चन्द्रमा रूप सोम की अवस्थिति नक्षत्रों के समीप द्युलोक में है -

दिवि सोमोऽधिश्रितः ।[7]

इस प्रकार सोम के तीन रूप हैं।

प्रथम - ओषधि (लता) रूप, जिसे कूट-छानकर रस निकाला जाता है, तीन सवनों में जिस रस की अग्नि में आहुति दी जाती है, जिस मादक-वीर्यवर्धक रस का यज्ञ भाग के रूप में देवता और यज्ञशेष के रूप में स्तोता पान करते हैं।

द्वितीय - चन्द्ररूप सोम, जिसकी एक संज्ञा 'इन्दु' है, जो नक्षत्रों के समीप अवस्थित है, जिसके अमृत का देवता पान करते हें, फिर भी जो पुनः-पुनः परिपूर्णता को प्राप्त करता है।

तृतीय - अक्षय आनन्द रूप रसरूप सोम जिसे ब्राह्मण जानते हैं। उसका कोई पान नहीं कर सकता है -

सोमं यं ब्रह्माणो विर्दु न तस्याश्नाति कश्चन ।[8]

---

1. ऋग्वेद 9.86.13
2. ऋग्वेद 9.86.16
3. ऋग्वेद 9.86.15
4. ऋग्वेद 9.86.17
4. ऋग्वेद 10.85.2
6. ऋग्वेद 19.104.2
7. ऋग्वेद 10.85.1
8. ऋग्वेद 10.85.3

सोम से सख्य की, स्तोता के लिए मार्गदर्शक बनने की तथा दुष्ट शक्तियों के विनाश की प्रार्थनायें की जाती हैं -

सखेव सख्ये गातुवित्ततमो भव।
सनेमिकृध्यस्मदा रक्षसं कं चिदत्रिणम्।
अपादेवां द्वयुमंहो युयोधि नः ॥[1]

ऋग्वेद में सोम का भौतिक रूप और आनन्ददायी प्रभाव ही स्तुति का मुख्य विषय बना है।

सूर्य

सम्पूर्ण चराचर का अवलोकन करने वाले तेज:पुञ्ज सूर्य द्युलोक के अधिष्ठाता देवता हैं। ऋषि सार्पराज्ञी का सूक्त सूर्य देवता को अर्पित है। सूर्यपुत्री सूर्या, ब्रह्मजाया जुहू, नदी, रात्रि, दक्षिणा आदि ऋषियों के कतिपय मन्त्रों में भी सूर्य नैपातिक देवता के रूप में आते हैं।

देव जन्म के समय सूर्य का निर्माण मृत अण्ड (महाविस्फोट से विकीर्ण पदार्थों) से हुआ है, अत: उनका एक नाम 'मार्ताण्ड' या 'मार्तण्ड' है। देवमाता अदिति ने मार्तण्ड को जगत् की उत्पत्ति और लय के लिए आकाश में स्थापित किया है -

प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥[2]

इस पृथिवी से बहुत दूर द्युलोक में अवस्थित होने के कारण उनका एक नाम 'अकूपार' है।[3]

पूर्व से पश्चिम की ओर गति करने वाले सूर्य 'गौः', दीप्त वर्णों से युक्त होने के कारण 'पृश्नि', नीचे की ओर आती हुई किरणों से युक्त होने के कारण 'पतङ्ग' कहे जाते हैं।[4]

इनकी रोचना, दीप्ति या तेज मानों इनके भीतर से इनके प्राणों से निकल कर आता है। अपने महान प्रकाश से ये सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त कर लेते हैं -

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥[5]

---

1. ऋग्वेद 9.104.5-6
2. ऋग्वेद 10.72.9
3. ऋग्वेद 10.109.1
4. ऋग्वेद 10.189.1-3
5. ऋग्वेद 10.189.2

यद्यपि जल बरसा कर नदियों को प्रवाहित करने वाले देवता इन्द्र हैं, तथापि मेघों के निर्माण में सविता देवता की भूमिका भी सर्वविदित ही है, जो अपने सहस्रों सुन्दर हाथों (किरणों) से निरन्तर जल का आहरण करते रहते हैं और फिर उसे कई गुना बनाकर धरती को लौटा देते हैं, अतः ऋत की अनुगामिनी नदियाँ कहती हैं -

देवोऽनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ।[1]

सूर्य देवता का उत्तम तेज वरणीय और वन्दनीय है। वे प्रतिदिन इस सृष्टि को जीवन प्रदान करने के लिए ही उदित होते हैं।

वरुण

द्युस्थानीय वरुण नैतिक नियमों के देवता हैं। वे अपने पाश से मनुष्यों को बाँधते हैं।[6] स्त्री ऋषियों के सूक्तों में वरुण सूक्तभाज देवता न होकर मात्र नैपातिक देवता हैं। इनका उल्लेख प्रायः मित्र के साथ हुआ है। अहोरात्र (दिन और रात) मित्र और वरुण के विस्तृत धाम हैं। वे मर्त्यों द्वारा प्रतिक्षण किये जाने वाले कर्मों पर सजग दृष्टि रखते हैं।[2] नैतिक नियमों और व्यवस्थाओं के संरक्षक होने के कारण ब्रह्मजाया जुहू को पुनः ब्रह्म को प्रदान करने के पवित्र कार्य में इनका पूर्ण समर्थन प्राप्त होता है -

अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीद् ।[3]

मित्र और वरुण दोनों का ही प्रिय पेय सोम है -

मित्राय वरुणाय शंतमः ।[4]

वरुण का सम्बन्ध जलों से है, अतः उनकी एक संज्ञा 'सलिल' है।[5] 'मित्र' सूर्य का ही अभिधान है। सूर्य ही पृथ्वी के जल का आहरण कर मेघों का निर्माण करते हैं, अतः मित्र और वरुण की मैत्री शाश्वत है।

भग, अर्यमा, पूषा, मरुत, वायु एवं रुद्र

इन देवों का किसी एक ऋचा या ऋचांश में किसी एक वैशिष्ट्य के साथ उल्लेख मात्र हुआ है। विवाहसूक्त में भग, अर्यमा और पूषा से प्रार्थना की गई है कि वे वधू को कुशलता पूर्वक पतिगृह तक ले जायें-

---

1. ऋग्वेद 3.33.6
2. ऋग्वेद 10.10.6
3. ऋग्वेद 10.109.2
4. ऋग्वेद 9.104.3
5. ऋग्वेद 10.109.1

समर्यमा सं भगो नो निनीयात् ।
पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्या ।।[1]

अन्यत्र पूषा द्वारा वरपक्ष से आये हुये अश्विदेव के सत्कार का उल्लेख है । प्रतीत होता है कि अर्यमा, भग और पूषा सूर्य परिवार के देवता हैं, जिनके द्वारा गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिए सूर्यपुत्री सूर्या को सोम के लिए प्रदान किया जाता है -

भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।[2]

इस प्रकार इन्हें दाम्पत्य सुख और सौभाग्य प्रदान करने वाले देवता कहा जा सकता है ।

मरुत देवता मेघों को विदीर्ण कर धरती पर जल बरसाने में इन्द्र की सहायता करते हैं । वे इन्द्र के सखा हैं, अतः इन्द्राणी के भी मित्र हैं । इन्द्राणी अत्यन्त गर्व के साथ अपनी इस मैत्री का उल्लेख करती हैं-

उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा ।[4]

वायु अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं । इनका धर्म है - बहना । ऋषि वागाम्भृणी स्वयं को वायुरूप मानते हुये इस वैशिष्ट्य का उल्लेख करती हैं -

अहमेव वात इव प्रवामि ... ।[5]

जलवाष्प के वहन, मेघों के निर्माण एवं मेघों के सञ्चरण में वायु की विशेष भूमिका है, अतः इन्द्र वायुदेव के साथ सख्य के अभिलाषी होते हैं । दोनों की मैत्री को सुदृढ़ करने में सोमरस सहायक होता है -

मधु क्षरन्द्रिस्य वायोः सख्याय कर्तवे ।[6]

रुद्र देवता अपने धनुष-बाण से ब्रह्मद्वेषी असुरों का संहार करते हैं । इस कार्य में वाग् उनकी सहायक एवं प्रेरक होती हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.85.23-26
2. ऋग्वेद 10.85.36
3. ऋग्वेद 10.86.9
4. ऋग्वेद 10.86.9
5. ऋग्वेद 10.125.8
6. ऋग्वेद 10.86.20

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।[1]

वैदिक रुद्र देव ही पौराणिक शिव के रूप में विकसित हुये हैं। शिव का पिनाक नामक धनुष प्रसिद्ध है। असुरमर्दिनी शक्ति की सङ्कल्पना का भी यह बीज हो सकता है।

देवियाँ

देवियों में अदिति, इन्द्राणी, वाक्, श्रद्धा, उषा, रात्रि, आपः आदि पूज्य हैं। इन्दाणी इन्द्र के साथ यज्ञों में जाती हैं। नदियों के प्रति पूज्य भाव रखने एवं उक्थों के माध्यम से उनकी स्तुति करने का निर्देश स्वयं नदियाँ ही विश्वामित्र को देती हैं। रात्रि और श्रद्धा के लिए सूक्त की रचयिता स्वयं रात्रि एवं श्रद्धा हैं।

इस प्रकार ऋग्वैदिक धर्म; यज्ञों में देवों को हविष्य समर्पित करने एवं स्तुतियों द्वारा उन्हें प्रसन्न कर उनका अनुग्रह प्राप्त करने पर विशेष बल देता है क्योंकि देवतत्व की अनुभूति, उनकी सत्ता और अस्तित्व का बोध उनकी कृपा से ही होता है। वे मानवीय जीवन के हर पक्ष से जुड़े हुये हैं। मानव के पथ-प्रदर्शक, हितैषी और शुभङ्कर हैं। अग्नि, इन्द्र, वरुण, सूर्य, अश्विन् आदि देवों की अपनी स्वतन्त्र विशेषता और पहचान है किन्तु अर्यमा, पूषा, भग आदि को विशेष महत्व नहीं मिल पाया है।

वर्तमान हिन्दू धर्म में नाना देवी-देवताओं का अस्तित्व और पूजा ऋग्वैदिक धर्म का ही प्रभाव है। भले ही इन्द्र, अग्नि, वरुण, अश्विन् आदि देवों का अस्तित्व यहाँ समाप्तप्राय है; शिव, विष्णु, राम एवं कृष्ण ही आज के महत्त्वपूर्ण देवता हैं, किन्तु पूजन में दीप-प्रज्ज्वलन आज भी अग्नि देवता के पुरोहितत्व का प्रमाण है।

पाप-पुण्य की अवधारणा

मरणधर्मा मनुष्य इस मृत्यु लोक में रहकर अनेक प्रकार के अच्छे और बुरे कर्म करता है। दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की वृत्तियाँ उसमें पाई जाती हैं। जो ऋत और धर्म के विरुद्ध है, जो विश्वकल्याण के विरुद्ध है, जो द्वेषपूर्ण और समाज के लिए हानिकारक है, वह दुष्कृत है। इसे ही 'पाप', 'अंहस्', 'किल्विष' या 'अवद्य' कहा गया है।

केवल मनुष्य ही नहीं, देवता भी अनुचित, अनैतिक कर्मों से पाप के भागी होते हैं। इन्द्र के ब्रह्महत्या के अवद्य को नदियाँ मानों फेन के रूप में धारण करती हैं -

इन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः।[2]

---

1. ऋग्वेद 10.125.6
2. ऋग्वेद 4.18.7

निर्दोष पत्नी का परित्याग करने के कारण बृहस्पति या ब्रह्म भी पाप के भागी होते हैं, उनका यह पाप चर्चा का विषय भी बनता है -

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्विषे ।[1]

सहोदर भगिनी से सम्बन्ध करने वाला भी पापी माना गया है -

पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।[2]

पापों या दुष्कृतों का प्रायश्चित कर पापमुक्त भी हो सकते हैं। पापमुक्ति में देवता सहायक होते हैं -

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्विषम् ।[3]

अत: देवों से दुष्कृतों के नाश और पापमुक्ति के लिये प्रार्थना की जाती है -

अंहो युयोधि नः ।[4]

पापमुक्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग तप है, जो पतित को भी परम व्योम में स्थापित करता है।[5] जिस प्रकार निन्द्य कर्मों की संज्ञा 'दुष्कृत' है, उसी प्रकार प्रशंसनीय कर्मों की संज्ञा 'सुकृत' है।[6] मनुष्य सुकृतों से पुण्य का अर्जन कर उत्तम लोकों का भागी होता है।

पारलौकिक जीवन, स्वर्ग एवं पितृलोक

स्त्री ऋषियों ने मृत्यु पश्चात् जीवन या इस लोक से परे जीवन की सत्ता पर भी विचार किया है। मानव की भौतिक देह इस मृत्युलोक में ही समय के साथ जरा और मृत्यु को प्राप्त करती है, किन्तु इसके बाद भी जीवन का अस्तित्व रहता है। देह-रहित आत्मा उन लोकों को प्राप्त करती है, जहाँ पूर्व से ही हमारे पुण्यकर्मा पितर, युद्ध में प्राण देने वाले वीर और तप:साधना में रत ऋषिगण मृत्यु के पश्चात् गये हैं -

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥

---

1. ऋग्वेद 10.109.1
2. ऋग्वेद 10.10.12
3. ऋग्वेद 10.109.7
4. ऋग्वेद 0.104.6
5. ऋग्वेद 10.109.4
6. ऋग्वेद 10.85.24

पितॄन् तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात्
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ।।[1]

स्पष्ट ही है यह पितृलोक तपस्वियों और पुण्यकर्माओं को मिलता है। इस लोक में सोम, मधु और घृत की धारायें बहती हैं।

पितृलोक से भी परे स्वर्लोक है। तप से अनाधृष्य, महान तप करने वाले उस स्वः लोक और देवसान्निध्य को प्राप्त करते हैं -

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ।।[2]

पवित्र जीवन, धर्मानुसार आचरण और लोक के लिए त्याग मानव को इस लोक और परलोक दोनों में ही सुख प्रदान करता है -

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण ।[3]

मरणधर्मा मनुष्य भी धर्म के पालन से देवों के समान अमृत और मृत्युबन्धु होकर स्वर्ग में आनन्दपूर्वक रह सकता है -

हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते ।।[4]
तद्भवसि मृत्युबन्धुः ।
स्वर्ग उत्वमपि मादयासे ।।[5]

* * *

1. ऋग्वेद 10.154.3-5
2. ऋग्वेद 10.154.2
3. ऋग्वेद 10.154.3-5
4. ऋग्वेद 10.107.2
5. ऋग्वेद 10.95.18

दर्शन

इस दृश्य जगत् के पीछे विद्यमान अदृश्य की खोज चिरन्तन काल से ही मानवीय जिज्ञासा, चिन्तन और मनन का विषय रहा है। उस अव्यक्त को जानने-समझने की दुर्निवार इच्छा को लेकर ही ज्ञान-विज्ञान और धर्म-दर्शन की अनन्त शाखाएँ विकसित हुई हैं। व्यक्त जगत् तो सहज ही चर्मचक्षुओं से ग्राह्य होकर सभी के ज्ञान का विषय बनता है, किन्तु अव्यक्त का परिज्ञान या अनुभूति अन्तर्दृष्टि से होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सृष्टि के रहस्यों और शाश्वत सत्यों की साक्षात्कारात्मक अनुभूति; ऋषियों ने तपोबल से की थी। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में -

'वैदिक ऋषियों ने जो मार्ग अपनाया, वह अन्वेषकों और जिज्ञासुओं का मार्ग था। जिन प्रश्नों की उन्होंने छानबीन की, वे दार्शनिक प्रश्न हैं।'

यद्यपि प्रारम्भिक ऋग्वैदिक दर्शन बहुदेववाद या सृष्टि को सञ्चालित करने वाली नाना शक्तियों की स्तुति करता है, तथापि वह बहुदेववाद से एकदेववाद की ओर अग्रसर होता है । लक्षणा और प्रतीकों से उस परमतत्व की ओर इङ्गित मन्त्रों में प्राप्त होता है।

ब्रह्मवादिनियों के दार्शनिक चिन्तन को निम्न शीर्षकों में देखा जा सकता है -

सर्वव्यापी एक सत्ता का बोध

प्रकृति की इन भौतिक शक्तियों सूर्य, पर्जन्य, वायु, उषा, इन्द्र, रुद्र आदि को भी सञ्चालित करने वाली एक सर्वव्यापी सत्ता या शक्ति है। इस सत्य की स्थापना ब्रह्मविदुषी वागाम्भृणी के वाक् सूक्त में हुई है। जब वाक् आत्मानुभूत सत्य का उद्घाटन करते हुये कहती हैं -

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सम्बभूव ॥

तब यह अनुभूति उपनिषदों के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' के बहुत निकट होती है।

1. ऋग्वेद 10.125.1,8

विश्ववारा जैसी ब्रह्मवादिनी ऋषियों ने जान लिया था कि दृश्यमान अग्नि आदि देवता उस अमृत तत्व के ही प्रकाश हैं, उस परम तत्व तक पहुँचने के लिए ये देवता माध्यम हैं, अत: वे कहती हैं -

समिध्यमानो अमृतस्य राजसि ।[1]

ब्रह्मवादिनी सूर्या भी उस अविनाशी परम तत्व की ओर इङ्गित करती हैं -

सोमं यं ब्रह्माणं विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ।।[2]

यद्यपि उस अविनाशी परम तत्त्व को 'ब्रह्म' नाम से अभिहित नहीं किया गयाहै, किन्तु उसकी सत्ता का बोध स्पष्ट है। ऐसा लगता है मानो एक आध्यात्मिक एकता की तैयारी चल रही है, एक विश्वास का निर्माण हो रहा है कि इन देवताओं को सञ्चालित और अनुप्राणित करने वाला कोई एक तत्व है। विभिन्न देवताओं के लिए प्रयुक्त होने वाले एक जैसे विशेषण - 'दिविस्पृशमन्तरिक्षप्रा भुवनेष्वर्पित:'[3], 'पदं यदस्य परमे व्योमन्'[4], 'द्यावापृथिवी आ विवेश'[5], 'स विश्वा भुव आभुव:'[6] तथा इन्द्र, सविता, अग्नि, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान् आदि का समीकरण एक सार्वभौम सर्वव्यापी सत्ता की पुष्टि करते हैं।

अक्षर (ब्रह्म)

उपनिषदों में सृष्टि को सञ्चालित करने वाले उस एक परम तत्त्व की संज्ञा 'अक्षर' है। याज्ञवल्क्य के साथ हुये गार्गी के शास्त्रार्थ में इस 'अक्षर' तत्त्व की व्याख्या इस प्रकार की गई है -

'वह अक्षर न स्थूल है, न अणु, न ह्रस्व है, न दीर्घ। वह असङ्ग, अरस, अगन्ध, अचक्षु है ...इसी अक्षर के शासन-सूत्र में बँधे द्यावा-पृथिवी अपने-अपने स्थानों में ठहरे हुये हैं .... यह अक्षर स्वयं अदृष्ट होने पर भी द्रष्टा, स्वयं अश्रुत होने पर भी श्रोता, स्वयं अमत होने पर भी मन्ता, स्वयं अविज्ञात होने पर भी विज्ञाता है ....इसी अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है।'

नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ ....।[7]

---

1. ऋग्वेद 5.28.2
2. ऋग्वेद 10.85.3
3. ऋग्वेद 9.86.14
4. ऋग्वेद 9.86.15
5. ऋग्वेद 10.125.6
6. ऋग्वेद 10.153.5
7. बृहदारण्यकोपनिषद् 3.8.9,10,11

इसे ही 'ब्रह्म' कहा गया है। जो इस 'अक्षर' को जान कर इस लोक से प्रयाण करता है, वही ब्राह्मण है।

आत्मा

प्राणी के शरीर में रहने वाले चित् तत्त्व का अभिधान 'आत्मा' है। आत्मा शब्द 'अन्' (श्वास लेना) धातु से निष्पन्न है अर्थात् आत्मा जीवन का स्पन्दन या श्वास है -

आत्मा ते वातः ।[1]

क्रमशः यह शब्द अर्थविस्तार को प्राप्त कर जीवन और आत्मा अर्थात् व्यक्ति की मूल चेतना, अविनाशी सत्ता का बोधक हुआ। आयार्च शङ्क आत्मा की व्युत्पत्ति 'आप्', 'अद्' अथवा 'अत्' धातु से मानते हैं -

आत्मा आप्नोतेरत्तेरततेर्वा ।[2]

इस प्रकार आत्मा वह है, जो मानव की सत्ता, प्राण एवं प्रज्ञा से व्याप्त है तथा उससे परे भी है। आत्मा की इस परिभाषा के सन्दर्भ में वागाम्भणी का निम्नलिखित मन्त्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसमें विश्वात्मा या सर्वात्मा का निरूपण किया गया है -

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्रणिति य ईं श्रृणोत्युक्तम् ।[3]

'प्राणी जो अन्न ग्रहण करता है, देखता है, सुनता है या श्वास लेता है, वह मेरे द्वारा ही करता है।'

उपनिषदों में आत्मा तत्व की जिस विशद रूप में व्याख्या हुई है, उस रूप में आत्मा का निरूपण वेदों में नहीं है तथापि जब ऋषि भौतिक देह के विनाश या मृत्यु के पश्चात् भी मनुष्य के पितृलोक या स्वःलोक में जाने की बात कहती हैं, तब वे अविनाशी आत्म-तत्व की सत्ता को स्वीकार करती हैं।[4]

देह से भिन्न आत्मा की स्वीकृति या पहचान स्त्री ऋषियों के सूक्त में अनेकशः अभिव्यञ्जित हुई है। ऋषि दक्षिणा कहती हैं कि विशेष रूप से जानने वाले विद्वान (विजानन) दक्षिणा को आत्मा का कवच बनाते हैं -

---

1. ऋग्वेद 7.87.2
2. ऐतरेय उपनिषद् 1.1 पर आचार्य शङ्कर का भाष्य
3. ऋग्वेद 10.125.4
4. ऋग्वेद 10.154

आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ।[1]

स्पष्ट ही यहाँ देहरक्षक कवच की चर्चा नहीं है। तप द्वारा आत्मशुद्धि और आत्मोत्थान पर भी ऋषियों का विश्वास है।

आत्मज्ञान या आत्म साक्षात्कार उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य है। उपनिषद् 'आध्यात्म' (आत्मा को विषय बनाकर रचे गये साहित्य) के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी को महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा दिये ज्ञान में आत्म तत्त्व का निरूपण इस प्रकार हुआ है -

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।

आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान करना चहिये क्योंकि उस एक के दर्शन, श्रवण और ज्ञान से जगत् का सब-कुछ जान लिया जाता है। आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही क्षत्र (क्षात्रशक्ति) है, यही लोक है, यही देव है, यही सर्वभूत है, यह आत्मा ही सब-कुछ है-

इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा ।

जैसे सभी जल समुद्र को पहुँचते हैं, सभी स्पर्श त्वचा को, सभी सङ्कल्प मन को, समस्त विद्यायें हृदय को, उसी प्रकार सृष्टि का समस्त प्रवाह आत्मा को प्राप्त करता है।[2]

जैसे लवण का टुकड़ा जल में डाल दिया जाये, तो वह जल में ही विलीन हो जाता है, उसे जल से निकाला नहीं जा सकता, जल को जहाँ से भी लिया जाये, वह नमकीन ही होता है; वैसे ही वह 'विज्ञान घन अनन्त अपार महद्भूत' आत्मा इन भूतों के साथ प्रकट होता है, इन भूतों में घुला-मिला रहता है, उन्हीं में लीन रहता है -

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयते न हास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति ....

ब्रह्माण्ड के विभिन्न घटकों - पृथिवी, जल, वायु, आकाश में व्याप्त जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वह समष्टि ब्रह्माण्ड की आत्मा है; शरीर में व्याप्त जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वह व्यष्टिरूप पिण्ड की आत्मा है। यह आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही सब-कुछ है -

---

1. ऋग्वेद 10.107.7
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.5,6,11

यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।[1]

यह आत्मा जो समष्टिरूप ब्रह्माण्ड में सभी महाभूतों का अधिपति है, वही व्यष्टि में सभी प्राणियों का राजा है। यह आत्मा ब्रह्माण्डरूपी रथ की 'नाभि' भी है और 'नेमि' अर्थात् परिधि भी; जैसे रथचक्र के अर एक ओर नाभि से जुड़े होते हैं, दूसरी ओर नेमि से; उसी प्रकार समस्त भूत, समस्त देव, समस्त प्रणि एक ओर व्यष्टि आत्मा से; दूसरी ओर समष्टि आत्मा से जुड़े हैं, उसी में समर्पित हैं।

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एव आत्मनः समर्पिताः ।[2]

बृहदारण्यकोपनिषद् में इस आत्मविषयक ज्ञान को 'मधुविद्या' कहा गया है। यह ज्ञान अथर्वगोत्री दध्यङ् ने अश्वियों (अश्विन् देवों) को दिया था। वह परम पुरुष अपने द्वारा बनाये गये 'पुर' में शयन करता है, अतः 'पुरिशय पुरुष' कहा जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि में भीतर और बाहर सर्वत्र वही पुरुष है।

स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम् ।[3]

यह आत्मा जिस रूप के साथ स्वयं को जोड़ लेता है, उसी का प्रतिरूप हो जाता है, किन्तु आत्मा का यथार्थ रूप अपरिवर्तित ही रहता है। यह आत्मा अनन्त, अपूर्व, अनपर, अबाह्य, ब्रह्म, सर्वज्ञ और सर्वानुभू (स्वसंवेद्य) है-

तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभूरित्यनुशासनम् ।[4]

आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य का बोध ही उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य है। यह आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान का विषय है। इस ज्ञान या अनुभूति के पश्चात् समस्त द्वैत समाप्त हो जाते हैं।

पुनर्जन्म

मनुष्य का पुनर्जन्म होता है या नहीं, यद्यपि स्पष्ट शब्दों में इस प्रश्न पर ऋग्वैदिक ऋषियों ने विचार नहीं किया है किन्तु उषा, सूर्य, चन्द्र आदि दिव्य तत्वों के पुनः-पुनः जन्म लेने का उल्लेख हुआ है। 'जायते

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.5.1
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.5.15
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.5.18
4. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.5.19

पुनः', 'नवो नवो भवति जायमानः'[1] जैसे सन्दर्भ पुनर्जन्म और नवीन शरीर धारण करने की भावना को स्पष्ट करते हैं।

सृष्टिविषयक विचार

जगत् की उत्पत्ति और सृष्टि के सम्बन्ध में भी ऋषिकाओं ने विचार किया है। इस दृष्टि से अदिति का देवोत्पत्ति सूक्त विशेष महत्वपूर्ण है, जो वर्तमान वैज्ञानिकों के महाविस्फोट सिद्धान्त के निकट है। सृष्टि से पूर्व जब यह जगत् नहीं था, तब असत् से सत् उत्पन्न हुआ -

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ।[2]

असत् अर्थात् अव्यक्त सत्ता से सत् अर्थात् व्यक्त सृष्टि प्रकट हुई। यहाँ जगत् उपनिषदों या अद्वैत वेदान्त के जगत् के समान मिथ्या नहीं है, वह एक प्रातिभासिक सत्ता भी नहीं है। बृहस्पति ने लुहार के समान इस सृष्टि को गढ़ा है -

ब्रह्मणस्पतिरेता संकर्मार इवाधमत् ।[3]

जैसे कर्मार धौंकनी से प्रचण्ड अग्नि को प्रकट करता है, उसी प्रकार सृष्टिकर्ता ने महान सृजनात्मक ऊर्जा या अग्नि को प्रज्ज्वलित किया । उस प्रज्ज्वलित ऊर्जा के विखण्डन या विस्फोट से सृष्टि हुई। जगत्पालक देवों और मार्ताण्ड (सूर्य) का निर्माण हुआ। पृथिवी और दिशायें बनीं।

सृष्टि के ये सभी घटक सृष्टि से पूर्व अव्यक्त स्पन्दनहीन स्तब्ध अवस्था में थे -

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।[4]

सृष्टि के समय इनमें तीव्र विक्षोभ हुआ। घटक तत्वों के नर्तन से तीव्र धूलि उठी। क्रमशः ये तत्व चारों ओर फैल गये-

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।

अदिति ने सूर्य को आकाश में फेंक दिया। द्युलोक में सूर्य के जन्म के बाद पृथिवी पर प्राणियों का जीवन-चक्र सम्भव हुआ।[5]

---

1. ऋग्वेद 10.85.18,19
2. ऋग्वेद 10.72.2
3. ऋग्वेद 10.72.2
4. ऋग्वेद 10.72.9
5. भगवद्गीता 10.18

अमृत ही मानवजीवन का लक्ष्य है

यद्यपि जन्म और मृत्यु इस जगत् के सत्य हैं, जिनका अपलाप सम्भव नहीं है, फिर भी यही अन्तिम सत्य या अवस्था नहीं है, यह बोध ऋषिसूक्तों में स्पष्ट है। दिव्य तत्वों की चिरन्तनता और नित्यता ने उन्हें स्वयं को चिरन्तन या अमृत बनाने की प्रेरणा दी। आर्यों ने भौतिक सुख-समृद्धि की अभिलाषा की, किन्तु वह 'अमृत' तत्व उनकी चेतना से तिरोहित नहीं हुआ। यज्ञ-धर्म, दक्षिणा, श्रद्धा और तप उसी अमृत को पाने के लिए हैं। इस मृत्यु लोक में रहकर भी मृत्युबन्धु हो जाना उनके जीवन का उद्देश्य है। ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी ने भी इसी की कामना की थी -

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति।

और वे विश्व-संस्कृति के इतिहास में अमर हो गईं।

धर्म और दर्शन के जिन सूत्रों को इन ऋषियों ने उपन्यस्त किया, उन्हीं का परिवर्धन परवर्ती युग में हुआ। गीता में श्रीकृष्ण धर्म के इन्हीं तत्वों पर बल देते हुये कहते हैं -

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥[1]

ऋत या धर्म का पालन करते हुये मृत्यु से अमृत की ओर जाना ही वैदिक धर्म और दर्शन का सार है।

उपनिषदों में प्रतिपादित दर्शन का आधार वेद हैं, तो परवर्ती षड्दर्शनों का उत्स उपनिषद्। मुक्तिकोपनिषद् में सत्य ही कहा गया है-

तिलेषु तैलवद् वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः।[2]

वैदिक साहित्य में प्रतिपादित दर्शन आज भी उतना ही मूल्यवान् एवं प्रासङ्गिक है, जैसा कि अपने युग में था; क्योंकि यह साहित्य; काल की दृष्टि से सुदूर होते हुये भी अपने चिन्तन की दृष्टि से मानव-मन या उसकी मूल प्रकृति से कभी भी दूर नहीं रहा है।

मानव की भावनात्मक समस्याओं, बढ़ते तनावों, टूटते सम्बन्धों, मृत होती संवेदनाओं, आत्मिक क्षुधा, प्राकृतिक आपदाओं और नियति-जन्य समस्याओं का कोई भी समाधान वर्तमान विज्ञान या प्रौद्योगिकी के पास नहीं है। इन सबके लिये अपनी आध्यात्मिक अनुभूति से जो समाधान, दूरदृष्टि और जीवनशैली हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रस्तुत की थी, वही आज विश्वमानव के लिये वरेण्य हो सकती है। वही मानव की अपूर्ण से पूर्ण होने की तीव्र आकुलता को सत्य-शिव पथ पर अग्रसर कर सकती है।

---

1. भगवद्गीता 10.18
2. मुक्तिकोपनिषद् 1.9

6. शिक्षा

. शिक्षा के उद्देश्य

. विद्याध्ययन का काल

. शिक्षा के घटक या अङ्ग

. गुरु या आचार्य . अन्तेवासी

. अध्ययन के विषय . शिक्षण प्रणाली

. शिक्षा केन्द्र

6. शिक्षा

किसी भी राष्ट्र की उन्नत संस्कृति और उदात्त जीवनमूल्यों की आधारशिला उस देश की शिक्षा व्यवस्था होती है; क्योंकि शिक्षा ही उन विद्याओं या ज्ञानराशि का स्रोत होती है, जो पञ्चकोषात्मक मानव के समग्र कोषों का विकास करते हुये उसे मृत्युञ्जयी या अमृत के योग्य बनाती है। अतः कहा गया है -

विद्ययाऽमृतमश्नुते ।[1]

मानव व्यक्तित्व का समग्र विकास, अन्तर्निहित क्षमताओं और शक्तियों का उन्मीलन, अज्ञान के गहन अन्धकार को दूर कर ज्ञानालोक की सृष्टि, मानव को; मानवेतर पशुओं से पृथक् कर सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने की क्षमता या शक्ति सच्ची और अच्छी शिक्षा में ही होती है, अतः शिक्षाव्यवस्था चिरन्तन काल से ही सन्तान को जन्म देने वाले माता-पिता के साथ ही समाज और राष्ट्र का एक अनिवार्य, पवित्र, नैतिक दायित्व मानी गई है।

'शिक्षा' शब्द 'शिक्षणं शिक्षा' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में शिक्ष् (विद्योपादाने) धातु से 'अङ्' एवं स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है। सामान्य रूप में विद्याग्रहण या ज्ञानार्जन की प्रक्रिया 'शिक्षा' कही जाती है, जिसमें सीखना और सिखाना, अनुशासन, उपदेश आदि सभी क्रियायें सम्मिलित होती हैं।

बुद्धिमत्ता, विवेकिता, मनुष्यत्व, ऋषित्व, देवत्व और अमृतत्व या ब्रह्मत्व शिक्षा के उत्तरोत्तर फल हैं। वैदिक संस्कृति की शिक्षाव्यवस्था जो अमृत या आत्मज्ञान को विद्या का फल मानती है, एक आदर्श एवं सफल शिक्षा-प्रणाली थी, जिसका अनुसरण आज भी; पथभ्रष्ट मानवता के लिये दिशा-निर्देशक हो सकता है।

वैदिक ऋषियों एवं ऋषिकाओं द्वारा प्रणीत शिक्षा प्रणाली को; निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है-

---

1. ईशोपनिषद् 14

1. शिक्षा अज्ञान को दूर कर मनुष्य को ज्ञानसम्पन्न बनाने की प्रणाली है -

ऋषिका घोषा स्वयं को 'अज्ञा, अमति:'[1] कहते हुए अश्विन् देवों से प्रार्थना करती हैं कि वे उन्हें उसी प्रकार से शिक्षा दें, जिस प्रकार पिता अपनी सन्तान को देते हैं।

इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम् ।[2]

ज्ञानरूपी नेत्र या आलोक को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा वैदिक मन्त्रों में सर्वत्र अभिव्यक्त होती है।[3]

2. शिक्षा वाणी का संस्कार करती है -

ज्ञान या विद्या की अधिष्ठात्री देवी 'वाक्' हैं। अम्भृण ऋषि की कन्या ब्रह्मवादिनी 'वाक्' के अनुसार जिन पर वाक् देवी की कृपा होती है, वही मेधावी, ऋषि और सृष्टा होता है-

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं ते सुमेधाम् ।।[4]

अत: वाणी का संस्कार, वाक्प्रागल्भ्य एवं वक्तृत्वशक्ति को अधिगत करना भी शिक्षा का एक लक्ष्य है। इस दृष्टि से तैत्तिरीय उपनिषद् की 'शिक्षावल्ली' में वर्णोच्चारण विधि को सीखने एवं सिखाने की प्रक्रिया को 'शिक्षा' कहा गया है -

शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम सन्तानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ।[5]

आचार्य सायण ने भी शिक्षा को उच्चारणविधि की शिक्षा देने वाला कहा है -

स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा ।[6]

वस्तुत: यह शिक्षा का प्रथम या प्रारम्भिक पक्ष है, क्योंकि शिक्षा भाषा या वाक् के वैखरी रूप से ही प्रारम्भ होती है।

---

1. ऋग्वेद 10.39.6
2. ऋग्वेद 10.39.6
3. चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि - यजुर्वेद 4.3 ; विश्वं ज्योतिर्यच्छ -यजुर्वेद 15.58
4. ऋग्वेद 10.
5. तैत्तिरीयोपनिषद् 1.2.1
6. ऋग्वेद भाष्य भूमिका 5.2.3

3. शिक्षा आत्मिक गुणों के विकास के लिये है -

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मिक गुणों के विकास को भी शिक्षा के अन्तर्गत रखा गया है - प्रजापति अपने शिष्यों, देवों, मनुष्यों तथा असुरों को क्रमशः दम (इन्द्रियनिग्रह), दान और दया की शिक्षा देते हैं-

तदेत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ।[1]

4. शिक्षा बुद्धि को सत् की ओर अभिप्रेरित करने के लिये है -

वैदिक शिक्षा का प्रारम्भ बुद्धि और मन को शुभ की ओर प्रेरित करने वाले सविता देवता के; तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले वरेण्य तेज के ध्यान से; गायत्री मन्त्र द्वारा होता था। सूनृत, सुमति और धी प्राप्त करने के लिये नदीतमा सरस्वती की आराधना की जाती थी -

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥
महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना ।
धियो विश्वा विराजति ।[2]

क्योंकि सरस्वती की पवित्र विशाल जलधारा के समान विशाल और पवित्र करने वाली ज्ञानधारा में अवगाहन बुद्धिपूर्वक ही हो सकता था।

5. शिक्षा का उद्देश्य मानव को मृत्यु से अमृत की ओर अग्रसर करना है -

शिक्षा का उद्देश्य मानव को विवेक सम्पन्न बनाकर उसकी नैतिक और आत्मिक शक्तियों को जागृत करते हुये समग्र मानवजाति को असत् से सत् की ओर, अन्धकार से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर अग्रसर करना है -

असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योर्तिगमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥[3]

यह सृष्टि एक द्वन्द्व है। सत्-असत्, राग-विराग, जीवन-मृत्यु, सत्य-असत्य, ऋत-अनृत, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, काम-निष्काम, सुख-दुःख, भोग-अपवर्ग, बन्ध-मोक्ष का द्वन्द्व। इसमें से अशुभ,

---

7. बृहदारण्यकोपनिषद् 5.2.3
1. ऋग्वेद 1.3.11-12
2. बृहदारण्यकोपनिषद्

अभद्र, अश्रेयस् का परित्याग करते हुये श्रेष्ठ, शुभ, मङ्गल का वरण मनुष्य को करना है। शिक्षा मानव में विवेक-शक्ति को जागृत कर; उसे सत्य ज्ञान के योग्य बनाती है, शुभ और भद्र की ओर अभिप्रेरित करती है। अत: उपनिषदों के ऋषि आलोकपुञ्ज 'पूषा' देवता से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें सत्य का दर्शन करायें-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥[1]

शिक्षा से ही मानव को वह दृष्टि मिलती है, जिससे तत्वों के ऊपर पड़ा हुआ आवरण हट जाता है, ज्ञानचक्षु के सम्मुख सत्य उन्मीलित होकर स्वयं को यथार्थ रूप में प्रकट करता है।

* * *

1. ईशोपनिषद् 15

शिक्षा या विद्याध्ययन का काल

यद्यपि मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही कुछ न कुछ सीखने या स्वाध्याय में व्यतीत होता है, तथापि आयु का प्रथम भाग अर्थात् 25 वर्ष तक की आयु विद्याध्ययन का काल मानी गई थी। इस कालखण्ड की विशिष्ट संज्ञा 'ब्रह्मचर्य' थी।

ब्रह्मचर्य -

ज्ञानार्जन का यह काल 'ब्रह्मचर्याश्रम' कहा जाता था, क्योंकि यह ज्ञान[1] ब्रह्म की उपासना या चर्या अर्थात् अपने आचरण में उसे प्रतिफलित करने का काल था। ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेने के लिये शिष्य 'समित् पाणि' होकर गुरु के समीप पहुँचते थे। गुरु 'उपनयन' संस्कार के माध्यम से उस विद्या-अर्थी को अपने समीप लाकर ब्रह्मचर्य में दीक्षित करते थे। यह गुरु के समीप पहुँचकर पूर्ण श्रद्धा, श्रम और तप से विद्याओं की उपासना का काल था -

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रींस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमुपसंयन्ति देवाः ।।[2]

आचार्य ब्रह्मचारी को तीन रात्रियों तक अपने ज्ञान रूपी गर्भ में धारण कर उसे द्वितीय जन्म देते थे। उस तेजस्वी द्विज को देखने के लिये देवता पहुँचते थे अर्थात् देवकृपा या देवों की अनुकूलता उसे प्राप्त होती थी।

मूँज की मेखला और कृष्ण अजिनधारी, दीर्घश्मश्रुः, दीक्षित[3] समिधावान (तेज से प्रकाशित) ब्रह्मचारी अपने श्रम से लोकों को धारण करता हुआ तप से आचार्य को सन्तुष्ट कर ज्ञान का अधिकारी होता था -

स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ।।[4]

---

1. ज्ञानं ब्रह्म। प्रज्ञानं ब्रह्म। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।- तैत्तिरीयोपनिषद् 1.11
2. अथर्ववेद 11.5.3
3. अथर्ववेद 11.5.6
4. अथर्ववेद 11.5.1,4

ब्रह्मचर्य; ब्रह्मचारी के लिये शरीर, मन, वाणी और आचार की शुद्धता [1]के साथ ज्ञान-राशि को अधिगत करने के साथ ही परवर्ती जीवन के लिये स्वयं को तैयार करने, समाज का एक उपयोगी सदस्य तथा राष्ट्र का उत्तरदायी नागरिक बनने का काल था। ब्रह्मचर्य की अमित शक्ति ही मानव को नाना पदों पर अधिष्ठित करते हुये उसे जीवन एवं कर्मक्षेत्र में सफल बनाती थी । अत: अथर्ववेद में कहा गया है -

ब्रह्मचर्य से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, आचार्य योग्य ब्रह्मचारी (शिष्य) को प्राप्त करता है, देवता मृत्यु को जीत कर अमृत हुये हैं; यहाँ तक कि समग्र विश्व की सत्ता या अस्तित्व भी ब्रह्मचर्य से ही है -

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ॥[2]

विद्याध्ययन पूर्ण कर दीक्षान्त स्नान से तेजस्वी; वह ब्रह्मतेज से अत्यन्त प्रकाशित होता है -

स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्याँ बहु रोचते ।[3]

* * *

1. यजुर्वेद 6.14
2. अथर्ववेद 11.5. 17-19
3. अथर्ववेद 11.5.26

शिक्षा के घटक या अङ्ग

शिक्षा की पूर्णता, समग्रता या सार्थकता सभी अङ्गों के समुचित संयोजन में है। तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली में पाँच महा संहिताओं के अन्तर्गत 'अधिविद्या' संज्ञक महासंहिता में विद्या के चार अङ्गों का निरूपण हुआ है -

1. आचार्य
2. अन्तेवासी या शिष्य
3. विद्या (अध्ययन के विषय या पाठ्यक्रम) तथा
4. प्रवचन (शिक्षणपद्धति या विधि)-

अथाधिविद्यम्। आचार्यपूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः।

प्रवचनँ संधानम्। इत्यधिविद्यम्।[1]

शिक्षा या विद्या नामक महासन्धि के ये सभी महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं, जिनसे किसी भी जाति या राष्ट्र की शिक्षाव्यवस्था आदर्श एवं आवश्यकताओं के अनुरूप बनती है, सफल होने के साथ ही सार्थक भी होती है।

1. गुरु या आचार्य

वैदिक वाङ्मय में माता, पिता एवं आचार्य तीनों को गुरु मानते हुये देवता के समान पूज्य एवं श्रद्धेय माना गया है -

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।[2]

क. माता -

माता प्रथम गुरु के रूप में शिशु को भाषाज्ञान के साथ ही संस्कारों और शिष्टाचार की भी शिक्षा देती है। विशेष रूप से कन्याओं को तो वे सर्वदा ही गुरु के रूप में कर्तव्य बोध, गृहकार्यों में नैपुण्य, पाककला,

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् 1.3.4
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 1.11

सिलाई-कढ़ाई, अतिथिसत्कार एवं पतिगृह में जाकर समुचित व्यवहार, शिशुओं की देखभाल एवं कर्तव्यपालन की शिक्षा देती रही हैं।

ख. पिता-

पिता भरण-पोषण के साथ ही पारिवारिक अनुशासन, सामाजिक आचार-व्यवहार एवं पैत्रक व्यवसाय का ज्ञान देते रहे हैं। पिता से शिक्षा प्राप्त करने की आकाँक्षा सन्तान में भी दिखाई देती है। ब्रह्मवादिनी घोषा का वचन इसका प्रमाण है -

पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम् ।[1]

घोषा के इस वचन से यह भी सूचित होता है कि ऋषि-पुत्रियाँ सम्भवत: पिता से ही वैदिक ज्ञान को प्राप्त करती थीं। उपनिषद् युग में भी यह परम्परा प्राप्त होती है। श्वेतकेतु के पिता महर्षि उद्दालक आरुणि उनके गुरु भी थे। उन्होने अपना समग्र ज्ञान अपने पुत्र को प्रदान किया था-

स होवाच...यथा यदहं किञ्च वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचत् ।[2]

इसी प्रकार वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता वरुण के पास जाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की थी -

भृगुर्वै वारुणि: । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति ।[3]

ग. आचार्य -

घर पर ही दी जाने वाली प्राथमिक शिक्षा के पश्चात् विद्याध्ययन के लिये योग्य हो जाने पर बालक को गुरु के समीप भेजा जाता था। गुरु या शिक्षक की 'आचार्य' संज्ञा वैदिक संस्कृति के महत्त्व को प्रतिपादित करती है। महर्षि यास्क ने आचार्य पद की निरुक्ति तीन अर्थों में की है -

आचारं ग्राह्यति, आचिनोति अर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा ।[4]

1. ऋग्वेद 10.39.6
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 6.2.4
3. तैत्तिरीयोपनिषद् -भृगुवल्ली
4. निरुक्त 1.4

आचार्य बालक को आचार का ग्रहण कराता है, ज्ञानयोग्य नाना अर्थों का चयन करता है अथवा शिष्य की बुद्धि में नाना अर्थों को संग्रहीत करता है।

गुरु की 'आचार्य' संज्ञा उसके आदर्श आचरण या चरित्र के कारण भी होती है, जिसका अनुकरण शिष्य द्वारा किया जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार 'आचार्य' विद्यारूपी सन्धि का पूर्वरूप है क्योंकि ज्ञानराशि को धारण करने वाला आचार्य ही अपनी ज्ञानज्योति को शिष्य रूपी दीपक में स्थापित करता है। ज्ञान, दीक्षा (समर्पण) और तप (कठोर अनुशासन और नियम) आचार्य के आचरण की विशेषताएँ हैं। आचार्य का कार्य शिष्य को ज्ञानसम्पन्न बनाने के साथ ही चरित्रवान् बनाना भी है। मन, वचन और इन्दियों की शुद्धि के साथ चरित्र की शुद्धि से ही आचार्य का आचार्यत्व सार्थक होता है।

यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में कहा गया है -

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि।
चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि।
नाभिं ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि॥[1]

आचार्य; शिष्य के लिये आकाश एवं द्यावापृथिवी को मानो तराशता है। वह इन्हें देखने-समझने और जानने के लिये दृष्टि देता है, ज्ञान के गूढ़ रहस्यों को उन्मीलित करता है, समस्त शङ्काओं और संशयों को दूरकर हृदय की ग्रन्थियों को खोलता है।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।[2]

उपनिषदों के युग में यह धारणा बद्धमूल हो चुकी थी कि योग्य आचार्य से अधीत विद्या ही सफल होती है। जैसा कि सत्यकाम जाबाल हारिद्रुमत गौतम से कहते हैं -

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति।[3]

श्रेष्ठ गुरु की खोज करते हुये ब्रह्मचारी स्वयं गुरु के समीप विद्यार्जन के लिये पहुँचते थे। स्त्रियाँ भी शिक्षक या गुरु हो सकती थीं। पाणिनी की अष्टाध्यायी में ऐसे अनेक शब्द प्राप्त होते हैं, जो स्त्री आचार्यों के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। इन्हें 'उपाध्याया', 'उपाध्यायी' या 'आचार्या' कहा गया है, जबकि उपाध्याय या आचार्य की पत्नी को 'उपाध्यायानी' या 'आचार्यानी' कहा गया है।

---

1. शुक्ल यजुर्वेद 6.14
2. अथर्ववेद 11.5.8
3. छान्दोग्योपनिषद् 4.9.3

2. अन्तेवासी

'अन्तेवासी' विद्यारूपी सन्धि का पररूप है। पूर्वरूप और पररूप के मिलन से ही विद्या की सनातन परम्परा आगे बढ़ती है। आचार्य कुल में गुरु के समीप रहकर विद्यार्जन करने के कारण शिष्य या विद्यार्थी की संज्ञा 'अन्तेवासी'[1] थी अथवा गुरु द्वारा अपने ज्ञानगर्भ में धारण किये जाने के कारण भी यह अभिधान उसे प्राप्त था।

ज्ञानब्रह्म की चर्या के कारण वह 'ब्रह्मचारी' और अनुशासन योग्य होने के कारण 'शिष्य' कहा जाता था। विद्यार्थी विद्यार्जन के लिये 'ब्रह्मचर्य' आश्रम में प्रवेश करता था -

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ।[2]

विद्यार्थी को शिष्य रूप में स्वीकार करने से पूर्व उसकी योग्यता एवं गुणों का परीक्षण किया जाता था। विद्यार्थी का प्रथम गुण था- उसकी सत्यवादिता। सत्यकाम की सत्यवादिता से प्रभावित होकर ही हारिद्रुमत ने उनका उपनयन किया था -

समिधँ सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये। न सत्यादगा इति।[3]

उपनयन के पश्चात् शिष्य की लगन और विद्या के प्रति ललक की परीक्षा ली जाती थी। उसके श्रम करने की क्षमता, तप-दम आदि गुणों का भी विचार किया जाता था। हारिद्रुमत गौतम ने उपनयन के पश्चात् सत्यकाम जाबाल को चार सौ दुर्बल कृशकाय गौओं की परिचर्या हेतु जङ्गल में भेज दिया था तथा उनकी संख्या एक हज़ार होने के बाद ही लौटने के लिये कहा गया था।

योग्य पात्र को दी गई विद्या ही सफल मानी जाती थी, अन्यथा वह ऊषर में बोये गये बीज के सदृश निष्फल होती थी। निरुक्त में उद्धृत एक आख्यान के अनुसार एक बार विद्या ने ब्राह्मण के समीप आकर अपनी रक्षा के लिये निवेदन किया -

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम। गोपाय माम। शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकाया नृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः। वीर्यवती तथा स्याम्।.....यमेवविद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।.....यस्ते न द्रुह्येत .....तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥[4]

---

1. अन्ते गुरुसमीपे वसति तच्छील: पूर्ववत् णिनि प्रत्यय:। पाणिनी सूत्र 6.3.18
2. छान्दोग्योपनिषद् 4.4.3
3. छान्दोग्योपनिषद् 4.4.5
4. निरुक्त 2.1

इसमें ईर्ष्यालु, कुटिल और अकर्मण्य को विद्यादान का निषेध करते हुये पवित्र आचरण वाले, सावधान, मेधावी, ब्रह्मचर्यसम्पन्न को ही विद्यादान का विधान किया गया है।

वैदिक युग में बालकों की भाँति बालिकाएँ भी ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेकर विद्या-ध्ययन करती थीं। अथर्ववेद में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य से कन्या युवा पति को प्राप्त करती है -

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।[1]

स्त्रीशिक्षा के प्रबल प्रमाण के रूप में उपस्थित यह मन्त्र कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे निम्नलिखित तथ्यों का ज्ञान होता है -

1. कन्या ब्रह्मचर्य में दीक्षित होती थीं एवं युवावस्था तक अध्ययन करती थीं।
2. विद्याध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् ही कन्या का विवाह किया जाता था अर्थात् वैदिक युग में बालविवाह नहीं होते थे।
3. वर्तमान युग की भाँति उस युग के युवा भी शिक्षित कन्या से विवाह करने की इच्छा रखते थे।

उस युग के माता-पिता भी पण्डिता कन्या की कामना करते थे। बृहदारण्यकोपनिषद् में पण्डिता एवं दीर्घायुष्य वाली कन्या की इच्छा से विशिष्ट गर्भाधान संस्कार का विधान प्राप्त होता है -

अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति, तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ।[2]

हारीतधर्मसूत्र में दो प्रकार की स्त्रियों का उल्लेख है -

1.ब्रह्मवादिनी एवं 2. सद्योवधू।

द्विविधास्त्रियो ब्रह्मवादिन्यस्सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षुचर्येति। सद्योवधूनां चोपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाह कार्यः।[4]

वस्तुतः यह व्यवस्था परवर्ती सूत्रकाल की है। इसमें कहा गया है कि ऐसी स्त्रियाँ जो आजीवन ब्रह्मचर्य में रहते हुये वेदाध्ययन, अग्न्याधान-यज्ञ, भैक्षचर्या आदि नियमों का पालन करती थीं, वे

---

1. अथर्ववेद 11.5.18
2. बृहदारण्यकोपनिषद 6.4.17
3. हारीतधर्मसूत्र 21.22.23
4. एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईडाना हविषा घृताची। ऋग्वेद 5.28.1

'ब्रह्मवादिनी' कही जाती थीं। जो विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं, वे 'सद्योवधू' कही जाती थीं एवं उनका उपनयन विवाह के समय ही सम्पन्न होता था।

ऋग्वैदिक युग में वेद मन्त्रों का दर्शन करने वाली स्त्रियों को 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया है। जैसे- विश्ववारा, लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, जुहू आदि। ये सभी विवाहित थीं। गृहस्थधर्म के पालन के साथ ही ये वेदाध्ययन, स्वाध्याय, अग्न्याधान आदि ब्रह्मचर्य के कर्तव्यों का भी निर्वाह करती थीं। ब्रह्मवादिनी विश्ववारा प्रातःकाल अग्निदेवता को हवि प्रदान करती हुई वर्णित हुई हैं।[3]

उपनिषदों के युग में भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वाली याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी को 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया है, जो सद्योवधू भी थीं। सम्भवतः धर्मसूत्रों के काल में स्त्रीशिक्षा का प्रचलन कम होने पर; आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली एवं अध्ययन-अध्यापन, प्रवचन आदि के कार्य में संलग्न रहने वाली स्त्रियों को ही 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया है।

3. अध्ययन के विषय या विद्याएँ

किसी भी राष्ट्र की शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम या अध्ययन के विषयों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि राष्ट्र के भविष्य का निर्धारण उस पाठ्यक्रम से ही होता है, जो वहाँ के भावी नागरिकों को तैयार करने के लिये समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुतः शिक्षा को सोद्देश्य बनाने का कार्य पाठ्यक्रम ही करता है।

वैदिक संस्कृति में अध्ययन के इन विषयों को 'विद्या' कहा गया है। उपनिषदों में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है - परा विद्या तथा अपरा विद्या। लौकिक जीवन में उपयोगी समस्त ज्ञान 'अपरा विद्या' के अन्तर्गत आता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार वेद और वेदाङ्ग अपरा विद्या है, जबकि उपनिषद् या आध्यात्मिक ज्ञान, जिससे उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है, 'परा विद्या' है -

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।[1]

महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार समस्त विद्यायें महद्भूत के निःश्वास की भाँति उन्हीं से अनायास ही प्रकट हुई हैं। मैत्रेयी को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुये वे कहते हैं -

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणविद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि...।[2]

1. मुण्डकोपनिषद् 1.1.5
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.10

उस युग में अध्ययन के विषयों में मुख्य थे -वेद; क्योंकि 'वेद' को समस्त ज्ञान-विज्ञान, धर्म, नीति-आचार और व्यवहार की शिक्षा देने वाला ग्रन्थ माना गया था। वैदिक मन्त्रों और यज्ञीय विधिविधानों की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण एवं वेदों के अङ्गभूत षड् वेदाङ्ग भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित थे। विभिन्न चरणों में वेद की पृथक्-पृथक् शाखाओं का अध्ययन-अध्यापन होता था। पाणिनी और पतञ्जलि के अनुसार यजुर्वेद की कठ शाखा का अध्ययन करने वाली विदुषी 'कठी', ऋग्वेद की ऋचाओं की 'बह्वृचा', आपिशलि व्याकरण की विदुषियाँ 'आपीशाली' तथा मीमांसा (काशकृत्स्नमत) की 'काशकृत्स्ना' कही गई हैं।

ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओं के सन्दर्भों से भी तत्कालीन विद्याओं का ज्ञान होता है। ब्रह्मवादिनी विश्ववारा अग्नि देवता को हवि प्रदान करती हैं। निश्चय ही वे ऋग्वैदिक मन्त्रों एवं यज्ञविधि की ज्ञाता रही होंगीं। घोषा मन्त्रों से अश्विन् देवों का आह्वान करती हैं, उनके पुरातन पराक्रमपूर्ण लोकरञ्जक कार्यों का व्याख्यान करती हैं। पराक्रमी राजाओं के इतिहास से भी वे सुपरिचित हैं। निश्चय ही वेदमन्त्रों के साथ ही पुराण-इतिहास का भी उन्होने अध्ययन किया था।

गीत, नृत्य, वाद्य आदि ललित कलाएँ तथा नाना प्रकार के शिल्प भी अध्ययन के विषय होते थे, जिनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षाएँ कन्यायें प्राप्त करती थीं। विश्पला और मुद्गलानी के सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि सैन्यविज्ञान एवं अस्त्रविद्या भी उस युग में अध्ययन के विषय थे। सरमा जैसी इन्द्रदूती राजनीति विज्ञान की विदुषी थीं। देवी अदिति ने सृष्टिविज्ञान के रहस्यों को अधिगत किया था, तो वागाम्भृणी ने भाषाविज्ञान के। यमी वैवस्वती ने लोकोत्तर जीवन को तथा उमा हैमवती ने ब्रह्म की शक्ति को जाना था। मैत्रेयी एवं गार्गी जैसी विदुषियों ने ब्रह्मविद्या के निगूढ़ रहस्यों को अधिगत किया था।

इस प्रकार वैदिक युग में अपरा एवं परा दोनों ही प्रकार की विद्यायें पुरुषों के समान ही स्त्रियों के लिये भी अध्ययन एवं विशेषज्ञता का क्षेत्र थीं।

इस पाठ्यक्रम ने मानव के सर्वाङ्गीण विकास के साथ ही उसे; जीवनलक्ष्यों, पुरुषार्थों प्रेय और श्रेय को प्राप्त करने में सक्षम बनाया था। इस मृत्युलोक में रहकर भी उसे अमृत का अधिकारी बनाया था।

4. शिक्षणप्रणाली

वैदिक शिक्षापद्धति विश्व की सर्वोत्तम शिक्षाप्रणाली मानी गई है, क्योंकि यही शिक्षा के उद्देश्यों को पूर्ण करने में सफल रही है। वैदिक वाङ्मय में प्राप्त अन्त:साक्ष्यों के आधार पर उस युग में प्रचलित निम्नलिखित पद्धतियों का ज्ञान होता है -

(1) गुरुमुख से श्रवण-

आज भी अधिकांश शिक्षणसंस्थाओं में इसी पद्धति से अध्यापन कार्य होता है। वेदमन्त्रों को एवं सम्पूर्ण वेद को गुरुमुख से सुनकर ही शिष्य यथावत् कण्ठस्थ करते थे। वेदों की 'श्रुति' संज्ञा इसी पद्धति के सन्दर्भ में सार्थक थी। हज़ारों-हज़ारों वर्षों तक वेदों को; विना विकृति के संरक्षित रखने में इसी श्रवण एवं कण्ठस्थीकरण की विधि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इस पद्धति का एक सुन्दर चित्र ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में प्राप्त होता है; जहाँ वर्षाकाल में एक साथ होने वाली मण्डूक ध्वनि की उपमा ब्रह्मचारियों की उस अनुकरणात्मक ध्वनि से दी गई है, जो शिक्षा-सत्रों में गुरु के शब्दों को सुनने के पश्चात् शिष्य उन्हें दोहराते हुये बोलते हैं -

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शक्तस्येव वदति शिक्षमाण: ।[1]

पाणिनी के अनुसार इस प्रकार वेदों को कण्ठस्थ या वेद का पारायण कराने वाले गुरु की संज्ञा 'श्रोत्रिय' थी। भारतीय पाठशालाओं में कुछ वर्ष पूर्व तक इसी विधि से पहाड़े पढ़ाने या बच्चों को याद कराने की पद्धति रही है। अल्प आयु के बच्चों में ज्ञान के विषय को चिरस्थायी बनाने में; यही विधि सर्वाधिक प्रभावी मानी जाती है।

इस विधि में शिष्य की अशुद्धियों या त्रुटियों का संशोधन तत्काल ही गुरु द्वारा कर दिया जाता था।

(2) संवाद

गूढ़ विषयों के अध्यापन, विषय के प्रति शिष्य में अभिरुचि एवं समझ जगाने तथा विषय को हृदयङ्गम कराने के लिये यह विधि अधिक मनोवैज्ञानिक मानी गई है। उपनिषदों में इसी विधि से सृष्टि के रहस्यों को समझाया गया है। इसमें गुरु और शिष्य के मध्य सीधे संवाद होता है; जिसमें एक समय में एक गुरु और एक शिष्य का अनुपात रहता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को, यमाचार्य ने नचिकेता को, महर्षि उद्दालक आरुणि ने श्वेतकेतु को, गाड़ीवान रैक्व ने राजा जानश्रुति को गुह्य विद्या का ज्ञान इसी संवादविधि से दिया था।

इस विधि में ज्ञानदाता और गृहीता एक-दूसरे से प्रत्यक्ष सम्बद्ध होकर ध्यान और एकाग्रता के समान धरातल पर रहकर शङ्का और संशयों का समाधान करते हुये अग्रसर होते हैं। उदाहरणस्वरूप याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को ब्रह्म विद्या का उपदेश करते हुये कहते हैं -

एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ।[2]

---

1. ऋग्वेद 7.103.5
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.4

(आओ, बैठो। मैं तुम्हें सभी रहस्यों को खोलकर विस्तार से बताता हूँ। मैं जो व्याख्यान करुँ, उसे ध्यान से सुनना।)

अपने व्याख्यान के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य जब यह कहते हैं कि 'न प्रेत्य संज्ञा ऽस्तीति।' (आत्मा के चले जाने पर व्यक्ति की कोई संज्ञा नहीं रहती), तब मैत्रेयी सन्देह और भ्रम में पड़कर याज्ञवल्क्य से कहती हैं - 'मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति।' (हे भगवान! आपने मुझे मोह (अज्ञान) में डाल दिया है।) याज्ञवल्क्य उनकी शङ्का का समाधान करते हुये कहते हैं कि यह समझाने के लिये कहा गया है, मोह या अज्ञान में डालने के लिये नहीं - 'स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय।' आत्मा जब भूतों से अलग होकर आत्मरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब वह अनिर्वचनीय हो जाता है, तब वही ज्ञाता होता है और वही ज्ञेय -

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।[1]

भगवान कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश इसी विधि से दिया था।

(3) प्रवचन

समूह में विषय को बोधगम्य बनाने के लिये प्रवचन विधि शिक्षण की एक सफल विधि मानी जाती है। यह विधि अपेक्षाकृत अधिक वय के छात्रों या जिज्ञासू श्रोताओं के लिये प्रभावी होती है। प्रवचन के माध्यम से विषय को समुपस्थापित करने की यह पद्धति ऋग्वैदिक युग से ही प्रचलित रही है।

ब्रह्मवादिनी घोषा अश्विनीदेवों के पराक्रमपूर्ण कार्यों या पुराण-साहित्य का प्रवचन इसी विधि से करती हैं -

पुराणा वां वीर्या प्र ब्रवा जने।...श्रदरिर्यथा दधत्।[2]

पाणिनी ने प्रोक्त साहित्य, शाखाग्रन्थ, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र आदि का प्रवचन करने वाले आचार्यों को 'प्रवक्ता' कहा है। संस्कृत शास्त्रों - धर्मशास्त्र, नाट्यशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं पुराण वाङ्मय का विकास गुरु-शिष्य के मध्य इसी प्रवचन विधि से हुआ है। आचार्य वात्स्यायन के अनुसार प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि के पश्चात् उनके जीवन को नियन्त्रित एवं मर्यादित करने के लिये त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के साधनभूत शास्त्रों का एक लाख श्लोकों में प्रवचन किया था, जिसके एक भाग को लेकर मनु ने धर्मशास्त्र का, बृहस्पति ने अर्थशास्त्र का तथा शिव के अनुचर नन्दी ने कामसूत्र का प्रणयन एवं प्रवचन किया-

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.13,14
2. ऋग्वेद 10.39.5

प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच। तस्मैकदेशिकं मनुः स्वायम्भुवो धर्माधिकारिकं पृथक्चकार। बृहस्पतिरर्थाधिकारिकम्। महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथक् कामसूत्रं प्रोवाच।[1]

प्रवचनविधि से विषय से सम्बन्धित सभी पक्षों पर विस्तार से व्याख्यान दिया जाता है तथा नाना उपायों से विषय को रोचक एवं ग्राह्य बनाने का प्रयास किया जाता है।

(4) प्रश्नोत्तर विधि

इस विधि के अन्तर्गत शिष्य या जिज्ञासू द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हुये क्रमशः विषय का प्रतिपादन किया जाता है। इसमें ऋषि या आचार्य प्रश्न की परिधि में ही अपना उत्तर प्रस्तुत करते हैं तथा शिष्य के प्रयोजन के अनुरूप या प्रश्नकर्ता जितना जानना चाहता है, उतना ही उत्तर देते हैं। तत्वज्ञान के सम्पूर्ण रहस्य को इसमें उन्मीलित नहीं किया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में निबद्ध इन्द्र-विरोचन की कथा में इस पद्धति के दर्शन होते हैं। प्रजापति द्वारा पहले शरीर को ही आत्मा बताया जाता है। विरोचन इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर चला जाता है, किन्तु इन्द्र की जिज्ञासा शान्त न होने पर इन्द्र को आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध कराया जाता है।[2]

सम्पूर्ण 'प्रश्नोपनिषद्' की रचना इसी प्रश्नोत्तर विधि पर हुई है। भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न सुकेशा, शिविपुत्र सत्यकाम, सौर्यपुत्र गार्ग्य, अश्वल के पुत्र कौशल्य, भृगुगोत्र के वैदर्भि तथा कत्य के पुत्र कबन्धी जैसे ब्रह्मपर, ब्रह्मान्वेषी ऋषि समिधा हाथ में लेकर महर्षि पिप्पलाद के समीप पहुँचते हैं। महर्षि उन्हें ब्रह्मज्ञान के योग्य पात्र बनाने के लिये कहते हैं - 'और अधिक तप, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा से मेरे समीप एक वर्ष तक निवास करो, उसके पश्चात् इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि हम प्रश्नों का उत्तर जानते होंगे, तो अवश्य बतायेंगे।'[3]

छहों जिज्ञासुओं द्वारा सृष्टि, प्राण, आत्मा, ॐकार, पुरुष आदि से सम्बन्धित छः प्रश्न पूछे जाते हैं, जिनका उत्तर महर्षि पिप्पलाद देते हैं।

(5) दृष्टान्त विधि

प्रवचन या व्याख्यान के अन्तर्गत विषय को सहज एवं बोधगम्य बनाने के लिये लौकिक जीवन से जुड़े हुये उदाहरणों, निदर्शनों या दृष्टान्तों के माध्यम से गूढ़, कठिन विषयों को समझाने की पद्धति वेदकाल

---

1. कामसूत्र 1.1.5-8
2. छान्दोग्योपनिषद् 8.8.5, 8.12.1
3. तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति। प्रश्नोपनिषद् 2

से ही प्राप्त होती है। वैदिक ऋषि परस्पर साम्मनस्य और सद्भाव की शिक्षा देते हुये कहते हैं कि हम एक-दूसरे के प्रति उसी प्रकार प्रेम रखें, जैसे गाय अपने नवजात बछड़े के प्रति रखती है -

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्यया।[1]

महर्षि याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मविद्या का उपदेश देते हुये कहते हैं - जैसे दुन्दुभि के शब्दों को पकड़ने के लिये दुन्दुभि या दुन्दुभि बजाने वाले को पकड़ना पड़ता है, शङ्ख के शब्दों को पकड़ने के लिये शङ्ख बजाने वाले को, वीणा के शब्दों को पकड़ने के लिये वीणा बजाने वाले को, उसी प्रकार इस संसार को जानने के लिये अत्मा को पकड़ना या जानना पड़ता है -

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न वाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् गृहणाय दुँदुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः।[2]

यहाँ एक ही सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये तीन वाद्यों के दृष्टान्त दिये गये हैं।

इस विधि में विषय जब तक शिष्य को स्पष्ट न हो जाये, तब तक एक जैसे कई उदाहरणों या अलग-अलग उदाहरणों द्वारा विषय को बार-बार समझाया जाता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उद्दालक आरुणि एवं श्वेतकेतु संवाद है। आरुणि श्वेतकेतु को 'तत्वमसि' इस महावाक्य को समझाने के लिये मधु, नदी, वृक्ष, वटवृक्ष के फ्ल आदि अनेक उदाहरणों से सूक्ष्म अणु तत्व को 'सत्' या 'आत्मतत्व' के रूप में प्रतिपादित करते हैं, किन्तु श्वेतकेतु नहीं समझ पाते हैं। वे पुनः समझाने के लिये निवेदन करते हैं -

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति।

तब वे पानी में नमक की डली को डालकर तथा इसी के समान कई अन्य उदाहरणों एवं प्रयोगों से विषय का बोध कराते हैं।

अन्त में श्वेतकेतु के यह कहने पर कि मैंने विषय को निश्चित रूप से समझ लिया है - **तद्धास्य (तद् ह अस्य) विजिज्ञाविति विजिज्ञाविति**[3] वह प्रसङ्ग समाप्त होता है।

(6) आख्यान विधि

ब्रह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में विषय या सिद्धान्तों को कथाओं या आख्यानों के माध्यम से रोचक बनाकर प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण का शुनःशेप आख्यान, शतपथ ब्राह्मण

---

1. अथर्ववेद 3.30.1
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.7-9
3. छान्दोग्योपनिषद् 6.8-16

का 'वाक्-मनस्' आख्यान तथा केनोपनिषद् का यक्षोपाख्यान इसके उत्तम उदाहरण हैं। यक्षोपाख्यान का उद्देश्य यह प्रतिपादित करना है कि अहङ्कार को समाप्त किये बिना ब्रह्मज्ञान सम्भव नहीं है।

(7) प्रतिगमन विधि

इस विधि में क्रमशः प्रश्नों के माध्यम से स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति की जाती है। प्रत्येक नये प्रश्न का उत्तर प्रश्नकर्ता को एक पद पीछे ले जाता है, अन्त में वह मूल प्रश्न एवं उसके उत्तर के रूप में मूल तत्त्व तक पहुँच जाता है। याज्ञवल्क्य-गार्गी संवाद में यह विधि परिलक्षित होती है। इसमें गार्गी के प्रश्न क्रमशः प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर स्थूल पृथ्वीलोक से होते हुये सूक्ष्म ब्रह्मलोक तक पहुँचते हैं।[1]

(8) स्वाध्याय

विद्याओं का अधिगम गुरुमुख से हाता था, तो उसका धारण स्वाध्याय से; अतः स्वाध्याय को सभी आश्रमों में समान महत्व दिया गया था। तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली में सत्य बोलने और धर्म का पालन करने के साथ ही स्वाध्याय में प्रमाद न करने का उपदेश दिया गया है -

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।
सत्यं वद। धर्मं चर। स्वध्यायान्मा प्रमदः।[2]

तैत्तिरीय आरण्यक में स्वाध्याय को 'ब्रह्मयज्ञ' कहा गया है, जिसकी गणना प्रतिदिन किये जाने वाले पञ्चमहायज्ञों में की गई है।[3]

गीता के अनुसार स्वध्याय वाणी का तप है -

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।[4]

अतः वैदिक शिक्षणविधि में आजीवन चलने वले स्वाध्याय को ज्ञान-साधना का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है।

* * *

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 3.6.1
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 1.11
3. यत्स्वाध्यायमधीयीतै कामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते। तैत्तिरीयारण्यक 2.10.1
4. श्रीमद्भगवद्गीता 17.15

शिक्षाकेन्द्र

वैदिक शिक्षाव्यवस्था के अन्तर्गत उन शिक्षणकेन्द्रों पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है, जिनके माध्यम से ज्ञान की यह महान धरोहर हमारे समीप आई है। बालक के लिये शिक्षा के प्रथम केन्द्र गृह थे और प्रथम गुरु माता एवं पिता। वाग्व्यवहार, सद्गुण, संस्कार और आचार की प्रथम शिक्षा बालक अपने घर में ही प्राप्त करता है, अत: ऋग्वेद में घर के वातावरण को पवित्र रखने एवं शिष्ट वाणी के प्रयोग का विधान किया गया है -

भद्रं वदत गृहेषु च। भद्रं वद पुत्रैः।[1]

गृह में सामान्य शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् विद्यार्थी विभिन्न शिक्षाकेन्द्रों में विद्यार्जन कर स्वयं को जीवनयात्रा के योग्य बनाता था।

1. ऋषि आश्रम या गुरुकुल

वैदिक युग में शिक्षाकेन्द्रों की संज्ञा 'आचार्य कुल' थी। वेदमन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के आश्रम ही वैदिक युग के गुरुकुल थे, जहाँ शिष्य गुरु के समीप रहकर अन्य विद्यार्थियों के साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। यहाँ ऊँच-नीच, धनी-निर्धन के भेद-भाव के विना सभी के प्रति समान दृष्टि रखते हुये गुरु द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती थी। आचार्य का आचरण ब्रह्मचारियों के लिये आदर्श और अनुकरणीय होता था। ऋषि आश्रमों में ऋषि पुत्र-पुत्रियों के साथ ही बड़ी संख्या में अन्य वर्गों के शिक्षार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरु-शिष्य विद्यासम्बन्ध से बँधे होते थे, जो योनिसम्बन्ध के समान ही पावन एवं स्थायी माना जाता था।

ऋषि आश्रम नगर या ग्राम से दूर प्रकृति के शान्त परिवेश में होते थे, जो अध्ययन-अध्यापन, चिन्तन-मनन के लिये अनुकूल समझे जाते थे। यहाँ स्वयं प्रकृति भी जिज्ञासू के सम्मुख जीवन के रहस्यों-ऋत और सत्य को अनावृत करती थी।

ऋग्वेद की मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिकाओं - रोमशा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला, जुहू, वागाम्भृणी तथा उपनिषद् युग की ब्रह्मवादिनियों - मैत्रेयी और गार्गी ने ऋषि आश्रमों में ही शिक्षा पाई थी।

अपने परिवार या छोटे से पितृकुल से जब बालक एक विशाल आचार्यकुल में पहुँचता था, तब उसे व्यक्तित्वविकास एवं स्वयं को समाज एवं जीवनसंघर्ष के योग्य बनाने का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता था।

---

1. ऋग्वेद 2.43.2

आचार्यपत्नी माता के समान शिष्यों की देखभाल करती थीं। इसका एक सुन्दर उदाहरण छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त होता है -

सत्यकाम जाबाल के आश्रम में उपकोशल नामक ब्रह्मचारी दो वर्षों से अग्नियों की परिचर्या कर रहा था। आचार्य अन्य अन्तेवासियों का समावर्तन तो करते थे, किन्तु उपकोशल का समावर्तन कर उसे गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति नहीं देते थे। यह देखकर सत्यकाम की पत्नी ने उनसे कहा -

तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाऽग्नयः परिप्रवोचन्प्र ब्रूह्यस्मा इति ।[1]

'इस ब्रह्मचारी ने पर्याप्त तप कर लिया है। अग्नियों की सावधानी से सेवा की है। आप इसे जो शिक्षा देनी हो, दे दें। कहीं ऐसा न हो कि अग्नियाँ क्रुद्ध होकर आपको शाप दे दें।'

इस प्रकार आचार्यों की पत्नियाँ शिष्यों के सुख-दुःख एवं भविष्य के प्रति जागरूक रहकर माता के समान उन्हें संरक्षण देती थीं।

2. वन संस्थान

आत्मविषयक गम्भीर चिन्तन-मनन के लिये कई ऋषि आश्रम अरण्यों में भी होते थे। वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग आरण्यक एवं उपनिषद् वन के एकान्त शान्त निर्जन परिवेश में ही विकसित हुये थे।

सत्यकाम जाबाल गुरु हारिद्रुमत गौतम की गौओं की परिचर्या के लिये कई वर्षों तक वन में रहे थे। जब वे वहाँ से लौटे, तब ब्रह्मविद्या के कई रहस्यों को वे मानवेतर गुरुओं से अधिगत कर चुके थे। आचार्यकुल में पहुँचने पर आचार्य ने उनसे कहा -

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि, को नु त्वाऽनुशशासेति ।[2]

'तुम ब्रह्मवित् के समान प्रतीत हो रहे हो। तुम्हें किसने शिक्षा दी ?

3. चरण

चरण वैदिक विद्यापीठ थे। ये इस प्रकार की शिक्षासंस्थायें थीं, जिनमें वेद की किसी एक शाखा का अध्ययन-अध्यापन होता था। चरण का नाम; मूल संस्थापक ऋषि के नाम से पड़ता था। किसी ऋषि या आचार्य की प्रतिभा से प्रणीत वैदिक शाखा चरणों की आधार-शिला होती थी। उसके पश्चात् उस शाखा का अध्ययन करने के लिये छात्र-छात्राएँ एकत्रित होने लगते थे। उस शाखा के छात्रों का नाम आचार्य के

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 4.10.2
2. छान्दोग्योपनिषद् 4.9.1-2

नाम से जाना जाता था। जैसे कि ऋषि तित्तिर ने कृष्ण यजुर्वेद की 'तैत्तिरीय' शाखा का प्रवचन किया था, अतः इस शाखा के अध्येता छात्र 'तैत्तिरीय' कहलाये। वस्तुतः वैदिक वाङ्मय के नाना चरणों का विकास इन्हीं 'चरण' संज्ञक संस्थाओं में हुआ था।

अनेक गुरु-शिष्यों ने मिलकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो ज्ञान-साधना की, उस समग्र परम्परा के रक्षक और वाहक ये चरण थे। अपनी सञ्चरणशीलता के कारण भी इनकी 'चरण' संज्ञा सार्थक थी। आचार्य रूपी मूल बीज से जो महान विद्याविटप जन्म लेता था, उसकी शाखा-प्रशाखाओं के रूप में चरणों के विद्वान गुरु-शिष्य समग्र देश में फैलकर विद्या का प्रचार-प्रसार और संवर्धन करते थे।

4. सवन - याज्ञिक अनुष्ठान - विद्वत् सम्मेलन

वैदिक युग में यज्ञ के अवसर पर अनेक धार्मिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक अनुष्ठान भी होते थे, अतः यज्ञक्षेत्र भी जनशिक्षा का केन्द्र बनते थे। ऋग्वेद की ऋषिका घोषा सवनों में अश्विनी देवों की महिमा और उनके दिव्य लोकोपकारी कार्यों पर प्रवचन देती थी-

ता वां सवनेषु प्रवाच्या ।[1]

देवस्तुतियों और गीतों के माध्यम से भी धर्म के तत्वों का ज्ञान कराया जाता था-

सखाय आ निषीदत् पुनानाय प्रगायत ।[2]

ब्राह्मणों और उपनिषदों के युग में दीर्घकाल तक चलने वाले यज्ञसत्रों की विद्वद्गोष्ठियों में आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तत्वों पर विचार-विमर्श से नवीन उद्भावनायें की जाती थीं। राजा जनक द्वारा समायोजित 'बहुदक्षिण यज्ञ' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें कुरु पाञ्चाल के अनेक विद्वानों ने भाग लिया था।[3]

इसी बहुदक्षिण यज्ञ में गार्गी वाचक्नवी और याज्ञवल्क्य के मध्य शास्त्रार्थ हुआ था। शास्त्रार्थ में सभी विद्वानों के प्रश्नों का उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर करते हुये महार्षि याज्ञवल्क्य 'अनूचानतम' या 'ब्रह्मनिष्ठ' की पदवी से मण्डित हुये थे।

5. राजर्षि एवं राजपरिषद्

उपनिषदों का तत्वचिन्तन यदि ऋषि संस्थानों में विकसित हुआ था, तो उसका परीक्षण राजर्षि परिषदों में सम्पन्न हुआ। उस युग में राजा प्रवाहण जैवलि की पाञ्चालदेशीय परिषद् शिक्षा का एक

---

1. ऋग्वेद 10.39.4
2. ऋग्वेद 9.104.1
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 3.1.1

महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। स्वयं राजा प्रवाहण जैवलि पञ्चाग्निविद्या के एकमात्र ज्ञाता थे। कैकेयराज अश्वपति वैश्वानर संज्ञक आत्मा के विशेषज्ञ थे। उद्दालक आरुणि जैसे महाश्रोत्रिय तथा अन्य विद्वान उनके पास वैश्वानर आत्मा की ज्ञानप्राप्ति के लिये पहुँचे थे। काश्यराज अजातशत्रु आत्मोपनिषद् के विशेषज्ञ थे।

वैदिक शिक्षणपद्धति चाक्षुषप्रत्यक्ष और आत्मानुभूति पर आधारित थी। इसके लिये दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर बल दिया जाता था।

ज्ञान सर्वदा साथ रहे,[1] एतदर्थ कण्ठस्थीकरण अनिवार्य माना गया था। ज्ञान और विद्यायें हृदयङ्गम[2] होकर आचरण और व्यवहार का अङ्ग बनें, यह शिक्षण का उद्देश्य था। गुरु और ज्ञान के विषय दोनों के प्रति श्रद्धा आवश्यक थी, जैसा कि वागाम्भणी कहती हैं - 'मुझे न मानने वाले नष्ट हो जाते हैं। मैं जो कह रही हूँ, उस पर श्रद्धा करो' -

अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।[3]

ज्ञान की अधिष्ठात्री वाग्देवी की उपासना एवं ज्ञान को धारण करने वाली मेधा के लिये प्रार्थना ऋग्वेद के बहुसंख्यक सूक्तों में पाई जाती है -

'हम मेधावी, सुन्दर मन वाले श्रद्धायुक्त अन्तःकरण वाले, सत्यमति, यशस्वी, लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत, ज्ञानपरम्परा के धारक तथा अपनी विद्या के श्रेष्ठ प्रवक्ता हों।'

ऋग्वैदिक ऋषिका मेधा की इस प्रार्थना में मानों समग्र राष्ट्र की आकाँक्षा ही मूर्त हो उठी है -

मेधाव्यं सुमनः सुप्रतीकः श्रद्धामनाः सत्यमतिः सुशेवः।
महायशा धारयिष्णु प्रवक्ता भूयासमस्ये स्वधया प्रयोगे॥[4]

* * *

---

1. श्रुतं मे मा प्रहासीः। ऋग्वेद मेधासूक्त 5
2. सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनम्। बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.11
3. ऋग्वेद 10.125.4
4. ऋग्वेद मेधासूक्त 9

7. विज्ञान

. जल

. अग्नि

. वायु

. आकाश

. पृथिवी

. काल

. सृष्टि

7. विज्ञान

ऋग्वेद भारतवर्ष के वैज्ञानिक ज्ञान का वह प्राचीनतम महान स्रोत है, जो ज्ञान-राशि होने के कारण 'वेद' इस अन्वर्थ संज्ञा को धारण करता है।

सृष्टि के विकास के साथ ही विज्ञान का आविर्भाव मानव-मन की उस जिज्ञासा से हुआ, जो धीमान जन को सृष्टि के रहस्यों को जानने के लिए प्रेरित करती है, जैसाकि ऋग्वेद में कहा गया है-

कोऽद्धा वेद कश्चिदवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।[1]

'कौन निश्चित रूप से जानता है, कौन बता सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से और कैसे प्रादुर्भूत हुई है?'

मानव की इस आकुल उत्कण्ठा को कर्तव्यपथ का निर्देश भी वेद ने ही किया और कहा -

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय ।[2]

'यह शोभन कल्याणकर विज्ञान उनके लिये है, जो जानना चाहते हैं।'

सृष्टि के रहस्यबोधक इस विज्ञान को अधिगत करने के लिये ही ऋषियों ने अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, इन्द्रादि देवों की उपासना की और तपोबल से उनके रूप का दर्शन किया। उन्होंने सृष्टि के रहस्यों को जो ऋत सूत्र के रूप में इस सृष्टि में अनुस्यूत ('ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्रः')[3] थे, पहचाना ('साकं देवेभिरवदन्नृतानि')[4]।

उन्होने जाना कि यज्ञ विज्ञान के विज्ञाता अग्नि देव हैं, सुबुद्धि को प्रेरित करने का विज्ञान देवी उषा का ही वैशिष्ट्य है, वृष्टि-विज्ञान को इन्द्र देवता जानते हैं, जिसे कार्य रूप देते हैं पर्जन्य देवता। ओषधियों में रेतस् की स्थापना और विश्वभुवन के लिए इरा (अन्न) का उत्पादन पर्जन्य देव के विज्ञान से ही साध्य है। वस्तुतः साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ही प्रथम वैज्ञानिक थे और उनकी यज्ञशालायें प्रथम प्रयोगशालायें। उन्होने

---

1. ऋग्वेद 10.129.7
2. ऋग्वेद 10.104.12
3. ऋग्वेद 9.73.9
4. ऋग्वेद 1.179.2

सृष्टिव्यवस्था के सञ्चालक विज्ञान के नियमों को 'ऋत' यह अभिधान प्रदान किया। इस 'ऋत' के अभिज्ञान और व्यवस्थापन में स्त्री ऋषियों के अवदान का मूल्याङ्कन ही प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

ऋग्वैदिक सन्दर्भों के अनुसार इन्द्रपत्नी इन्द्राणी 'ऋत की वेधा' अर्थात् वैज्ञानिक नियमों की आविष्कारक थीं -

वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते ।[1]

जल, अग्नि, वायु आदि सृष्टि के घटक तत्वों के विषय में ऋत के जो सूत्र या वैज्ञानिक चिन्तन स्त्री-ऋषियों के सूक्तों में अनुस्यूत हैं, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है -

1. जल (आपः)

(क) **आपो देवी प्रथमजा ऋतेन**[2] - ब्रह्मजाया जुहू के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया में ऋत से (वैज्ञानिक नियमों के अनुसार) सबसे पहले जल उत्पन्न हुआ। जीवन का प्रथम बीज जल में ही अंकुरित हुआ, अतः जल की एक संज्ञा 'जीवन' भी है। मन्त्र, ब्राह्मण, स्मृति और साहित्य सभी एक स्वर में इस वैज्ञानिक तथ्य की उद्घोषणा करते हैं -

'सलिलं सर्वमा इदम्'[3], 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्'[4], 'सोऽनयासृजत्'[5], 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्'[6], 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या'[7] आदि सन्दर्भ इसके प्रमाण हैं।

(ख) वैदिक युग में जल की सर्वाधिक प्रचलित संज्ञा 'आपः' है क्योंकि जलों को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया गया है। आपः में गर्भधारण एवं पोषण की क्षमता तथा स्त्रीहृदय की तरलता होने के कारण यह स्त्रीलिङ्ग शब्द है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में कहीं भी 'जल' शब्द का प्रयोग नहीं है।

(ग) इस जल को इन्द्र ने अपने विद्युत् रूपी वज्र से; मेघों को भेद कर धरती पर बरसाया है, जिससे नदियाँ प्रवाहित हुई हैं। नदी-सृष्टि के इस रहस्य को जिन ऋषियों ने उन्मीलित किया है, उनमें से एक अदिति भी हैं। वे अपने पुत्र के पराक्रम का उल्लेख करते हुये कहती हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.86.10
2. ऋग्वेद 10.109.1
3. ऋग्वेद 10.129.3
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.1.3.5
5. शतपथ ब्राह्मण 6.1.1.3
6. मनुस्मृति 1.1.8
7. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1.1

ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद्विसिन्धून् ।[1]

(घ) इस धरती पर पेय जल का सर्वोत्तम स्रोत नदियाँ हैं। जल; नदियों का शरीर है, तो प्रवाह प्राण तत्व है। जब तक जल-प्रवाह है, तब तक ही नदियों में जीवन और गति है। सभी नदियाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समुद्रगामिनी हैं। नदियों के इस रूप को रेखाङ्कित करने वाली ऋषि स्वयं नदीनामधारी हैं, वे कहती हैं -

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः ।[2]

(सुपाणि) सूर्य अपनी रश्मियों से जल का आहरण कर जलचक्र के प्रवर्तक होते हैं। जलवाष्प के रूप में गृहीत समुद्र का जल सृष्टि धर्म का पालन करने वाली 'ऋतावरी नदियों' द्वारा पुनः समुद्र तक पहुँचा दिया जाता है। नदी तल का खनन (रदन) नदियों को दीर्घायु बनाता है -

इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।
देवोऽनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥[3]

नदियों का पय ही माता के समान राष्ट्र का पोषण करता है -

नि ते नंसै पीप्यानेन योषा ।[4]

(ङ) मानव जाति के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि तीर्थों का जल शुद्ध और सुपेय हो। जलशुद्धि के प्रति यह चिन्ता अभिव्यक्त हुई है - घोषा के सूक्त में -

कृतं तीर्थं सुप्रपाणम् ।[5]

(च) शुद्ध जल निष्फेन होता है। जल की फेनिलता मलिनता या अशुद्धि की परिचायक है। इस तथ्य की ओर सङ्केत अदिति करती हैं -

इन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः ।[6]

'इन्द्र के पाप को नदियाँ फेन के रूप में धारण करती हैं।'

---

1. ऋग्वेद 4.18.7
2. ऋग्वेद 3.33.4
3. ऋग्वेद 3.33.6
4. ऋग्वेद 3.33.10
5. ऋग्वेद 10.40.13
6. ऋग्वेद 4.18.7

(छ) जल की गति सर्वदा निम्नाभिमुखी होती है -

अस्मै रीयन्ते निवनेव सिन्धवो ।[1]

2. अग्नि

(क) ऋषि दक्षिणा के अनुसार अग्नि के तीन शरीर या रूप हैं -

स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो ।[2]

पृथ्वी पर पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष में विद्युत् और द्युलोक में सूर्य।

(ख) अग्नि का रूप उज्ज्वल और प्रकाशक है, अत: उसकी एक संज्ञा 'शुक्र' है। वह अनन्त ऊर्जा और ताप का संहत रूप है - **तप उग्रो ।**[3]

(ग) अग्नि की गति सर्वदा ऊर्ध्वगामी होती है -

समिद्धोऽग्नि दिवि शोचिरश्रेत् ।[4]

(घ) अग्नि में पदार्थ को अति सूक्ष्म रूप प्रदान कर ऊर्ध्वगामी बनाने की क्षमता होती है।

(ङ) अग्निपुञ्ज सूर्य अनन्त ताप और ऊर्जा के केन्द्र हें -

अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपानती ।[5]

(च) इनकी रश्मियाँ (गौ) रङ्ग-विरङ्गी (पृश्नी) हैं -

आयं गौ पृश्नीः ।[6]

(छ) सूर्य, इस पृथिवी पर सतत गतिमान जीवन-चक्र का नियामक है -

प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ।[7]

---

1. ऋग्वेद 10.40.9
2. ऋग्वेद 10.125.7
3. ऋग्वेद 10.109.1
4. ऋग्वेद 5.28.1
5. ऋग्वेद 10.189.2
6. ऋग्वेद 10.189.1
7. ऋग्वेद 10.72.9

(ज) सूर्य की उत्पत्ति महाविस्फोट से विकीर्ण ऊर्जा और अन्तरिक्षीय तत्वों से हुई है, अत: इसकी एक संज्ञा 'मार्ताण्ड' है।

(झ) सोम सूर्य से बलवान होते हैं -

सोमेनादित्या बलिनः ।[1]

अग्नि में सोम की आहुति से ही सूर्य को जीवनी शक्ति प्राप्त होती है।

(ञ) सूर्य द्युलोक का धारक (सौरमण्डल का नेता) है -

सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।[2]

(ट) सूर्य जगत् का चक्षु है - **सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।**[3]

(ठ) प्रकाश या तेज में व्याप्ति क्षमता होती है -

अथोदस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ।[4]

3. वायु

(क) वायु सोम या रस (जल) का रक्षक है -

वायु सोमस्य रक्षिता ।[5]

जलवाष्प वायु की सहायता से ही ऊपर उठती है। मेघ पवन-पदवी पर आरूढ़ होकर ही सञ्चरण करते हैं। मातरिश्वा इन्द्र-पत्नी इन्द्राणी के मित्र हैं[6] अर्थात् जलवर्षण में उनकी भी भूमिका है।

(ख) ध्वनि या वाक् वायु की सहायता से सञ्चरण कर द्युलोक से पृथ्वी लोक को व्याप्त कर लेती है-

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।[7]

---

1. ऋग्वेद 10.85.2
2. ऋग्वेद 10.85.1
3. ऋग्वेद 10.10.9
4. ऋग्वेद 4.18.5
5. ऋग्वेद 10.85.5
6. ऋग्वेद 10.86.9
7. ऋग्वेद 10.125.8

4. आकाश

(क) आकाश अवकाश रूप है। किसी तत्व की व्याप्ति आकाश के कारण ही सम्भव हो पाती है।

(ख) आकाश या अन्तरिक्ष की एक संज्ञा 'सलिल' या 'समुद्र' है, यहाँ स्थित जल ही वाक् की योनि है -

मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।[1]

(ग) आकाश सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि आकाशीय पिण्डों की गतिविधियों का केन्द्र है ।[2]

5. पृथिवी

(क) पृथिवी में जीवन का विस्तार सोम या ओषधियों के रस से हुआ है -

सोमेन पृथिवी मही ।[3]

(ख) भूमि की ऊपरी सतह वनस्पतियों के अवशेषों से बनी है -

भूर्जज्ञ उत्तानपदो ।[4]

(ग) पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं का अस्तित्व भूमि के परिप्रेक्ष्य में ही है -

भुव आशा अजायन्त ।[5]

6. काल

(क) सूर्य और चन्द्र काल रूपी रथ के प्रवर्तक दो चक्र हैं, जो ऋतुओं के जनक होते हैं -

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।[6]

---

1. ऋग्वेद 10.125.7
2. ऋग्वेद 10.85.18
3. ऋग्वेद 10.85.2
4. ऋग्वेद 10.72.4
5. ऋग्वेद 10.72.4
6. ऋग्वेद 10.85.16

7. सृष्टि

(क) अदिति के अनुसार यह सृष्टि (पृथिवी) ऊर्जा के महाविस्फोट से बनी -

ब्रह्मणस्पति रेता सं कर्मार इवाधमत ।[1]

(ख) अव्यक्त से व्यक्त रूपाकृति प्रकट हुई -

असत: सदजायत ।[2]

(ग) सृष्टि से पहले सारी शक्तियाँ या ऊर्जा संहत रूप में विद्यमान थीं -

यद्देवा अद: सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।[3]

तीव्र विक्षोभजन्य महाविस्फोट से विकीर्ण आकाशीय पिण्डों से अन्तरिक्ष भर उठा -

अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपातयत ।
यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।।[4]

स्त्री ऋषियों के सूक्तों में अन्तर्निहित ये ऋतसूत्र विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं, जो किसी विज्ञानवेत्ता द्वारा ही साध्य हैं। ज्ञान-विज्ञान की इस धरोहर का दिग्दर्शन-मात्र ही यहाँ सम्भव है। यह वैदिक विज्ञान के क्षेत्र में ऋषियों के अवदान और उनकी वैज्ञानिक दृष्टि को रेखाङ्कित करने में अलम् है।

* * *

---

4. ऋग्वेद 10.72.2
5. ऋग्वेद 10.72.2
6. ऋग्वेद 10.72.6
7. ऋग्वेद 10.72.6-7

८. भाषा

. ध्वनि

. धातुरूप एवं शब्दरूप

. पदयोजना

. अर्थपरिवर्तन

. शब्दकोष

8. भाषा

'भाषा' शब्द बोलना अर्थ वाली 'भाष्' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है 'भाष्यते इति' अर्थात् जो बोली जाए, वह भाषा है। इस प्रकार भाषा का सम्बन्ध वाक् या वाणी से है। ब्रह्मविदुषी वागाम्भृणी का वाक्सूक्त वाक् की महिमा को उद्घोषित करता हुआ वाक् को सृष्टि की मूल शक्ति मानता है। वाक् का स्थूल बैखरी रूप वागेन्द्रिय के माध्यम से भाषा के रूप में अभिव्यक्त होता है जो निश्चित ध्वनियों और वर्णसङ्केतों द्वारा लिपिबद्ध होकर किसी भी राष्ट्र की शक्ति और समृद्धि का कारण बनता है, अत: ऋषि कहती हैं -

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनाम्।[1]

देश और काल के अनुरूप प्रत्येक भाषा की अपनी कुछ विशेषतायें होती हैं, जो उसकी पहचान या विशिष्ट लक्षण बनती हैं, फिर भी भाषा नदी के उस निर्बाध प्रवाह के समान होती है, जो गति के साथ ही तत् तत् देश की मिट्टी के गुणों या स्थानीय प्रभावों को भी आत्मसात् करते हुये चलती है। अत: जीवन्त भाषा में सतत परिवर्तन होते रहते हैं। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, जो वैदिक संस्कृत के नाम से जानी जाती थी, आज आधुनिक आर्य भाषाओं - हिन्दी, मराठी, बङ्गला, गुजराती, उड़िया, राजस्थानी आदि नाना रूपों में वागृव्यवहार का माध्यम बनी है, फिर भी मूल धारा वही है। आधुनिक आर्य भाषा में प्रयुक्त 75 प्रतिशत शब्द वैदिक संस्कृत से ही आये हैं। वैदिक ऋषिकाओं के सूक्तों में भाषा के इस वैशिष्ट्य का संक्षिप्त निरूपण ही प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

1. ध्वनिगत वैशिष्ट्य

वैदिक संस्कृत में 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग अधिक है। मूल भारोपीय भाषा में लकार की अपेक्षा 'रेफ' का अधिक प्रयोग हुआ है। भाषाविदों के मत में ज्यों-ज्यों आर्य सारस्वत प्रदेश से पूर्व की ओर बढ़ने लगे, भाषा में लकार का प्रयोग अधिक होता गया। यह प्राच्य प्रभाव का द्योतक माना गया था।[2] मूल भारोपीय भाषा के इस वैशिष्ट्य को शश्वती आङ्गिरसी ने अपने मन्त्र में सुरक्षित रखा है -

---

1. ऋग्वेद 10.125.3
2. बटेकृष्ण घोष, लिंग्विस्टिक इन्ट्रोडक्शन टू संस्कृत (कलकत्ता 1937) पृ. 80-82

अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः ।[1]

यहाँ 'स्थूलम्' के स्थान पर 'स्थूरम्' और 'अवलम्बमाण:' के स्थान पर 'अवरम्बमाण:' प्रयोग हुआ है। शश्वती का यह मन्त्र ऋग्वेद के आठवें मण्डल में आता है, जो अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार यमी वैवस्वती 'लप्' के स्थान पर 'रप्' धातु का प्रयोग करती हैं - **कामसूता बह्वेतद्रपामि ।**[2]

यहाँ प्रलाप या विलाप के अर्थ में 'रप्' धातु का प्रयोग हुआ है, जो वैदिक संस्कृत के मौलिक वैशिष्ट्य को सूचित करता है।

2. धातुरूप एवं शब्दरूपों की विविधता

वैदिक संस्कृत में धातु और शब्द रूपों में जो विविधता एवं प्रयोग की स्वतंत्रता है, वह स्त्री ऋषियों के मन्त्रों में भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। घोषा के सूक्तों में लिट् लकार के प्रति अधिक आग्रह है। तक्षथुः, ऊहथुः, चक्रथुः, ददथुः, आसथुः जैसे प्रयोग मिलते हैं।[3] विधिलिङ् उत्तमपुरुष बहुवचन में 'गच्छेम' के स्थान पर 'गमेम' प्रयोग हुआ है।

वसुक्रपत्नी के मन्त्र में विधिलिङ् में जक्षीयात्, पपीयात्, जगायात् जैसे प्रयोग हुये हैं।[4] इसी प्रकार विश्वामित्र-नदी संवाद मेंययाथ, श्रणवामा, नंसै जैसे रूप मिलते हैं।[5]

अकारान्त शब्दरूपों में प्रथमा बहुवचन में दो रूपों का प्रयोग हुआ है - देवाः तथा देवासः। प्रयतदक्षिणासः ग्रामासः, वृकासः, अशिवासः[6] आदि प्रयोगों से स्पष्ट है कि वैदिक अभिरुचि द्वितीय रूप के प्रति अधिक थी। तृतीया बहुवचन के भी दो रूप हैं - देवैः, देवेभिः, मानुषेभिः आदि।[7]

सप्तमी एकवचन में प्रायः प्रत्यय का लोप दिखाई देता है। यथा सिकता निवावरी के मन्त्र में - पदं यदस्य परमे व्योमन्।[8] यहाँ 'व्योम्नि' के स्थान पर 'व्योमन्' प्रयोग हुआ है।

---

1. ऋग्वेद 8.1.34
2. ऋग्वेद 10.10.11
3. ऋग्वेद 10.39.4,5,10
4. ऋग्वेद 10.28.1
5. ऋग्वेद 3.33.10
6. ऋग्वेद 10.107.11 ; 10.107.3 ; 10.127.5
7. ऋग्वेद 10.125.5
8. ऋग्वेद 9.86.15

अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय से निष्पन्न है यथा - अश्विना पद। लौकिक संस्कृत में 'अश्विनौ' रूप होता है। इसी प्रकार पितरा, भिषजा, मयोभुवा, उभा आदि पद भी हैं।[1]

3. पदयोजना

स्त्रीऋषियों के मन्त्रों में उपसर्ग, अव्यय, निपात आदि की पुनरुक्ति से एक विशेष प्रकार के संरचनात्मक नादसौन्दर्य की सृष्टि हुई है। ऐसे कतिपय उदाहरण देखे जा सकते हैं -

अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्यचित् ।[2]

यहाँ 'अपि' (भी) के अर्थ में प्रयुक्त 'चित्' इस अव्यय पद से पदयोजना में एक विशेष लय की सृष्टि हुई है। इसी प्रकार अपाला के सूक्त में 'कुवित्' पद की पुनरुक्ति ऋषि की अधीरता या व्यग्रता को अभिव्यक्त करते हुये विशेष लालित्य की भी सृष्टि करती है -

कुविच्छकत्कुवित्करत्कुविन्नो वस्यसस्करत् ।[3]

यमी वैवस्वती के मन्त्र में 'किम्' पद का वैशिष्ट्य भी अवलोकनीय है -

किं भ्राता सद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।[4]

बिल्कुल इसी प्रकार की पदयोजना किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के निम्न पद्य में देखी जा सकती है-

स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं
हितान्न यः संश्रृणुते स किम्प्रभुः ॥[5]

4. ध्वन्यात्मक अनुकरण से उत्पन्न शब्द

आधुनिक भाषाविज्ञान में भाषा के उत्पत्ति विषयक सिद्धान्तों में अनुरणनात्मक अनुकरण का सिद्धान्त भी है, जिसमें प्रकृति की अनुरणनात्मक ध्वनियों से भाषा की उत्पत्ति कही गई है। जैसे कि निर्झर की झर-झर ध्वनि, शुष्क पर्णों की मर्मर ध्वनि आदि। अदिति दाक्षायणी ने ध्वनियों के इस वैशिष्ट्य को समझा था। आज जिसे हम नदियों की 'कल-कल' ध्वनि कहते हैं, उसे अदिति ने 'अ ल ला' कहा है। उन्हें लगता है

---

1. ऋग्वेद 10.39.11,6,3,5 ; 10.125.1 ; 10.95.15
2. ऋग्वेद 9.39.3
3. ऋग्वेद 8.80.4
4. ऋग्वेद 10.10.11
5. किरातार्जुनीयम् 1.5

कि 'अ ल ला' ध्वनियों के साथ बहती हुई नदियाँ मानों अपने सृष्टिकर्ता इन्द्र के गुणों का ही गान कर रही हैं -

एता अर्षन्त्यललामवन्तीर्ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः ।[1]

5. अर्थ परिवर्तन

किसी भी क्षेत्र में परिवर्तन जीवन और गति का सूचक होता है। भाषा में भी समय के साथ सतत परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन ही भाषा को 'पुराणी युवती उषा' के समान नित्य नूतन बनाये रखते हैं। वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त असंख्य शब्द जहाँ आज हजारों वर्ष बाद भी अपने मूल अर्थ में ही प्रयुक्त हो रहे हैं, वहीं अनेक शब्द लुप्त हो चुके हैं अथवा परिवर्तित अर्थ में व्यवहृत हो रहे हैं। ऐसे कतिपय शब्दों का विवरण निम्नानुसार है -

1. अरि या अर्य - वसुक्रपत्नी के मन्त्र 'विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम' में 'अरि' शब्द का प्रयोग सम्मान्य या पूज्य देवताओं के अर्थ में हुआ है। शश्वती आङ्गिरसी के मन्त्र - 'सुभद्रमर्य भोजनं विभर्षि '[2] में 'अर्य' पद पति के लिए सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त है। इन्द्राणी इन्द्र को 'अर्योवा'[3] कहते हुये उदार के अर्थ में 'अर्य' शब्द का प्रयोग करती हैं। घोषा 'श्रदरिर्यथादधत्'[4] में 'अरि' शब्द का प्रयोग 'यजमान' के अर्थ में करती हैं, जबकि हिन्दी में 'अरि' शब्द शत्रु के अर्थ में एवं 'आर्य ' विशिष्ट प्रजाति के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। लौकिक संस्कृत में पति के लिए प्रयुक्त 'आर्यपुत्र' सम्बोधन वैदिक धर्म से ही विकसित हुआ है।

2.अस्त - वैदिक संस्कृत में 'अस्त' शब्द गृह या घर के अर्थ में प्रयुक्त है - यथा वसुक्रपत्नी के मन्त्र में -

स्वशितः पुनरस्तं जगायात् । (भोजन करके वे अपने घर चले जाते ।)[5]

इसी प्रकार अपाला के सूक्त में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है -

अस्तं भरन्त्यब्रवीत ।[6]

---

1. ऋग्वेद 4.18.6
2. ऋग्वेद 8.1.34
3. ऋग्वेद 10.86.3
4. ऋग्वेद 10.39.5
5. ऋग्वेद 10.28.1
6. ऋग्वेद 8.80.1

लौकिक संस्कृत में यह डूबने, लुप्त होने या विपत्ति में पड़ने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा - अभिज्ञानशाकुन्तलम् के निम्न सन्दर्भ में -

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम् ।[1]

3. **इन्दु** - वैदिक संस्कृत में 'इन्दु' शब्द सोम लता के अभिधान या विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, यथा -

स नो मदानां पत इन्दो देवप्सरा असि ।[2]

परवर्ती युग में यह चन्द्रमा का वाचक हो गया है।

4. **उर्वरा** - 'उर्वरा' शब्द कृष्य भूमि या खेत के अर्थ में प्रयुक्त है, यथा -

असौ च या न उर्वरा ।[3]

लौकिक संस्कृत में प्रजनन क्षमता के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

5. **कवि** - 'कवि' शब्द ऋषि या मेधावी के अर्थ में प्रयुक्त है -

सहस्रणीथाः कवयो यो गोपायन्ति सूर्यम् ।[4]

अश्विनी देवों [5] और सोम को भी अनेकशः 'कवि' कहा गया है -

मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविः ।[6]

लौकिक संस्कृत में काव्य-सर्जक को ही कवि कहा जाता है।

6. कन्या - वैदिक संस्कृत में विवाहिता अथवा अविवाहिता पुत्री को सामान्य रूप से 'कन्या' कहा जाता है, यथा - पतिपरित्यक्ता अपाला को 'कन्या' कहा गया है -

कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत् ।[7]

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4.2
2. ऋग्वेद 9.104.5
3. ऋग्वेद 8.80.6
4. ऋग्वेद 10.154.6
5. ऋग्वेद 10.40.6
6. ऋग्वेद 9.86.20
7. ऋग्वेद 8.80.1

लौकिक संस्कृत में अविवाहिता के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

7. कारु - ऋग्वेद में 'कारु' शब्द स्तोत्र रचयिता या स्तुतिकर्ता ऋषि के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यथा -

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ।[1]

परवर्ती युग में यह शिल्पी या कारीगर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

8. चिकित्सा - 'चिकित्सा' शब्द जानने की इच्छा या जिज्ञासा के अर्थ में (चिति संज्ञाने) प्रयुक्त है, यथा - अपाला के निम्नलिखित मन्त्र में -

आ चन त्वा चिकित्सामो । (हम तुम्हें जानना चाहते हैं।)[3]

किन्तु लौकिक संस्कृत और आधुनिक आर्य भाषा में उपचार के अर्थ में प्रयुक्त है, यथा - मालविकाग्निमित्र का निम्नलिखित सन्दर्भ -

उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति ।[4]

9. जास्पत्य - ऋग्वेद में पति-पत्नी के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने वाला सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द है, यथा - विश्ववारा के सूक्त में -

सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व ।[5]

किन्तु लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ दम्पती से बने 'दाम्पत्य' शब्द का ही प्रचलन है।

10. दोषा-वस्तो - ऋग्वेद में रात्रि और दिन का सूचक एक समस्त पद है।[6] रात्रि को 'दोषा'[7] कहा जाता था क्योंकि उसका अन्धकार नाना प्रकार के दोषों या बुराइयों का कारण होता था। रात्रि के

---

1. ऋग्वेद 3.33.10
2. कारुभि: कारितं तेन कृत्रिमं स्वप्नहेतवे - विद्धशालभञ्जिका 1.13
3. ऋग्वेद 8.80.3
4. मालविकाग्निमित्रम् - अङ्क 2
5. ऋग्वेद 5.28.3
6. ऋग्वेद 1.179.1
7. ऋग्वेद 10.39.1

अन्धकार में चोर (स्तेन) सक्रिय हो जाते थे, भेड़िये बच्चों को उठा ले जाते थे।[1]

लौकिक संस्कृत में यह शब्द अप्रयुक्त है।

11. दुहिता - वैदिक संस्कृत में पुत्री के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त, गोदोहन की क्रिया से निष्पन्न पद 'दुहिता'[2] आज लुप्त हो चुका है। केवल 'दौहित्र' के रूप में उसकी स्मृति शेष है।

12.मर्य - मनुष्य या पुरुष के अर्थ में 'मर्य' वैदिक संस्कृत का एक बहुप्रयुक्त शब्द है, यथा -

मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः ।[3]

मरणधर्मा होने के कारण मनुष्य की संज्ञा 'मर्य' है। लौकिक संस्कृत में यह प्रयोग अप्राप्त है।

13. योषा - स्त्री सामान्य या युवती के अर्थ में सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द है - 'योषा'। यह जोड़ना अर्थ वाली 'यु' धातु से निष्पन्न है। वस्तुतः योषा ही पत्नी, प्रिया एवं माता के रूप में पुरुष को घर-परिवार से जोड़े रखती है, किन्तु वर्तमान में यह पद लुप्त हो चुका है।

14. विश्व या विश्वा - 'विश्व' शब्द ऋग्वेद में 'समस्त, समग्र या सर्व' के अर्थ में आया है, यथा - 'विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम'[4], 'इदं यद्विश्वं भुवनं श्वश्चै'[5], 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः'[6], आदि।

वर्तमान समय में यह सम्पूर्ण जगत् या दुनिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

15. वृष या वृषा एवं वृषण - ऋग्वेद का एक सर्वाधिक प्रयुक्त सार्थक शब्द है, जो वर्तमान में मूल अभिप्राय को खो चुका है। यह पौरुष, ऊर्जा, वीर्य और कामशक्ति का पर्याय है - 'पत्नीर्वृषणो जगम्युः'[7], 'वृषभो द्युम्नवाँ असि'[8], 'वृषा मतीनां पवते विचक्षणः'[9], 'प्रियोस्रियस्य वृषभस्य रेतिनो'[10]

---

1. ऋग्वेद 10.127.6
2. ऋग्वेद 10.39.12; 10.40.5; 10.159.3
3. ऋग्वेद 9.86.16
4. ऋग्वेद 10.28.1
5. ऋग्वेद 10.107.8
6. ऋग्वेद 10.86.2
7. ऋग्वेद 1.179.1
8. ऋग्वेद 5.28.4
9. ऋग्वेद 9.86.29
10. ऋग्वेद 10.40.11

आदि में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त है। इन्द्र, अग्नि, अश्विनी, सोम आदि देवों के लिए यह पद विशेषण एवं सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

वर्तमान में प्रायः वृषभ (बैल) के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

16. शरारु - ऋग्वेद में यह पद दुष्ट, अत्याचारी या हिंसक के अर्थ में प्रयुक्त है , यथा इन्द्राणी के सूक्त में -

अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते ।[1]

यह 'शृ' (हिंसायाम्)[2] धातु से निष्पन्न है। शरारती शब्द इसी से मिला-जुलता है।

इसी प्रकार 'देवप्सरा' (चमकीला सुन्दर), 'सनेमि' (पुराना) आदि अनेक शब्द हैं, जो परवर्ती युगों में परिवर्तित रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं।

वस्तुतः स्त्री ऋषियों के सूक्त ऐसे वातायन हैं, जिनसे वैदिक वाक् के रूप-वैशिष्ट्य की अन्तरङ्ग झलक देखी जा सकती है।

* * *

1. ऋग्वेद 10.86.9
2. पाणिनीय धातुपाठ 1488
3. ऋग्वेद 9.104.5
4. ऋग्वेद 9.104.6

9. काव्य

. कवि

. काव्य

. प्रतीक एवं उपमान

. अलङ्कार

. रस एवं भाव

. संवाद-सूक्त

. परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

9. काव्य

दैवी वाक् की प्रथम अभिव्यक्ति ऋग्वेद, वह प्रथम काव्य भी है, जो अनन्तकाल से कविकर्म के लिए उपादान और प्रेरणा जुटाता आया है। भारतीय काव्य ने कवि, काव्य और कवित्व की अवधारणा वेदों से ही प्राप्त की है।

ऋग्वेद के अनुसार सभी प्रकार के अलोकसामान्य लोक-हितकारी महान कर्म काव्य हैं -

देवस्य पश्य काव्यं महित्वा।[1]

प्रथमत: कवि हैं - सर्वव्यापी ब्रह्म - **कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।**[2]

द्वितीयत: कवि हैं - अग्नि, अश्विनी, सोम आदि लोक-कल्याणकारी देव[3] एवं

तृतीयत: कवि हैं - देवानुग्रह को मर्त्यों तक लाने वाले या मर्त्य को अमृत तक ले जाने वाले मन्त्रद्रष्टा ऋषि -

एते वै कवयो यदृषयः।[4]

परवर्ती साहित्य-सर्जना इसी शिवतत्व को लेकर चली है

रस-भाव, छन्द-अलङ्कार, गुण, रीति-वृत्ति आदि काव्यात्मक उपादानों का प्रथम प्रयोग हम ऋग्वेद में ही पाते हैं; भले ही इन्हें शास्त्रीय रूप हज़ारों वर्षों बाद काव्यशास्त्र में प्राप्त हुआ है। ब्रह्मवादिनियों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काव्य-सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सूत्र दिये हैं, जो वैश्विक, सार्वभौम और सार्वकालिक हैं।

---

1. ऋग्वेद 10.55.5
2. शुक्ल यजुर्वेद 40.8
3. ऋग्वेद 1.1.23; 9.86.20; 10.40.6
4. शतपथ ब्राह्मण 1.4.28

कवि

'वाङ्मय विश्व' के सर्जक कवि की अलोकसामान्य दृष्टि और महत्व को रेखाङ्कित करते हुये ऋषि यमी वैवस्वती कहती हैं -

सहस्रणीथा कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।[1]

सहस्रनयानों वाले कवि ही उस ज्ञान-सूर्य की रक्षा करते हैं। वस्तुतः कवि के पास ही वह अन्तर्दृष्टि होती है, जो अज्ञात, अगोचर को भी गम्य बनाकर असंख्य रूपों में प्रस्तुत करती है।

ऋषित्व (दर्शन), ब्रह्मत्व (सर्जन) और सुमेधा (प्रज्ञाप्रकर्ष) महाकवि का गुण है, जो वाक् की साधना और अनुग्रह से प्राप्त होते हैं, जैसे कि वागाम्भृणी कहती हैं -

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।[2]

काव्य

कवि की विशेषताओं को जानने के पश्चात् हम काव्य-सृष्टि की प्रक्रिया एवं काव्य के स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं, जिसके सम्बन्ध में घोषा ने बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं -

एतं वां स्तोममश्विनावकर्मा तक्षाम भृगवो न रथम् ।
न्यमृक्षाम योषणां न मर्ये नित्यं न सूनुं तनयं दधानः ।।[3]

इस सन्दर्भ से काव्य के सम्बन्ध में निम्न तत्वों का ज्ञान होता है -

1. काव्य एक स्तोम है। काव्य का मुख्य विषय लोकविश्रुत, लोकाराधक नायक के श्रेष्ठ कार्यों की प्रशंसा एवं उनके माध्यम से समाज के सम्मुख यह आदर्श प्रस्तुत करना है कि हमारा आचरण देवों के समान होना चाहिए, असुरों के समान नहीं, जिसे मम्मट ने -'रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्'[4] द्वारा अभिव्यक्त किया है। यश, अर्थ, शिवेतरक्षति आदि इसके अन्य प्रयोजन हैं, जो घोषा के 'यशसं भागं कृणुतं', 'मघवत्सु नस्कृतम्', 'अभिशस्तेर-वस्पृतम्' आदि मन्त्रांशों से स्पष्ट है।

2. काव्य-शिल्प रथशिल्प के सदृश है। दोनों ही तक्षणकला के उदाहरण हैं, एक तक्षण भौतिक है तो दूसरा मानसिक। जैसे कुशल शिल्पी या तक्षा; आकारहीन काष्ठ को वाञ्छित आकार देता है, तराशकर

1. ऋग्वेद 10.154.5
2. ऋग्वेद 10.125.5
3. ऋग्वेद 10.39.14
4. काव्यप्रकाश, उल्लास 1

मनोज्ञ अलङ्करणों की रचना करता है, एक सुवृत परिज्मा (सर्वगामी), तीव्रगामी रथ की सृष्टि करता है, उसी प्रकार कवि या ऋषि शब्दों को तराशकर मनोवाञ्छित अर्थ, रस, भाव और दृश्य की सृष्टि करता है। यह काव्य ही सम्पूर्ण जगत् में उसके भावों का वाहक होता है। वह कवि अपने काव्य-रथ पर आरोहण कर विश्व-भ्रमण पर चल पड़ता है। सुवृत रथचक्र के समान छन्द (वृत्त) इस काव्य को लयात्मक गति देते हैं, तो अलङ्कार उसे चारु और मनोज्ञ बनाते हैं।

3. काव्य कवि की अमर सन्तानों के समान होते हैं- 'नित्यं न सूनुं तनयम्' । जाया में आत्मा के समान कवि अपने काव्य में प्रविष्ट होता है, काव्य के रूप में जन्म लेता है। काव्य; तनय के समान कवि के नाम और यश का विस्तार करते हैं। काव्य में स्वयं को स्थापित कर कवि जरा-मरण के भय से मुक्त हो जाता है।

प्रतीक एवं उपमान

स्त्री ऋषियों के सूक्तों में कुछ ऐसे प्रतीकों, उपमानों और अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है, जो परवर्ती काव्य के उपजीव्य बने हैं -

रथ - वैदिक ऋचाओं में 'रथ' काष्ठशिल्प का एक निदर्शन या आवागमन का साधन मात्र नहीं है, अपितु गूढ़ अर्थ का अभिव्यञ्जक बहुप्रयुक्त प्रतीक है। रथ प्रतीक है - जीवन की पुरोगामिता का, सृष्टि की नित्य सञ्चरणशील विकास धारा का, दिव्य शक्तियों की सर्व-व्यापिनी गति का, धन-समृद्धि से भरे हुये अक्षय कोश का, हताशा के अन्धकार में उदित होते हुये एक स्वर्णिम आलोक का। तभी तो घोषा कहती हैं-

यो वा परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता ।[1]

संस्कृत काव्य में 'एकरथ, महारथ, अप्रतिरथ' जैसे वीरत्व के प्रतिमान, मनोरथ जैसे शब्द और दशरथ जैसे नाम रथ की सङ्कल्पना से ही विकसित हुये हैं।

रथचक्र - 'रथचक्र' किसी एक ही प्रयोजन से परस्पर सहयोगपूर्वक मिलकर कार्य करने वाले दो तत्वों का प्रतीक है, अत: पति-पत्नी को गृहस्थी रूपी रथ के दो चक्र माना गया है। यमी वैवस्वती इस प्रतीक को अपनी ऋचा में एक शाश्वत रूप प्रदान करती हैं -

जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ।[2]

---

1. ऋग्वेद 10.39.1,12
2. ऋग्वेद 10.10.7

रथचक्र के समान हम पति-पत्नी के धर्म का पालन करें।

अलङ्कार

काव्य के शोभावर्धक तत्त्व के रूप में अलङ्कारों का बहुल प्रयोग जाने-अनजाने ही ऋषिकाओं के सूक्तों में हुआ है। इनके मत में अलङ्कार की अवधारणा वही है, जो अलङ्कार वादी आचार्यों या आधुनिक काव्य-शास्त्रियों की है अर्थात् अलङ्कार शोभावर्धक धर्म हैं, भले ही इस तथ्य का उल्लेख सोम के सन्दर्भ में एक उपमान के रूप में हुआ है -

शिशुं न यज्ञैः परिभूषत श्रिये ।[1]

किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि भूषण या अलङ्कार का प्रयोजन श्री या शोभा का आधान करना है।

अनुप्रास - वैदिक अलङ्कारों में सादृश्यमूलक अलङ्कारों का ही बाहुल्य है, तथापि अनायास ही कहीं-कहीं अनुप्रास का सौन्दर्य भी निखर उठा है। यथा ऋषि अपाला के निम्नलिखित मन्त्र में -

आ चन त्वा चिकित्सामोऽधिचन त्वा नेमसि ।
शनैरिव शनकैरिवेन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥[2]

यहाँ 'च', 'न', 'श' और 'इ' वर्ण की आवृत्ति से अनुप्रास का सौन्दर्य अवलोकनीय है।

उपमा, उत्प्रेक्षा एवं दृष्टान्त - इन तीनों ही अलङ्कारों में सूक्ष्म अन्तर होते हुये भी सादृश्य का भाव प्रधान है। उपमान के लिए, अदिति 'प्रतिमान' शब्द का प्रयोग करती हैं। उपमावाचक शब्द 'न', 'इव' एवं 'यथा' हैं। तीनों का ही यथायोग्य प्रयोग हुआ है।

कतिपय सुन्दर उपमाओं एवं उपमानों के उदाहरण इस प्रकार हैं -

1. अविका - रोमशा स्वयं को पूर्णयौवना एवं रोमयुक्त बताने के लिए गन्धार देश की अविका को उपमान बनाती हैं -

सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ।[3]

2. अजा - ऋषि गोधा, लोक जीवन से गृहीत एक सुन्दर उपमान का प्रयोग करते हुये कहती हैं -

---

1. ऋग्वेद 90.104.1
2. ऋग्वेद 8.80.3
3. ऋग्वेद 1.126.7

जैसे अजा (बकरी) अपने आगे के पैरों से पादप की शाखा को झुकाकर पत्तियों का भक्षण करती है, उसी प्रकार हे इन्द्र ! तुम अङ्कुश से शत्रुओं को खींचकर उनका विनाश करते हो -

पूर्वेण मघवन पदा ऽजो वयां यथा ।[1]

3.वृषभ - ऋग्वेद में वृषभ अनन्त वीर्य, पौरुष और सम्भोग शक्ति का प्रतीक है । इन्द्राणी इन्द्र को वृषभ की उपमा देते हुये कहती हैं - जैसे तीक्ष्ण शृङ्गों वाला वृषभ गोयूथ में रमण करता है, उसी प्रकार तुम मेरे साथ रमण करो -

वृषभो न तिग्मशृङ्गो ऽन्तर्यूथेषु रोरुवत् ।[2]

4. गो एवं वत्स - मिलने की उत्कण्ठा, विकलता या वात्सल्य भावको अभिव्यक्त करने के लिए प्राय: गो एवं वत्स या माता एवं वत्स को उपमान रूप में प्रयुक्त किया गया है । वस्तुत: यह केवल एक उपमान ही नहीं है, अपितु एक सशक्त वैदिक प्रतीक भी है । ऋषि शिखण्डिनी कहती हैं - सोम को जल से उसी प्रकार मिलाओ, जैसे वत्स को माता से मिलाते हैं -

समी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।[3]

सपत्नियों को पराजित कर पति पर एकाधिपत्य की अभिलाषिणी इन्द्राणी चाहती हैं कि पति का मन उनकी ओर उसी प्रकार दौड़े, जैसे गायें बछड़ों की ओर दौड़ती हैं -

मामनु प्रते मनो वत्सं गौरिव धावतु ।[4]

5. मृग एवं मृगण्यु - शिकार के लिए शिकारी की प्रतिबद्धता और एकाग्रता को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करते हुये घोषा कहती हैं - जैसे मृगयु (शिकारी) दिनरात शिकार को ही खोजता रहता है या मृग के पीछे दौड़ता रहता है, पशु को प्रलोभित करता है, उसी प्रकार हे अश्विनी देव ! हम दिन-रात हवि से आपको ही बुलाते हैं ।[5]

6. शकुन या पक्षी - सोमरस की सर्पणशीलता या तीव्रगति से लहराकर कलश में गिरने की क्रिया को अभिव्यक्त करने के लिए शकुन को उपमान बताया गया है ।[6]

---

1. ऋग्वेद 10.134.6
2. ऋग्वेद 10.86.15
3. ऋग्वेद 9.104.2
4. ऋग्वेद 10.145.6
5. ऋग्वेद 10.40.4
6. ऋग्वेद 9.86.13

ऋषि रात्रि भारद्वाजी, रात्रि में निश्चिन्तता पूर्वक घर में शयन करने के भाव को अभिव्यक्त करने के लिए पक्षियों के वृक्ष रूपी नीड़ में विश्राम करने का दृष्टान्त देती हैं -

वृक्षे न वसतिं वयः ।[1]

7. स्त्री एवं पुरुष - परस्पर प्रेम एवं ऐक्य के भाव को इस उपमान द्वारा अभिव्यक्त किया गया है-

मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः ।

जैसे पुरुष युवतियों से मिलते हैं, उसी प्रकार सोम जल से मिलते हैं ।[2]

विश्वामित्र के प्रति नदियों का अनुकम्पा भाव भी पुरुष के प्रति प्रेम पूर्ण झुकाव रखने वाली स्त्री के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है ।[3]

ऋषिकाओं की ऋचाओं में स्त्री के नाना रूप; सादृश्य के आधार बने हैं, जैसे कि -

(क) शिशु को दुग्धपान कराती हुई स्त्री- नदियाँ विश्वामित्र की प्रार्थना पर द्रवित होकर कहती हैं, 'हम तुम्हारे लिए उसी प्रकार झुक जाती हैं, जैसे दुग्धपान कराती हुई स्त्री शिशु के प्रति झुक जाती है' -

नि तं नंसै पीप्यानेव योषा ।[4]

(ख) प्रेमी पुरुष का घर में स्वागत-सत्कार करती हुई स्त्री - घोषा यजमान द्वारा किये जाने वाले अश्विनी देवताओं के सत्कार की उपमा स्त्री द्वारा किये जाने वाले प्रेमी के सत्कार से देती हैं ।[5] यहाँ आराध्य के प्रति भक्ति एवं सम्मान मुख्य भाव है ।

(ग) देवर को शयन के लिये आमन्त्रित करती हुई विधवा - इस दृष्टान्त के द्वारा भी आराध्य के प्रति प्रेमभाव की अभिव्यञ्जना की गई है ।[6]

(घ) मधुपान करती हुई विलासिनी स्त्री - मधु मक्षिकायें अश्विनी देवों से उसी प्रकार मधु ग्रहण करती हैं, जैसे विलासिनी स्त्रियाँ मधुपान करती हैं ।[7]

---

1. ऋग्वेद 10.127.4
2. ऋग्वेद 9.86.16
3. ऋग्वेद 3.33.10
4. ऋग्वेद 3.33.10
5. ऋग्वेद 10.40.2
6. ऋग्वेद 10.40.2
7. ऋग्वेद 10.40.6

8. पिता-पुत्र - पिता-पुत्र के वात्सल्यपूर्ण सम्बन्ध को भी आलङ्कारिक काव्यात्मक अभिव्यक्ति का आधार बनाया गया है। घोषा अश्विनी देवों से प्रार्थना करती हैं, जैसे पिता पुत्र को शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार आप मुझे उचित शिक्षा दें।[1]

जैसे पुत्र पिता का सम्मान करता है, उसी प्रकार पूषा ने सोम की ओर से विवाह का प्रस्ताव लेकर आये देवों को सम्मान किया -

पुत्रः पितरावनृणीत पूषा ।[2]

9. शिशु - शिशु का सहज निश्च्छल सौन्दर्य और भोलापन अनजाने ही मानव मन को आकर्षित कर लेता है। यह शिशु भी कई स्थानों पर उपमान और दृष्टान्त के रूप में वाचिक अभिव्यक्ति का विषय बना है, जैसे शिखण्डिनीद्वय कहती हैं, 'इस सोम को यज्ञों से उसी प्रकार सुसज्जित करो जैसे शिशु को आभूषणों से करते हैं।'[3]

घोषा अश्विनी देवों को उसी प्रकार निर्भय विश्वास और उमङ्ग से बुलाती हैं, जैसे शिशु पिता को बुलाता है -

पितुर्नाम सुहवं हवामहे ।[4]

जैसे माता-पिता शिशु को अङ्क में धारण किये रहते हैं, वैसे ही ऋषि; सूक्तों को धारण करते हैं -

नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः ।[5]

10. राजपुत्र - यज्ञों में जाते हुये अश्विन् देवताओं की शोभा राजपुत्रों के सदृश कही गई है -

राजपुत्रेव सवनाय गच्छथः ।[6]

11. राजा एवं स्तुति गायक (बन्दी) - अश्विनी देवताओं को प्रातःकाल स्तुतियों से उसी प्रकार सम्बोधित किया जाता है, जैसे स्तुतिगायक (कापया) राजाओं को मङ्गलगान से जगाते हैं -

---

1. ऋग्वेद 10.39.6
2. ऋग्वेद 10.85.14
3. ऋग्वेद 9.104.1
4. ऋग्वेद 10.39.1
5. ऋग्वेद 10.39.14
6. ऋग्वेद 10.40.3

प्रातर्जरेथे जरणेव कापया ।[1]

12. कर्मार - ब्रह्मणस्पति को कर्मार (लौहकार या लुहार) के समान सृष्टि को बनाने वाला कहा गया है -

ब्रह्मणस्पतिरेता संकर्मार इवाधमत् ।[2]

13. भृगु-गण - सूक्तकार ऋषियों की उपमा रथकार भृगुओं से दी गई है ।[3]

14. देवनर्तन - सृष्टिरचना के समय ऊर्जा के विस्फोट की उत्प्रेक्षा देवताओं के नर्तन से की गई है।[4]

15. जल एवं नदियाँ - मानव हृदय के दुर्निवार आकर्षण की अभिव्यक्ति निम्नाभिमुखी जल के माध्यम से की गई है । इन्द्राणी आकाँक्षा रखती हैं कि इन्द्र का मन उनके प्रति उसी प्रकार दौड़े जैसे जल नीचे की ओर दौड़ता है ।[5]

घोषा कामना करती हैं कि सभी प्रकार की अन्नादि समृद्धियाँ उनके पति तक उसी प्रकार पहुँचें, जैसे नदियाँ ढलान की ओर बहती हैं -

अस्मै रीयन्ते निवनेव सिन्धवो ।[6]

इसी दृष्टान्त के माध्यम से महाकवि कालिदास ने तपश्चर्या के प्रति पार्वती के दृढ सङ्कल्प को अभिव्यक्त किया है -

इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ।।[7]

16. वायु - अदृश्य अमूर्त वायु चञ्चलता का प्रतीक है । अप्सराओं के अस्थिर प्रेम और दुर्लभता की अभिव्यक्ति इस उपमान के माध्यम से हुई है -

---

1. ऋग्वेद 10.40.3
2. ऋग्वेद 10.72.2
3. ऋग्वेद 10.39.14
4. ऋग्वेद 10.72.6
5. ऋग्वेद 10.145.6
6. ऋग्वेद 10.40.9
7. कुमारसम्भवम् 5.5

दुरापना वात इवाहमस्मि ।[1]

वागाम्भृणी वाक् की त्वरित गति और सर्वव्यापिनी शक्ति को इसी माध्यम से आकार देती हैं -

अहमेव वात इव प्रवामि ।[2]

17. कक्ष्या एवं लता - दुर्निवार अश्व को बाँधने के लिए प्रयुक्त रस्सी 'कक्ष्या' कही जाती है। लता (लिबुज) अपनी शाखाओं के बन्धन में वृक्षों को बाँध लेती है। यमी वैवस्वती स्त्री के प्रेम पाश में बँधे हुये पुरुष की व्यञ्जना इन दो उपमानों के माध्यम से करती हैं।[3]

लता और वृक्ष का दृष्टान्त लौकिक साहित्य में भी कमनीय कल्पनाओं का अभिव्यञ्जक हुआ है। इनके पारस्परिक प्रेम की अभिव्यक्ति कुछ इसी प्रकार कुमारसम्भव में हुई है -

लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥[4]

लता-वधुओं ने तरुओं को शाखा रूपी भुजाओं से आलिङ्गन प्रदान किया।

18. सोम - सोम चारुता या सुन्दरता का प्रतीक है। घोषा कामना करती हैं कि वे सुन्दर सोम की भाँति धनवानों में स्पृहणीय बनें।[5]

सम्भवतः रामायण में श्रीराम के 'सोमवत् प्रियदर्शन' की सङ्कल्पना इसी से विकसित हुई है।

रूपक -

रूपक के कई सुन्दर प्रयोग स्त्री ऋषियों के मन्त्रों में हुये हैं, जहाँ वर्ण्य विषय पर उपमान का आरोप कर दिया गया है।

साङ्ग रूपक का एक सुन्दर उदाहरण सूर्या सावित्री के सूक्त में प्राप्त होता है, जहाँ मन पर अन (बैलगाड़ी) का, आकाश पर छादन का, सूर्य और चन्द्र पर वाहों (बैलों) का, श्रोत्र पर चक्र का, स्तोम पर प्रतिधि (ईषा) का, वायु पर अक्ष का तथा द्युलोक पर पथ या मार्ग का आरोप हुआ है -

---

1. ऋग्वेद 10.95.2
2. ऋग्वेद 10.125.8
3. ऋग्वेद 10.10.3
4. कुमारसम्भवम् 3.39
5. ऋग्वेद 10.39.2

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुतच्छदिः ।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या गृहम् ॥[1]

सूर्या के मन्त्रों में रूपक के प्रति आग्रह अधिक है। सूर्य और चन्द्र का वर्णन वे आकाश के अङ्क में क्रीड़ा करते हुये शिशुओं के रूप में करती हैं।[2]

शची पौलोमी अपना प्रामुख्य सिद्ध करने के लिए स्वयं पर केतु (ध्वजा) और मूर्धा का आरोप करती हैं -

अहं केतुरहं मूर्धा ऽहमुग्रा विवाचनी ।[3]

अनन्वय -

उपमेय की उत्कृष्टता को सूचित करने के लिए उपमेय को ही उपमान बना देना या उपमान का अभाव बताना अनन्वय अलङ्कार कहा जाता है।

इसका प्रयोग अदिति दाक्षायणी के मन्त्र में हुआ है, जब वे अपने पुत्र इन्द्र की अप्रतिमता को सिद्ध करने के लिए यह कहती हैं कि इन्द्र के समान न तो कोई हुआ है और न ही होगा।[4]

दीपक -

प्रकृत और अप्रकृत के धर्म का एक ही बार ग्रहण दीपक अलङ्कार कहा जाता है। दीपक का सौन्दर्य शची पौलोमी की निम्न उक्ति में देखा जा सकता है -

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः ।[5]

(वह सूर्य उदित हुआ और मेरा भाग्य भी।)

यहाँ प्रकृत भाग्य और अप्रकृत सूर्य दोनों के उदय रूपी धर्म का एक ही बार ग्रहण हुआ है।

---

1. ऋग्वेद 10.85.10,11,12
2. ऋग्वेद 10.85.18
3. ऋग्वेद 10.159.2
4. ऋग्वेद 4.18.4
5. ऋग्वेद 10.159.1

उदात्त -

वस्तु की समृद्धि का वर्णन उदात्त अलङ्कार कहलाता है। दक्षिणा सूक्त में भोजों (दानशील व्यक्तियों) की समृद्धि का वर्णन इस प्रकार हुआ है -

भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं सुवासाः ।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम् ॥[1]

भाविक -

अतीत और अनागत को जब प्रत्यक्ष की भाँति वर्णित किया जाता है, तब भाविक अलङ्कार होता है। अदिति दाक्षायणी के निम्नलिखित मन्त्र में इसकी झलक देखी जा सकती है -

देवानां नु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया ।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥[2]

यहाँ अदिति देवोत्पत्ति की घटना और भावी सृष्टि को प्रत्यक्ष के समान वर्णित कर रही है।

विरोधाभास -

जहाँ विरोध के न होते हुये भी परस्पर विरोध की प्रतीति हो, वहाँ विरोधाभास अलङ्कार होता है। उदाहरण स्वरूप अदिति के निम्न कथन में -

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाददितिः परि ।[3]

ऐसे अनेक अलङ्कार स्त्री ऋषियों के मन्त्रों में खोजे जा सकते हैं, जो अनायास ही उक्ति सौन्दर्य के वर्धक हो गये हैं। इनमें सहजता और सरलता है, नैसर्गिक प्रवाह है, कहीं भी कृत्रिमता, प्रयत्नसाध्य निराधार कल्पनायें या पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना नहीं है।

रस एवं भाव -

ऋग्वैदिक ऋचायें ईश्वरीय ज्ञान की यांत्रिक प्रस्तुति मात्र नहीं हैं, अपितु भाव-प्रवण कविहृदय की सरस अभिव्यक्ति हैं, जिनमें काव्य-रसों एवं भावों की व्यञ्जना हुई है।

---

1. ऋग्वेद 10.107.9,10
2. ऋग्वेद 10.72.1-2
3. ऋग्वेद 10.72.4-5

काव्यशास्त्र के अनुसार देव, मुनि, गुरु, राजा एवं पुत्रविषयक रति 'भाव' कही जाती है, जबकि 'कान्ताविषयक रति' श्रृङ्गार रस का स्थायीभाव होता है।

यह सर्वविदित है कि ऋग्वेद का मूल भाव देवविषयक रति है। इस भाव की अभिव्यक्ति विश्ववारा, अपाला, घोषा, सिकता-निवावरी, शिखण्डिनी, दक्षिणा, श्रद्धा, रात्रि, सार्पराज्ञी आदि ऋषियों के सूक्तों में हुई है। पुत्रविषयक रति अदिति के मन्त्रों में अभिव्यक्त है, जब वे अपने पुत्र की प्रशंसा करते हुये कहती हैं -

ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून् ।[1]

मुनि विषयक रति की अभिव्यक्ति- 'ये चिद्धि पूर्वं ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि'[2] जैसे मन्त्रों में हुई है, जहाँ ऋषि की महानता का वर्णन किया गया है।

गुरु विषयक रति का मनोज्ञ उदाहरण वसुक्रपत्नी का मन्त्र है, जो अपने श्वशुर के प्रति अनुराग और सम्मान की अभिव्यक्ति करता है।[3]

सम्भोग श्रृङ्गार की व्यञ्जना शश्वती[4] और इन्द्राणी[5] के मन्त्रों में हुई है। रोमशा का मन्त्र, पुरूरवा-उर्वशी संवाद और जूहु का सूक्त विप्रलम्भ के उदाहरण हैं। पुरूरवा-उर्वशी संवाद में विप्रलम्भ की चरम अवस्थाओं प्रलाप, मूर्च्छा, मरणासन्नता आदि का भी वर्णन हुआ है।[6]

यमी का यम के प्रति काम भाव 'रसाभास' का व्यञ्जक है।[7]

वीररस के नाना रूप इन्द्र विषयक मन्त्रों और अश्विन् सूक्तों में देखे जाते हैं। अश्विन् देवों के लोकोपकारी कार्यों में 'दया वीर' का रूप वर्णित है, इन्द्र की स्तुतियों में 'युद्ध वीर' का। दक्षिणा सूक्त 'दान वीर' की छबि प्रस्तुत करता है, तो यमी का परलोक विषयक सूक्त 'धर्म वीर' की।

---

1. ऋग्वेद 4.18.7
2. ऋग्वेद 1.179.2
3. ऋग्वेद 10.28.1
4. ऋग्वेद 8.1.34
5. ऋग्वेद 10.86.6,15,16
6. ऋग्वेद 10.95.15
7. ऋग्वेद 10.10.7

इन्द्र के पराक्रम का वर्णन करने वाले मन्त्रों में वीर रस की अभिव्यञ्जना है।[1] इसी प्रकार अत्याचारी पणियों पर आक्रमण करने के लिए राजा असमाति को अभिप्रेरित करते हुये अगस्त्यस्वसा की उक्ति से भी वीर रस व्यञ्जित होता है।[2]

वृषाकपि के प्रति क्रोध को अभिव्यक्त करने वाली इन्द्राणी की उक्ति में रौद्र रस की झलक मिलती है।[3] घोषा के निम्न वचन 'दैन्य' और 'भय' को अभिव्यक्त करते हैं -

अनापिरज्ञा असजात्यामतिः पुरा तस्य अभिशस्तेरव स्पृतम् ।[4]

तो अदिति की उक्ति आनन्द और विस्मय को -

अथोदस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी आपृणाज्जायमानः ॥[5]

जन्म लेते ही शिशु उठ खड़ा हुआ और अपने तेज से उसने द्युलोक और पृथ्वी लोक को पूर्ण कर दिया। इस वर्णन में आश्चर्य या विस्मय का भाव निहित है।

इन्द्राणी की उक्ति - 'सपत्नी मे परा धम', 'नह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन् रमते जने'[6] में सपत्नी के प्रति ईर्ष्या, असूया, चिन्ता आदि भाव व्यक्त हुये हैं, तो शची पौलोमी के वचनों में - 'अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी'[7] में श्लाघा और गर्व का भाव है।

इस प्रकार मानव के सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन की परतों को खोलती हुई ऋग्वेद की ऋचायें न केवल काव्यशास्त्रीय अपितु मनोवैज्ञानिक अध्ययन की भी अपेक्षा रखती हैं।

संवाद सूक्त

ऋग्वेद के स्वरूप निर्धारण में संवाद सूक्तों की भी एक विशिष्ट भूमिका है। संवाद सूक्त से अभिप्राय ऐसे सूक्तों से है जिनके वक्ता या ऋषि एक से अधिक व्यक्ति हैं। ऐसे प्रसिद्ध सूक्त हैं - अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद (1.179), विश्वामित्र-नदी संवाद (3.33), इन्द्र-वामदेव-अदिति संवाद (4.18), यम-यमी

---

1. ऋग्वेद 10.108.4
2. ऋग्वेद 10.60.6
3. ऋग्वेद 10.86.5
4. ऋग्वेद 10.39.6
5. ऋग्वेद 4.18.5
6. ऋग्वेद 10.145.2,4
7. ऋग्वेद 10.159.2

संवाद (10.10), इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि संवाद(10.86), पुरूरवा-उर्वशी संवाद (10.95) तथा सरमा-पणि-संवाद (10.108)। इन संवाद सूक्तों की प्रथम अथवा द्वितीय वक्ता स्त्री ऋषि ही हैं।

इन संवाद सूक्तों में परस्पर विरोधी भावों का द्वन्द्व, नाटकीय उतार-चढ़ाव; फलत: रोचकता दृष्टिगत होती है। सूत्र रूप में निबद्ध ये संवाद परवर्ती पौराणिक आख्यानों और कथाओं के स्रोत हैं। ये संवाद सूक्त ही संस्कृत नाट्य साहित्य के मूल आधार माने गये हैं।

'श्रद्धा' और 'मेधा' सूक्त अमूर्त भावों को शब्दमय विग्रह प्रदान करते हैं, तो अदिति का 'देवोत्पत्ति सूक्त' सृष्टि विज्ञान के रहस्यों को परत-दर-परत खोलता है। सूर्या का 'विवाह सूक्त' भारतीय परिवार की आधार शिला रखते हुये विवाह को एक पवित्र संस्था और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को एक आजीवन-सम्बन्ध बना देता है। वागाम्भृणी का 'वाक् सूक्त' परवर्ती औपनिषदिक चिन्तन और सर्वात्मवाद का सूत्रपात करता है, तो घोषा का सूक्त सगुण भक्तिधारा का।

स्त्री ऋषियों के इन सूक्तों के आधार पर दृढ़तापूर्वक यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद केवल यजमानों या स्तोताओं के स्तुतिपरक मन्त्रों या धार्मिक विधि-विधानों का सङ्कलन मात्र नहीं है, अपितु सुख-दुःख, हास-अश्रु, अनुराग-विराग, राग-द्वेष, काम-क्रोध, आशा-आकाँक्षा, श्रद्धा-विश्वास आदि मानवीय भावों और संवेदनाओं को प्रतिबिम्बित करने वाला एक जीवन्त साहित्य भी है।

ऋग्वेद को प्राणवान् बनाने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान स्त्री ऋषियों का ही है क्योंकि इनके सूक्तों में विषयों और भावों की इन्द्रधनुषी विविधता है।

मन्त्र कर्तृत्व

ऋग्वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में जो भारतीय अवधारणा है, उसके विपरीत स्त्री ऋषियों के कतिपय मन्त्रों से मन्त्र कर्तृत्व का आभास भी मिलता है। ब्रह्मवादिनी घोषा स्पष्ट शब्दों में कहती हैं -

'हमने यह स्तोम बनाया है, जैसे भृगु रथ बनाते हैं।'

वे स्तोत्ररचना के सन्दर्भ में तीन क्रियापदों का प्रयोग करती हैं - अकर्म, अतक्षाम और न्यमृक्षाम। घोषा दृष्टान्तों द्वारा अपनी अभिव्यक्ति को सुस्पष्ट करती हैं -

'जैसे भृगु लकड़ी को काट-छील कर, तराश कर रथ का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार हमने यह स्तोत्र बनाया है। जिस प्रकार कन्या को वर को प्रदान करने से पहले संस्कृत और अलङ्कृत किया जाता है, उसी प्रकार इस स्तोत्र को अश्विनी देवों को अर्पित करने से पूर्व हमने इसका संस्कार और परिष्कार किया है।'[1]

1. ऋग्वेद 10.39.14

स्पष्टत: यहाँ ऋषियों का मन्त्र-कर्तृत्व प्रमाणित होता है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अर्थ के दर्शन और मन्त्रात्मक अभिव्यक्ति की सामर्थ्य ऋषियों ने तपोबल से ही पाई थी।

परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

ऋग्वैदिक सूक्तों की रचना शैली में एक सहज प्रवाह परिलक्षित होता है, जो परवर्ती वैदर्भी रीति में देखा जाता है। लौकिक साहित्य से वाक्यरचना का साम्य या भावसाम्य एक विस्मयजनक मोहक आनन्द की सृष्टि करता है। निदर्शन स्वरूप दो उदाहरण देखे जा सकते हैं -

सरमा इन्द्र की विशेषताओं का वर्णन करते हुये कहती हैं -

'नाहं तं वेद दभ्यं दभत स'।[1]

'दभ्यं दभत स' के समान पदावली का प्रयोग महाकवि कालिदास के 'वधाय वध्यस्य शरं शरण्य:'[2] में देखा जाता है।

इसी प्रकार सूर्या के विवाह सूक्त की -

'अनृक्षरा ऋजव: सन्तु पन्था:'[3] के सदृश भाव शाकुन्तल के 'भूयान्कुशेशय-रजोमृदुरेणुरस्या: शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्था:'[4] में पाया जाता है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कालिदास जैसे सारस्वत कवि ने इन ऋचाओं का अनुकरण किया है, किन्तु इससे यह तो स्पष्ट है कि जाने-अनजाने इन सूक्तों ने महाकवियों के अन्तस्तल का न केवल स्पर्श ही किया है, अपितु अपनी गहन छाप भी छोड़ी है।

इन्द्र के समान पराक्रमी और अश्विनी देवों के सदृश लोकरञ्जक नायक, जिनके प्रतिरूप राम हैं, ही संस्कृत महाकाव्यों के आदर्श रहे हैं। देव-स्तुतियों के समान ही नायक के यश का विस्तार और नैतिक मार्यदाओं की स्थापना वाल्मीकि, व्यास और कालिदास जैसे महाकवियों का उद्देश्य रहा है।

'राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य', 'सत्येनोत्तभिता भूमि: ऋतेन आदित्यास्तिष्ठन्ति', 'मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम्', 'अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि', 'सुमङ्गलीरियं वधू', 'सं होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति',

---

1. ऋग्वेद 10.108.4
2. रघुवंशम् 2.30
3. ऋग्वेद 10.85.23
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4.11

'प्रजायै मृत्यवे तत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत', 'आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्', 'वृणीध्वं हव्यवाहनम्', 'मा मे द्रभ्राणि मन्यथा:' जैसी सूक्तियों ने ऋषि सूक्तों में अर्थगौरव का आधान करते हुये भारत-राष्ट्र, समाज और साहित्य के भावी स्वरूप का निर्धारण किया है।

इतिहास, पुराण और स्मृतियों ने वेदार्थ का ही उपबृंहण और व्याख्यान किया है। इस प्रकार वेद-वाक् कवियों के लिए भी वह कामधेनु रही है, जिसका दोहन हज़ारों-हज़ारों वर्षों से कविगण करते रहे हैं। अत: आचार्य राजशेखर से स्वर मिलाते हुये हम भी कामना करते हैं -

या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदिः नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती॥

* * *

10. जीवन मूल्य

. तप

. ऋत

. सत्य

. श्रद्धा

. सुमति

. सूनृत

. सुकृत

. दान या दक्षिणा

. श्री या सौन्दर्य

. श्रम

. सख्य, मैत्री या बन्धुत्व

. यम

. भद्र-शुभ-शिव

10. जीवन मूल्य

विश्व का आद्यतम ग्रन्थ ऋग्वेद उन जीवन मूल्यों का प्रथम निदर्शक भी है, जिनके कारण इस पृथिवी पर जीवन सम्भव हो पाया है। आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व; स्त्री और पुरुष दोनों को ही वागृदेवी की अनुकम्पा से अन्तर्दृष्टि, प्रज्ञा और वागर्थ की प्रतिपत्ति का जो वरदान मिला था; उसी का सङ्कलित रूप ऋग्वेद है। ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने धर्म-दर्शन, परिवार-समाज, आर्थिक-राजनैतिक जीवन, साहित्य-शास्त्र, शिल्पकला, भाषा आदि सांस्कृतिक घटकों के सूत्रपात के साथ ही पृथिवी के धारक उन जीवन मूल्यों की भी स्थापना की, जो किसी भी राष्ट्र की संस्कृति को आदर्श एवं शाश्वत बनाते हैं, जो सृष्टि की सनातनता के लिये, सुख-शान्ति, सौहार्द और साम्मनस्यपूर्ण विश्वसमाज के लिये, लोकमङ्गल की साधना के लिये हर युग में अनिवार्य रहे हैं।

जीवन मूल्य का अर्थ है - जीवन के लिये आवश्यक मूल्य। भाषिक संरचना की दृष्टि से 'मूल्य' पद 'मूल' शब्द से 'यत्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है - 'मूल के योग्य'। जो मूल के - हमारी जड़ों के, मनुष्य के रूप में हमारी पहचान के योग्य हैं, वही मूल्य हैं अर्थात् इस पृथिवी को, इस पृथिवी पर जीवन को, मानवीय अस्तित्व को धारण करने वाले, मनुष्य को 'मनुष्य' बनाने वाले तत्व ही 'मूल्य' हैं।

एक वृक्ष आकाश में तभी ऊँचा उठ सकता है, शाखा-प्रशाखाओं से विकसित और रसमय, मधुर फलों से सुसमृद्ध हो सकता है; जब उसकी गहरी जड़ें धरती से जीवन-रस पा रही हों, इसी प्रकार कोई भी राष्ट्र या जाति तभी समुन्नत हो पाती है, आपदाओं के भयङ्कर झञ्झावात में भी जीवित रह पाती है, जब उसकी शिराओं में जीवनमूल्य धारक-तत्त्व के रूप में प्रवाहित होते हैं।

वर्तमान अर्थशास्त्र की पदावली में मूल्य का अर्थ है - कीमत, लागत, वैल्यू या विनिमय प्रतिमान, जिसके द्वारा किसी वस्तु का क्रय-विक्रय किया जा सके। किसी भी समाज में स्थापित नैतिक मूल्य ही वह अमूर्त लागत या कीमत हैं, जिसके विनिमय में एक उत्तम समाज का निर्माण सम्भव हो पाता है। यह अमूल्य धन जिस राष्ट्र के पास होता है, वही एक कालजयी सनातन संस्कृति का निर्माता, विश्वसमाज का पथ-प्रदर्शक, लोकमङ्गल और निःश्रेयस् का साधक होता है।

ऋग्वेद की ऋषिकाओं ने जिन जीवनमूल्यों की स्थापना की, उन्हें ही स्मृतियों में मानवधर्म कहा गया तथा महाकाव्यों के कथा नायकों ने उन्हें अपने आचरण में चरितार्थ किया। जीवनमूल्यों की सार्थकता उनके आचरण में है। ये जीवनमूल्य आत्मा के ऐसे अमूल्य गुण हैं, जो मानव को लोककल्याण और श्रेयस्

के पथ पर प्रवृत्त करते हैं, मनुष्य के रूप में मानवेतर प्राणियों से पृथक् करते हैं। स्त्री ऋषियों द्वारा प्रतिपादित ये जीवनमूल्य हैं -

1. तप

'तप' का अर्थ है किसी उदात्त उद्देश्य से स्वयं को तपाना। तप सर्जनात्मक ऊर्जा या ऊष्मा का पर्याय है। वेदमन्त्रों का दर्शन ऋषियों ने अपने तपोबल से ही किया था। तप ऋषित्व का अनिवार्य धर्म या लक्षण है। यमी वैवस्वती के अनुसार ऋषि तप से ही जन्मे हैं।[1] तप से ही अनाधृष्य और स्वर्गप्राप्ति के योग्य हुये हैं -

तपसा ये अनाधृष्या तपसा ये स्वर्ययुः । तपो ये चक्रिरे महस् ।[2]

सभी प्रकार के कलुषों और तमस् को नष्ट करने वाले वैदिक देवता अग्नि 'उग्र तप' रूप हैं।[3] तप से असाध्य और असम्भव कार्य भी साध्य हो जाते हैं। जुहू ब्रह्मजाया ने तपश्चरण से स्वयं को निष्कलङ्कसिद्ध करते हुये अपने पति को पुनः प्राप्त किया था। तप के आदर्श निदर्शन सप्तर्षियों एवं देवों ने उनके शुद्ध चरित्र की प्रशंसा की थी। जुहू के अनुसार तप वह जीवनमूल्य है,जिससे पृथिवी का मानव भी आकाश की ऊँचाइयों को छू सकता है। तप की शक्ति से ही अबला नारी 'भीमा' बनती है -

भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ।[4]

तप; दैवी अनुग्रह प्राप्त कर अलोकसामान्य शक्ति एवं क्षमताको अर्जित करने का साधन है। तप ही अमृत का मार्ग है, अतः भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन के चारों आश्रमों में ही तप को महत्त्व दिया गया है।

ब्रह्मचारी तप से ही ब्रह्म (ज्ञान) का अधिकारी होता है। सत्यकाम जाबाल, नचिकेता आदि इसके प्रमाण हैं। तप से ही गृहस्थाश्रम अमृत का लोक होता है -

आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम् ....।[5]

---

1. ऋग्वेद 10.154.5
2. ऋग्वेद 10.154.2
3. ऋग्वेद 10.109.1
4. ऋग्वेद 10.109.4
5. ऋग्वेद 10.85.20

अथर्ववेद के अनुसार देवों ने ब्रह्मचर्य और तप से ही मृत्यु पर विजय पाई है।[1]

ब्रह्म ने तप से स्वयं को तपाकर ही इस सृष्टि का सर्जन किया है -

स तपोऽतप्यत्। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्।[2]

'ऋत' और 'सत्य' जैसे जीवन-मूल्यों की उत्पत्ति भी तप से हुई है -

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत्।[3]

परवर्ती वैदिक एवं अवैदिक (बौद्ध, जैन) सभी परम्पराओं ने 'तप' को जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार किया है।

2. ऋत

वैदिक धर्म का मूल आधार 'ऋत' है। 'ऋत' शब्द गति वाली 'ऋ' धातु से निष्पन्न है, जिस का अर्थ है - गति या गति का मार्ग अर्थात् गति के नियम। इस संसार चक्र की गति का निर्धारक ऋत है, अर्थात् ऋत सृष्टि-व्यवस्था के वे शाश्वत नियम हैं, जिनके अनुसरण और पालन से ही संसार अपनी स्वाभाविक एवं नियमित गति से चल पाता है। ऋत के सूत्र या तन्तु इस सृष्टि-व्यवस्था के साथ गुँथे हुये हैं, जिनकी पहचान तत्वद्रष्टा ऋषियों ने की है। उन्होने अपने तप से ऋत को बढ़ाया है, अतः ऋषि 'ऋतसाप' और 'ऋतावृध' कहे गये हैं। वे ऋत के प्रवक्ता और उपदेष्टा हैं -

ये चिद्धि पूर्वं ऋतसाप आसन्त साकं देवेभिरवदन्नृतानि।[4]

देवता ऋत के पालक और ऋत के रक्षक हैं। ऋत का पालन करते हुये ही सूर्य देवता प्रतिदिन निश्चित समय पर आकाश में उदित होते हैं। नदियाँ इस नियम के अधीन ही विना रुके सतत प्रवाहित होती हैं, अतः वे ऋतावरी हैं।[5] ऋत सृष्टि का कारण है। जलों की उत्पत्ति ऋत से ही हुई है -

आपो देवी प्रथमजा ऋतेन।[6]

---

1. अथर्ववेद 11.5.19
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 2.6
3. ऋग्वेद 10.109.1
4. ऋग्वेद 1.179.2
5. ऋग्वेद 4.18.6
6. ऋग्वेद 10.109.1

इस पृथ्वी पर ऋत के पालन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण नदियाँ हैं, जो देवकृत मार्गसे गमन करते हुये गति रूप धर्म का कभी भी परित्याग नहीं करती हैं -

अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः ।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः ।।[1]

यह ऋत ही अदितिपुत्रों के देवत्व का आधार है -

ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति ।[2]

इस ऋत के विधान में इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी की महती भूमिका है -

वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते ।[3]

सूर्या की दृष्टि में स्त्री के लिए पतिगृह और गार्हपत्य जीवन ही ऋत की योनि है क्योंकि पति के साथ ही यज्ञ द्वारा वह सृष्टि के सञ्चालन में सहयोगी होती है।

ऋत का पालन ही धर्म है। धर्म ही ऋत के प्रतिनिधि के रूप में मानव जीवन को नियन्त्रित, मर्यादित और श्रेयस्कर बनाता है - ऋत का पालन ही 'व्रत' है। देवताओं के व्रत अनुलङ्घनीय हैं -

मकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि ।[4]

क्योंकि इस ऋत का उलङ्घन सृष्टि के विनाश का कारण हो सकता है। जीवन-मृत्यु के चक्र को सञ्चालित करने के लिये ही देवी अदिति ने मार्तण्ड (सूर्य) को द्युलोक में स्थापित किया है -

प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ।[5]

3. सत्य

ऋत का दूसरा नाम 'सत्य' है।[6] सृष्टि को सञ्चालित करने वाले नियम ऋत हैं, तो मानवजीवन को सञ्चालित करने वाले नियम सत्य। अस्तित्व या सत्ता अर्थ वाली अस् धातु से निष्पन्न सत्य का अर्थ है -

---

1. ऋग्वेद 3.33.4
2. ऋग्वेद 10.85.1
3. ऋग्वेद 10.86.10
4. ऋग्वेद 10.10.5
5. ऋग्वेद 10.72.9
6. ऋतम् इत्येष वै सत्यम्। ऐतरेय ब्राह्मण 4.3.6

'अस्ति इति सत्, तस्य भावम् सत्यम्' । सत् या होने का भाव सत्य है। यास्क के अनुसार सत् तत्वों में इसका विस्तार होने अथवा सत् से उत्पन्न होने के कारण यह सत्य कहा जाता है -

सत्यं कस्मात् ? सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा ।[1]

यह धरती सत्य पर टिकी है -

सत्येनोत्तभिता भूमिः ।[2]

इस धरती और धरती पर जीवन का आधार सत्य ही है। सत्य का साक्षात्कार दर्शन है, तो सत्य का पालन और आचरण धर्म। सत्य ज्ञान, शुभ, शिव, आलोक, अभय और अमृत का मार्ग है, तो असत्य, अज्ञान, अशुभ, अमङ्गल, अन्धकार, भय और मृत्यु का। अतः वेदों में सर्वत्र मन-वचन और कर्म से सत्यव्रती होने पर बल दिया गया है। निघण्टु में जल का एक नाम सत्य है।[3] स्वच्छ निर्मल जल का वहन करती हुई नदियाँ सत्य का ही सन्देश देती हैं -

ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान ।[4]

ऋग्वेद की ऋषिकाएँ 'नदियाँ' ऋषि विश्वामित्र के माध्यम से मानवमात्र के लिये वचनों को कभी-भी मिथ्या न करने की चेतावनी देती हैं -

एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठा ।[5]

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति को और विद्वान व्यक्ति को सर्वदा सत्य बोलना चाहिये क्योंकि यह सत्य ही उसका रक्षक होता है; असत्य उसका घातक -

दीक्षितेन सत्येमेव वदितव्यम् । विदुषा सत्यमेव वदितव्यम् ।[6]
अवत्येनं सत्यमनृतं हिनस्ति ।[7]

---

1. निरुक्त 3.13
2. ऋग्वेद 10.85.1
3. निघण्टु 1.12.71
4. ऋग्वेद 1.105.12
5. ऋग्वेद 3.33.7
6. ऐतरेय ब्राह्मण 1.1.6 ; 5.2.9
7. ऐतरेय ब्राह्मण 4.1.1

असत्य वाणी का छिद्र है, जिससे समस्त सारतत्व गिर जाने से वाणी नि:सार और निष्फल हो जाती है -

एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम् ।[1]

सत्यकाम की माता जबाला ने सत्यकाम को सत्य बोलने की ही शिक्षा दी थी। अपने सत्य वचन और व्यवहार से ही वे ब्रह्मविद्या के अधिकारी हुये थे। मानवीय विश्वास, श्रद्धा, आस्था और कर्ममय जीवन का आधार सत्य ही है; क्योंकि विजय सत्य की ही होती है, असत्य की नहीं -

सत्येव जयते नानृतम् ।

4. श्रद्धा

श्रद्धा को जीवनमूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है - ब्रह्मवादिनी श्रद्धा ने। श्रद्धा एक हृदयगत पवित्र भाव या मानस सङ्कल्प है। यह धारणात्मिका शक्ति है क्योंकि यह शब्द श्रुत अथवा 'श्रत्' उपपद पूर्वक 'धा' धातु से निष्पन्न है।[2] किसी भी सत्कर्म की सिद्धि या पूर्णता श्रद्धा से ही सम्भव होती है। विना श्रद्धा के किये गये यज्ञ या दिया गया दान सभी कुछ निष्फल हो जाता है। यज्ञ और दान का आधार श्रद्धा ही है -

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां हृदय्याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥[3]

श्रद्धा का सम्बन्ध सत्य से है। श्रद्धा विश्वास और आस्था का पर्याय है। ऐतरेय ब्राह्मण में श्रद्धा और सत्य के सम्बन्ध को एक सुन्दर रूपक के माध्यम से रेखाङ्कित किया गया है-

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः । श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम् । श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लोकान् जयतीति ।[4]

श्रद्धा शुभ और शिव के लिए मानसिक तैयारी और कार्य की निष्पत्ति में मन का सहयोग है। सत् के संवर्धन और असत् के विनाश में यह प्रतिफलित होता है, अत: देवता चिरन्तन काल से ही असुरों के विनाश में श्रद्धा रखते आये हैं -

---

1. ताण्ड्य ब्राह्मण 8.6.12
2. (1) श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि। ऋग्वेद 10.125.4
   (2) श्रद्धा श्रद्धानात्।(श्रत +धा) निरुक्त 9.30
3. ऋग्वेद 10.151.1,4
4. ऐतरेय ब्राह्मण 7.10

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।[1]

वैदिक परम्परा का अनुकरण करते हुये ही गीता में कहा गया है -

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् ।

श्रद्धा से किये गये कार्य ही सफल होते हैं, अश्रद्धा से किये गये निष्फल ; उनका फल न तो इस लोक में मिलता है और न ही परलोक में -

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥[2]

5. सुमति

सुमति का सामान्य अर्थ है - शुभ या सद् बुद्धि। प्राणिजगत् में; मानव को सर्वोत्तम बनाने में; इस बुद्धि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। समस्त ज्ञान, बोध, स्मृति और विचारों का आधार बुद्धि ही है। मति शब्द मन् धातु से निष्पन्न है -

मतयः मन्यते । ज्ञायन्तेऽस्मादर्थाः ।[3]

मनुष्य की वाणी मति का ही प्रतिरूप है -

वाग्वै मतिर्वाचा हीदँ सर्वं मनुते ।[4]

मनुष्य के समस्त विचार, सङ्कल्प और कर्म मति से ही अनुशासित एवं सञ्चालित होते हैं; अतः ऋग्वेद की ऋषिका घोषा 'सुमति' के लिए प्रार्थना करती हैं -

आ वामगन् त्सुमतिः ।[5]

---

1. ऋग्वेद 10.151.3
2. भगवद्गीता 17.28
3. निघण्टु 3.15.22
4. शतपथ ब्राह्मण 8.1.2.7
5. ऋग्वेद 10.40.12

सुमति ही मनुष्य को उदात्त जीवन एवं लोककल्याण के मार्ग पर चलने हेतु अभिप्रेरित करती है। सुमति ही बुद्धि को पवित्र करती है ।[1] अत: परिवार की धुरी बनकर आई हुई नववधू के सुन्दर मन और शिवकामा होने की प्रार्थना एवं आकाँक्षा की गई है -

शिवा पशुभ्य: सुमना: सुवर्चा: ।
वीरसूर्देवकामा स्योना .... ।।[2]

सुमति के विपरीत 'दुर्मति' अभ्युदय के मार्ग में स्थाणु के समान बाधक होतीहै, अत: दुर्मति को नष्ट करने की प्रार्थना घोषा करती हैं ।[3]

6. सूनृत

प्रिय एवं सत्य वाणी 'सूनृत' है - सूंश्च तद्दतञ्च सूनृतम् प्रियं च सत्यं च ।[4] सूनृत वैदिक युग का एक विशिष्ट पारिभाषिक पद है, जो वाणी का विशेषण बनकर आया है । ऋग्वेद की अनेक प्रार्थनाएँ सूनृत के लिये हैं। घोषा अश्विनी देवों से प्रार्थना करती हैं कि वे उनके सूनृत को अभिप्रेरित करें -

चोदयतं सूनृता: पिन्वतं धिय ।[5]

प्रात:काल द्युलोक से पृथिवीतल पर अवतरित होती हुई उषा सूनृत की प्रेरक मानी गई हैं ।[6] मधुर सत्य वाणी वाङ्मय तप है; जो सामाजिक साम्मनस्य, सद्भावना और सुख-शान्ति का आधार है । आपसी कलह, विद्वेष, मानसिक पीड़ा और अशान्ति; कटु-असत्य वाणी के कारण भी होते हैं। अत: श्रुति एवं उनका अनुसरण करने वाली स्मृति 'सूनृत' को जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार करती है। इसके साथ ही असत्य प्रिय बोलने का निषेध भी करती है -

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म: सनातन: ।।[7]

---

1. शुचिर्धिया पवते। ऋग्वेद 9.86.13
2. ऋग्वेद 10.85.44
3. स्थाणुं पथेष्ठां दुर्मतिं हतम्। ऋग्वेद 10.40.13
4. निघण्टु 1.8.14
5. ऋग्वेद 10.39.2
6. उषो देव्यमर्त्या.... सूनृता ईरयन्ती। ऋग्वेद 3.61.2
7. मनुस्मृति 4.138

वाणी की शक्ति और सार्थकता शुभ, प्रिय और सत्य के कथन में थी, अतः अशिव, असत्य और अशुभ को 'अवद्य' (न बोलने योग्य)कहा जाता था।[1]

7. सुकृत

'सु' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'सुकृत' का अर्थ है - किये गये श्रेष्ठ-शुभ कर्म। यह पृथ्वी एक कर्मभूमि है, जिसमें जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त किये गये शुभाशुभ कर्म ही उसकी नियति अथवा अदृष्ट के निर्धारक होते हैं। इसी के साथ सम्बद्ध है पाप और पुण्य की अवधारणा। सुकृत मानव के लिये पुण्य का वाहक होता है, तो दुष्कृत अपुण्य या पाप का।

ऋषिकाओं के अनुसार सृष्टि के सञ्चालक नियमों का अनुपालन, मन्त्र-श्रुति के अनुसार आचरण, देवों के लिए श्रद्धापूर्वक यजन, दीनदुखियों और आर्तों की सहायता[2], लोकोपकार, दान-दक्षिणा, सत्य व्यवहार, सजग भाव से गृहस्थ धर्म का पालन, सम्पत्ति का विभाजन-पूर्वक उपभोग, सदाचार और तप 'सुकृत' कहे जाते हैं और श्रेष्ठ फलों को देने वाले होते हैं।

यद्यपि मानव का सम्पूर्ण जीवन ही 'सुकृत' के लिये है तथापि गृहस्थाश्रम को विशेष रूप से 'सुकृत का लोक' कहा गया है-

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि।[3]

गृहस्थ ही वित्तीय संसाधनों के उपार्जन एवं वितरण से अन्य तीनों आश्रमों को धारण करता है। वस्तुतः गृहस्थ जीवन सृष्टि की सनातनता के लिये कर्तव्यों और दायित्वों की एक सुदीर्घ परम्परा है।

सुकृत की योनि ऋत है। दिव्य तत्वों द्वारा अनुपालित ऋत मानव को सुकृत और कर्तव्य की प्रेरणा देते हैं, दुरित, पाप और भय से मुक्त रखते हैं -

नांहो अश्नोति दुरितं नकिर्भयम्।[4]

सुकृत एक अनर्ह जीवन मूल्य है अतः अंहस् (पाप, दुष्कृत) से पृथक् रखने की प्रार्थना वैदिक ऋषिकाओं द्वारा की गई है -

---

1. ऋग्वेद 4.18.7
2. ऋग्वेद 10.39.2
3. ऋग्वेद 10.85.24
4. ऋग्वेद 10.39.11

अंहो युयोधि नः ।[1]

8. दान या दक्षिणा

ऋग्वेद का दक्षिणा सूक्त जीवनमूल्य के रूप में दक्षिणा पर विशेष बल देता है। यद्यपि दक्षिणा पुरोहित को दिये जाने वाले दान की संज्ञा है तथापि इस सूक्त में दक्षिणा शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में हुआ है। दक्षिणा का आधार लोककल्याण, समाजवाद या सामाजिक न्याय है,जिसके अनुसार मानव-मात्र को जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने और एक सुखी-सन्तुष्ट जीवन जीने का अधिकार है। सूर्य, जल और वायु ; जैसे किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं हैं, उसी प्रकार पृथिवी का धन भी किसी की निजी सम्पत्ति नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रतिभा या कौशल से अधिक सम्पत्ति अर्जित करता है या समाज व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य आदि वित्तीय साधनों का सञ्चालक होता है, तो उसका धर्म (कर्तव्य) है कि वह ऐसे लोगों में उस धन का वितरण करे, जो धन के उत्पादक नहीं हैं। समाज के विभिन्न अनुत्पादक वर्गों में धन के वितरण की व्यवस्था ही 'दक्षिणा' है।

ऋग्वेद में दक्षिणा देने वाले दाताओं की संज्ञा 'भोज' है। ऐसे दानशील भोज दान से अमर हो जाते हैं। इस सुकृत के प्रतिफल-स्वरूप उन्हें तीनों लोकों की श्रेष्ठ वस्तुयें प्राप्त होती हैं। दक्षिणा की महिमा को जानने वाले विद्वान दक्षिणा का उपयोग दुष्कृत, पाप, अनिष्ट, अमङ्गल और मृत्यु से बचाने वाले कवच के रूप में करते हैं -

आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ॥[2]

वस्तुतः दक्षिणा लोकाराधन का माध्यम है -

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः ....यः प्रथमो दक्षिणया रराध ।[3]

दक्षिणा ; जीवनमूल्य के रूप में दाता को ऋषित्व और ब्रह्मत्व प्रदान करती है, अतः वैदिक संस्कृति में दाता या राधस् की प्रशंसा और अराधस् अदाता की निन्दा की गई है।[4]

वैदिक यज्ञसंस्था के लुप्त हो जाने पर; मनु ने कलियुग के लिए ; दान को ही परम धर्म माना है -

---

1. ऋग्वेद 19.104.6
2. ऋग्वेद 10.107.7
3. ऋग्वेद 10.105.6
4. ऋग्वेद 10.60.6

दानमेकं कलौ युगे ।[1]

9. श्री या सौन्दर्य

श्री, शोभा, सुषमा , रूप आदि सौन्दर्य के पर्याय हैं। श्री एक ऐसा मूल्य है, जो जीवन को सुन्दर, रम्य, आकर्षक एवं जीने योग्य बनाता है। वैदिक आर्यों ने सम्पत्ति और समृद्धि के साथ ही श्री या सौन्दर्य की उपासना भी की थी।

श्री दो रूपों में चतुर्दिक अपनी शोभा का विस्तार कर रही है। प्रथम है - निसर्गश्री, जो दिव्य शक्तियों की विभूति के रूप में प्रकृति के कण-कण से फूट पड़ी है। वह है, अग्नि के पावन दिव्य तेज में, नदियों के निर्मल जलप्रवाह में, वनस्पतियों की सघन कोमल हरीतिमा में, उषा की स्वर्णिम आभा में, सविता देवता के उज्ज्वल आलोक में। निसर्ग का यह सौन्दर्य मानव के लिये वन्दना और श्रद्धा की वस्तु है, उपभोग की नहीं ; अत: विश्ववारा अग्नि देवता के इस पावन सौन्दर्य की वन्दना करते हुये कहती हैं -

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम् ।[2]

सृष्टि के समस्त सौन्दर्य को दृश्य बनाते हैं आलोकपुञ्ज सूर्य, अत: उन्हें 'विश्वरूप' कहा गया है।

श्री का द्वितीय रूप है - मानव सौन्दर्य। सूर्य के समान चमकती हुई उज्ज्वल त्वचा मानवसौन्दर्य का प्रतिमान है। इसका निदर्शन हैं - अपाला, जिन्हें कुष्ठ रोग से मुक्त करते हुये इन्द्र ने 'सूर्यत्वक्' बनाया था।[3]

ऋषिकाओं की दृष्टि में रूप दर्शन और आनन्द के लिये है, जैसा कि विवाह के अवसर पर सूर्या का रूप -

सूर्यायाः पश्य रूपाणि ।[4]

सुन्दर का सम्बन्ध शिव से है। सुन्दर रूप के साथ ही सुन्दर मन, वाणी, शिव सङ्कल्प, सुन्दर विचार, सुयश और सुकृत को; वैदिक संस्कृति ने आदर्श के रूप में वरण किया था। इन समस्त गुणों से सम्पन्न सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी 'श्री' हैं। ऋग्वेद का श्री सूक्त वैदिक आर्यों की सौन्दर्य दृष्टि का प्राचीनतम साक्ष्य है।

---

1. मनुस्मृति 1.86
2. ऋग्वेद 5.28.4
3. ऋग्वेद 8.80.7
4. ऋग्वेद 10.85.35

10. श्रम

श्रम शरीर का तप है। कर्ममय जीवन और पुरुषार्थ श्रम से ही साध्य होते हैं। श्रम को जीवनमूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है, ब्रह्मवादिनी लोपामुद्रा ने। पति और परिवार के लिये, सूर्य की प्रथम किरण से लेकर रात्रि की नि:स्तब्धता तक श्रम करते हुये, उन्होने अपने समग्र जीवन को श्रममय बनाया था। स्वयं उन्हीं के शब्दों में -

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषावस्तोरुषसो जरयन्तीः।[1]

वैदिक अवधारणा के अनुसार देवता भी उसी की सहायता करते हैं, जो श्रम करता है -

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ॥[2]

श्रम की शिक्षा तो स्वयं प्रकृति देती है। नदियाँ विना थके, विना रुके, समुद्र की ओर प्रवाहित होते हुये 'चरैवेति' का महान आदर्श प्रस्तुत करती हैं। स्वयं नदियाँ अपने इस व्रत का उल्लेख करती हुई कहती हैं -

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।[3]

ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप आख्यान में कर्मनिष्ठ जीवन और पुरुषार्थ के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये कहा गया है - जो व्यक्ति बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठ जाता है, जो व्यक्ति चलता रहता है, उसका भाग्य भी चलता है। सूर्य के श्रम को देखो, जो कभी चलते हुये आलस्य नहीं करता -

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति ॥[4]

आर्यों ने अपने श्रम से ही एक विश्ववरणीय संस्कृति का निर्माण किया था।

11. सख्य, मैत्री या बन्धुत्व

सखा का भाव 'सख्य' है।[5] समान 'ख्या', ज्ञान, बुद्धि, विचार और मन वाले लोग सख्य भाव को प्राप्त कर परस्पर सखा बनते हैं। सखा के लिये अन्य बहुप्रयुक्त पर्याय हैं - 'बन्धु' अर्थात् बाँधने वाला।

---

1. ऋग्वेद 1.179.1
2. ऋग्वेद 4.33.11
3. ऋग्वेद 3.33.4
4. ऐतरेय ब्राह्मण 3.3.1
5. सखायः समानख्यानाः। (सम्+ख्या) निरुक्त 7.30, 13.13

बन्धु का भाव; बन्धुत्व मनुष्य को स्नेह के कोमल किन्तु स्निग्ध तन्तु से परस्पर दृढ़ता के साथ बाँधे रखता है। यही वह भाव है, जो सूत्र बनकर नाना धर्म, भाषा, देश और सभ्यताओं को एक साथ गूँथ कर एक सुन्दर माला का रूप देता है। पति-पत्नी, आत्मीय स्वजन, परिवार, समाज और राष्ट्र इसी मैत्री के बन्धन में बँधकर एक साथ मिल कर अभ्युदय की ओर अग्रसर होते हैं।

वैदिक ऋषिकाएँ जीवनमूल्य के रूप में इस सख्य भाव को विशेष महत्त्व देती हैं। सिकता निवावरी के अनुसार सख्य लोकमङ्गल का साधक है, अत: मनीषी विद्वान् इन्द्र और वायु के सख्य के लिये सोम का मधुर रस प्रदान करते हैं, क्योंकि दोनों की मैत्री ही इस पृथिवी पर वर्षा अर्थात् जीवन का आधार है -

मधुक्षरद्रिन्द्रस्य वायोः सख्याय कर्तवे ।[1]

शिखण्डिनी काश्यपी के अनुसार मैत्री एक अमूल्य सम्पदा है। वह निर्धन को धनवान् और असहाय को ससहाय बनाती है। मित्र ही मित्र का मार्गदर्शक बनकर व्यक्ति को सत्यमार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करता है, वह रक्षाकवच बनकर अमङ्गल, अशुभ और आसुरी शक्तियों से रक्षा करता है, अत: ऋषिका पावन सोम से सुदृढ़ (सनेमि) मैत्री की अभिलाषा करती हैं -

सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव ।
सनेमि कृधि.....अपादेवं द्वयुमंहो युयोधि नः ॥[2]

सच्चे मित्र का कार्य है, अंहस् से, पापाचरण से मित्र को विमुख करना, गिरे हुये को उठाना तथा सदाचार में प्रवृत्त करना। सख्य है - मन, बुद्धि और कर्म से सदा साथ होना - **सखाय आ निषीदत पुनानाय प्र गायत ।**[3]

भाई-बहन[4] और पति-पत्नी के मध्य मधुर सम्बन्ध का आधार भी सख्य ही है - **सखा ह जाया ।**[5] सम्मनस्य और सामरस्य का प्रतिमान सख्य ही है ।[6]

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श सख्य और बन्धुत्व से ही सिद्ध होता है।

---

1. ऋग्वेद 9.86.20
2. ऋग्वेद 9.104.5-6
3. ऋग्वेद 9.104.1
4. ऋग्वेद 10.10.1
5. ऐतरेय ब्राह्मण 33.1
6. ऋग्वेद 9.104.15

12.यम

यम आत्मनियन्त्रण या आन्तरिक अनुशासन है। यह वह जीवन मूल्य है, जो जीवन को नियन्त्रित और मर्यादित करते हुये सांसारिक प्रलोभनों, विषय-वासनाओं और दुर्व्यसनों से मनुष्य को बचाता हुआ एक सुसंस्कृत आदर्श समाज की रचना में सहायक होता है। योग के आठ अङ्गों में प्रथम है - यम। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम के प्रमुख अङ्ग हैं, जिनसे एक सहअस्तित्व सौहार्दपूर्ण समाज का निर्माण होता है।

यम को जीवनमूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हुये विश्ववारा अग्निदेवता से प्रार्थना करती हैं-

सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महाँसि।[1]

'हमारे जास्पत्य (पति-पत्नी सम्बन्ध) को सुदृढ़ करें। हमें काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं से लड़ने, उन पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करें।'

जीवन में 'काम' संज्ञक पुरुषार्थ के अर्जन का माध्यम है संयमपूर्ण गार्हपत्य जीवन। जास्पत्य की पूर्णता यम या संयम में है, स्वच्छन्दता या उच्छृङ्खलता में नहीं।

13. भद्र - शुभ - शिव

वैदिक संस्कृति के अनुसार जीवन में जो कुछ भी श्रेष्ठ, शिव, शुभ भद्र या मङ्गलमय है, वही मानवजीवन के लिये अनर्ह, वरणीय या मूल्यवान है। यह सृष्टि एक द्वन्द्व है - सत्-असत्, शुभ-अशुभ, सुख-दुःख, श्रेय-प्रेय, नश्वर-अनश्वर, मृत्यु और अमृत का द्वन्द्व। संस्कृति का कार्य संस्कार, परिमार्जन और परिशोधन है, अनगढ़ को तराश कर उज्ज्वल रत्न बनाना है; अतः वैदिक संस्कृति सर्वदा से ही श्रेष्ठ-शोभन के वरण पर बल देती है। वैदिक ऋषिकाओं के सूक्तों में 'सु' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त ऐसे असंख्य शब्द - सुवासाः, सुमनाः, सुवर्चाः, सुवीर्यम्, सुपुत्रा, सुभगा, सुचक्रम्, सुवृत्तम्, सुकिंशुकम्, सुदिनम्, सुषुतिम्, सुप्रपाणम्, सुमतिः, स्वशनम्, सुमङ्गली, सुकृतम्, स्वायुधः, सुपाणिः, स्वस्ति, सुभद्रम् आदि अच्छाई के प्रति उनकी उत्कट आकाँक्षा एवं प्रतिबद्धता को सूचित करते हैं।

इस धरती पर एक सुन्दर सुखमय जीवन को सम्भव बनाने वाले जीवनमूल्य वैदिक संस्कृति की विश्व-संस्कृति को शाश्वत देन हैं। जब अन्धकार बहुत घना हो, जीवन की राह न सूझती हो; तब ये जीवनमूल्य ही ज्ञानमय प्रदीप बनकर हमारे अन्तस् को आलोकित करते हैं -

विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।[2]

---

1. ऋग्वेद 5.28.3
2. ऋग्वेद 10.107.1

सन्दर्भ-ग्रन्थ

संस्कृत ग्रन्थ

अथर्ववेदसंहिता - सं.पं. रामस्वरूप शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1977

अथर्ववेदीया

बृहत्सर्वानुक्रमणिका - पं. रामगोपाल शास्त्री, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, 2000

अर्थशास्त्रम् - कौटिल्य, सं. वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2000

आर्षानुक्रमणी - आचार्य शौनक, सं. उमेशचन्द्र शर्मा, अलीगढ़, 1982

ईशावास्योपनिषद् - सं. डॉ. शशि तिवारी, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1997

ऋग्वेदसंहिता - अनु. पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1911

ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी - कात्यायन, सं. उमेशचन्द्र शर्मा, अलीगढ़, 1977

एकादशोपनिषद् - डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, विजयकृष्ण लखनपाल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

ऐतरेय ब्राह्मण - सं. डॉ. सुधाकर मालवीय, प्राच्य भारती ग्रन्थमाला - 15, तारा प्रिण्टिङ्ग वर्क्स, वाराणसी, 1986

ऐतरेयारण्यकम् - आनन्दाश्रम, पूना, 1943

ऐतरेयोपनिषद् - डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, विजयकृष्ण लखनपाल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966

कामसूत्रम् - वात्स्यायन, सं. देवदत्त शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं. 2017

काव्यप्रकाशः - आचार्य मम्मट, सं. डॉ. नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं. 2017

कुमारसम्भवम् - कालिदास, सं. सूर्यकान्त, साहित्य अकादेमी, दिल्ली, 1982

कौषितकिब्राह्मणम् - सं. बी. लिण्डनर, 1887

छान्दोग्योपनिषद् - गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2056

तैत्तिरीयारण्यकम् - आनन्दाश्रम, पूना, 1897

तैत्तिरीयब्राह्मणम् - सायणभाष्यसहित, आनन्दाश्रम, पूना, 1838

नाट्यशास्त्रम् - भरतमुनि, सं. बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं. 2057

निरुक्तम् - यास्क, सं. उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि', चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1995

निरुक्तम् - सं. म.म.पं. मुकुन्द झा बक्शी, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1989

पाणिनीय

धात्वनुक्रमकोष - अवनीन्द्र कुमार, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2009

बृहदारण्यकोपनिषद् - गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2056

बृहद्देवता - आचार्य शौनक, सं. रामकुमार राय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं. 2046

भगवद्गीता - गीता प्रेस, गोरखपुर

मनुस्मृति - चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ ऑफ़िस, वाराणसी, सं. 2021

मालविकाग्निमित्रम् - कालिदास, कालिदासग्रन्थावली, सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी, 1976

रघुवंशम् - कालिदास, कालिदास ग्रन्थावली, सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1976

विक्रमोर्वशीयम् - कालिदास, सं. प्रो. एच. डी. वेलनकर, साहित्य अकादेमी, दिल्ली, 1981

विद्धशालभञ्जिका - राजशेखर, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1969

वैदिक निघण्टुसंग्रहः - डॉ. धर्मवीर विद्या भारती, प्राच्यविद्या अनुसंधान केन्द्र, नई दिल्ली, 1989

शतपथब्राह्मणम् - एशियाटिक सोसायटी, बङ्गाल, कलकत्ता, 1903-11

शुक्लयजुर्वेदसंहिता - सं. डॉ. रामकृष्ण शास्त्री, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1991

शुक्रनीतिः - शुक्राचार्य, सं. ब्रह्मशरण मित्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2056

श्रीमद्भागवतम् - गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2060

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणम् - गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2056

सङ्गीतरत्नाकरः - शार्ङ्गदेव, सं. पं. एस. सुब्रह्मण्य शास्त्री, अड्यार लायब्रेरी, 1944 ई.

हिन्दी ग्रन्थ

अथर्ववेद का सामाजिक अध्ययन - निवेदिता पन्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 2007

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य - श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 2000 ई.

आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश - मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1969

आर्य एवं आर्यसंस्कृति - सोती वीरेन्द्र चन्द्र, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 1998

आर्यों का आदिदेश - डॉ. सम्पूर्णानन्द, सं. 2012

उपनिषदों का सन्देश- डॉ. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2003

उपनिषद् युगीन संस्कृति - डॉ . वेदवती वैदिक, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003

ऋग्वेद का सुबोध भाष्य - श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 2000 ई.

ऋग्वैदिक आर्य - राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1957

गङ्गा-पुरातत्वाङ्क - जनवरी 1933

प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति - प्रभुदयालु अग्निहोत्री, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 2000

ब्राह्मण ग्रन्थों में आचार दर्शन - डॉ. प्रज्ञा पाण्डेय, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

भारतीय परम्परा के मूल स्वर - डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1993

भारतीय संस्कृति - डॉ. किरण टण्डन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 2006

वेदों एवं पुराणों में आर्य एवं जनजातीय संस्कृति - स्कौलिस्टिका कुजूर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 2009

वेदविज्ञानश्री: - सं. उर्मिला श्रीवास्तव, आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद, 2002

वैदिक इण्डैक्स - ए. ए. मैक्डोनल एवं ए. बी, कीथ, अनु. रामकुमार राय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सं. 2018

वैदिक दर्शन - जयदेव विद्यालङ्कार, भारतीय विद्याभवन, वाराणसी, 1991

वैदिक देवता दर्शन - प्रभुदयालु अग्निहोत्री, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 1992

वैदिक परिशीलन - वीणापाणि पाटनी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 2004

वैदिक माइथोलॉजी - ए. ए. मैक्डोनल, अनु. रामकुमार राय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1984

वैदिक वाग्धारा - प्रद्युम्न कुमार शास्त्री, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, 1993

वैदिक वाङ्मय-
एक झलक - किरीट जोशी, स्टैण्डर्ड पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003

वैदिक वाङ्मय
में नारी - डॉ. सुषमा शुक्ला, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2002

वैदिक शब्दार्थ
विमर्श - डॉ. रघुवीर वेदालङ्कार, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 2007

वैदिक शिक्षामीमांसा- डॉ. भास्कर मिश्र, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 1993

वैदिक संस्कृति और
उसका सातत्य - सीताराम दुबे, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

वैदिक साहित्य
और संस्कृति - आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, 1998

वैदिक साहित्य में
समाजवाद - आचार्य पुष्पेन्द्र कुमार, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली, 2004

हिन्दू सभ्यता - राधाकुमुद मुखर्जी, अनु. वासुदेव शरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990 ई.

* * *

BOOK
EASTERN EBL LINKERS

Eastern Book Linkers
(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)
H.O.: 5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007 Ph.: 23850287, 09811232913
Showroom : 4806/24, Bharat Ram Road,
Ansari Road, Darya Ganj, Delhi-110002
Phone : 23285413
e-mail : eblindology@gmail.com
e-mail : ebl@vsnl.net
website : www.eblindology.com

ISBN 81-7854-233-1
9 788178 542331